प्रेमचन्द : एक अध्ययन

[जीवन, चिन्तन और कला]

राजेश्वर गुरु

प्रेमचन्द : एक अध्ययन

[जीवन, चिन्तन और कला]

राजेश्वर गुरु, एम० ए०, पी० एच० डी०
अध्यक्ष : हिन्दी-विभाग
राजकीय हमीदिया कालेज, भोपाल

१९५८
मध्य-प्रदेशीय प्रकाशक-समिति
जुमेराती गेट, भोपाल

जो नहीं रहा

उसकी अशेष स्मृतियों को

आभार

लेखक विगत भोपाल राज्य के मुख्य मंत्री एवं वर्तमान मध्यप्रदेश के शिक्षा मंत्री डॉ० शंकरदयाल शर्मा का आभारी है, जिनकी सतत प्रेरणा बिना यह प्रबंध संभवतः इतने शीघ्र पूरा न हो पाता।

लेखक प्रो० रमेशदत्त पाठक, जबलपुर, डॉ० केशरीनारायण शुक्ल, लखनऊ एवं डॉ० श्रीकृष्णलाल, बनारस के सत्परामर्शों से लाभान्वित हुआ है।

लेखक आवरण-शिल्पी श्री सुशील पाल एवं प्रकाशक बन्धुओं का आभारी है कि इन्होंने पुस्तक की बाह्य सज्जा कलात्मक बनाने में संलग्नतापूर्ण प्रयत्न किया है।

प्रेमचन्द-निधन-तिथि
(८ अक्टूबर १९५८)
भोपाल

स्पष्टीकरण

प्रेमचन्द का यह अध्ययन मेरे अनेक वर्षों की साधना का परिणाम है जिसमें मैंने प्रेमचन्द का अत्यन्त वस्तुपरक चित्र अंकित करने का विनम्र प्रयास किया है। यह मैं पहले ही स्पष्ट कर दूँ कि प्रेमचन्द के सम्बन्ध में मैं कोई पूर्व-निर्मित धारणाएँ लेकर नहीं चला हूँ। प्रेमचन्द के जीवन, चिन्तन और साहित्य-क्रम को आत्मीयता से परखकर उनके सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व को समझने का आग्रह मात्र इन पृष्ठों में प्रतिफलित मिलेगा। यह सत्य है कि इस अध्ययन के क्रम में मैं किन्हीं निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, लेकिन ये निष्कर्ष आत्मीय अध्ययन के स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप हैं, उनके प्रति किसी प्रकार का रागात्मक भाव मेरे अपने मन में नहीं है।

मैं समझता हूँ कि यदि इतना भी काम मैंने सतर्कता के साथ कर लिया है, तो पर्याप्त है। मुझे अपने अध्ययन के प्रसंग में जान पड़ा कि इस प्रकार मैं प्रेमचन्द के प्रति अधिक सहृदय हो सकता हूँ। इस प्रकार की सहृदयता प्रेमचन्द के प्रति मेरे विमोह की द्योतक नहीं है, केवल उचित दृष्टि-निक्षेप के परिणाम-स्वरूप है। इस प्रकार की सहृदयता समालोचन के लिए आवश्यक भी है।

इस स्पष्टीकरण के साथ मैं अपना यह विनीत प्रयास सुधीजनों के समक्ष अत्यन्त संकोच के साथ रख रहा हूँ।

प्रेमचन्द-जयन्ती **राजेश्वर गुरु**

८ अक्टूबर १९५८

प्रवेश : अपना दृष्टिकोण

प्रेमचन्द ने कहा है, "जनता को उठानेवाला जब मिट जाता है, तभी वह सम्मान पाता है।"[1] इसका कारण है। जनता को उठानेवाला जनता से आगे की सोचता है, उस पर विश्वास करता है, उस पर अमल करता है। लेकिन जनता की दृष्टि तो इतने आगे की देख नहीं पाती, इसलिए जनता अपने उन्नायक पर हँसती है, उसकी आलोचना करती है, उसकी बात काटती है, उसके विश्वास को पाखंड कहती है और आदर्श को कमज़ोरी। कोई बिरला ही होता है, जो अपने जीवन-काल में जन-प्रियता हासिल कर पाता है, अन्यथा सच्चा उन्नायक मरने के बाद देवता बनता है--चाहे वह ईसा हो, चाहे गांधी। जनता क्रान्तिद्रष्टा और क्रांतिस्रष्टा उन्नायक को, युग की गति के साथ कदम न रखकर, आगे बढ़कर रास्ता दिखाने की सज़ा अपनी विरक्ति से देती है। प्रेमचन्द के साथ भी यही मुश्किल थी कि उन्होंने अपने युग से आगे की बात कही। राजनीति और साहित्य के क्षेत्र का यह दुर्भाग्य था कि जिस समय प्रेमचंद जागकर भैरवी गुनगुना रहे थे, उस समय इन दोनों क्षेत्रों में वह रात्रि का तीसरा प्रहर था। इसलिए यद्यपि प्रेमचन्द के स्वर ने सामान्य जनता के मन की बात कही, देश के नेताओं और हिन्दी के साहित्यिकों ने उसे अनसुना कर दिया। इसीलिए प्रेमचन्द के जीवन-काल में उनका उचित मूल्यांकन नहीं हो सका।

प्रेमचन्द की प्रारंभिक कहानियों को पाठकों ने बड़े चाव से पढ़ा था। सन् १९१५-१६ में पहले उनकी कहानियों के दो संग्रह "सप्त सरोज" और "नव-निधि" और फिर उपन्यास "सेवासदन" निकले। पद्मसिंह शर्मा और प्रोफेसर रामदास गौड़ ने 'सेवासदन' की बड़ी "लम्बी, मार्मिक और सरल" आलोचना की है। बाद में प्रोफेसर रामदास गौड़ ने "प्रेमाश्रम" के सम्बन्ध में भी लिखा। यह परिचयात्मक-प्रशंसात्मक ढंग का लेख था, जो 'प्रेमाश्रम' की भूमिका के रूप में लिखा गया था। रामदास गौड़ ने लिखा है, "प्रसिद्ध उपन्यासकार शरतबाबू ने अपनी मातृभाषा की गौरव-रक्षा का पूरा विचार रखते हुए दबती जुबान से कहानियाँ लिखने में, स्वभाव-चित्रण में रवीन्द्र ठाकुर से हमारे प्रेमचन्दजी की तुलना कर डाली है।"[2] आगे प्रेमचन्द की तुलना बंकिम बाबू से करते हुए प्रोफेसर गौड़ लिखते हैं, "बंकिम बाबू के उपन्यास जिन्होंने बंगला में पढ़े हैं, इस बात में मुक्त कंठ से हमारा समर्थन करेंगे कि 'प्रेमाश्रम' में अनेक स्थलों में मानसिक विकारों की तसवीर खींचने में प्रेमचंदजी बंकिम बाबू से कहीं आगे बढ़ गये हैं। साथ ही बंकिम बाबू की शैली जहाँ बंगला के शब्द-बाहुल्य से भरी है, वहाँ प्रेमचन्दजी ने अपने "अर्थ अमित अरु आखर थोरे" लिखने का मार्ग बहुत प्रशस्त कर

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ २०४.
२. प्रे० अनु०

डाला है। इनका ढंग विशेषतः अपना है।"[१] 'प्रेमाश्रम' का परिचय इन शब्दों में है, "बिना लिखे साहित्य का भावी इतिहास-लेखक जब भारतीय उपन्यासों की चर्चा करेगा, उसे किसानों के जीवन की सच्ची फोटो खींचने का श्रेय प्रेमचन्द को देना होगा। प्रेमचन्द यद्यपि असहयोगी हैं, तथापि विपक्ष के भावों के दरसाने में पक्षपात से काम नहीं लिया है। प्रेमचन्द मनोविकारों के सच्चे इतिहासकार हैं। उन्होंने अपने पात्रों का आदर्श रूप नहीं दिया है। साधारण जीवन में जैसे गरीब, अमीर, जमींदार, किसान, हुक्काम, प्रजा का सम्बन्ध होता है, जैसी वास्तविक, शारीरिक और मानसिक स्थिति होती है, उसका सच्चा रूप दिखाया है।"[२]

प्रेमचन्द की ओर पाठकों की बड़ी संख्या का ध्यान सन् १९१६ के आसपास आकर्षित हो गया था, और सन् १९२० के आसपास उनके सम्बन्ध में आलोचकों ने लिखना प्रारंभ कर दिया था। प्रेमचन्द को हिन्दी में लाने का श्रेय मन्नन द्विवेदी गजपुरी और हनुमान प्रसाद पोद्दार को है, उन्हें हिन्दी के सामने उपस्थित करने का श्रेय रामदास गौड़ को है। उस युग में शरच्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र के अनुवादों की हिन्दी में बड़ी धूम थी और पाठकों के सामने प्रेमचंद को इन कलाकारों के समकक्ष रखकर रामदास गौड़ ने अनायास ही उनके प्रति आकर्षण पैदा करा दिया। शायद रामदास गौड़ जैसे प्रशंसकों को लक्ष्य करके प्रेमचंद ने लिखा था कि "मित्रों ने मुझे आसमान पर भी चढ़ा दिया।"[३]

सन् १९२० तक प्रेमचन्द-साहित्य आलोचना का विषय हो गया था। हिन्दी के मशहूर रिसाला "सरस्वती" में "बाजारे-हुस्न" पर निकले हुए एक मुफस्सिल तब्सरे के बारे में प्रेमचन्द ने ज़िक्र किया है। तब से सन् १९२८-२९ तक उनके सम्बन्ध में स्फुट आलोचनाएँ निकलीं। फिर गम्भीर विचारकों ने लिखना प्रारम्भ किया। अवध उपाध्याय और इलाचन्द्र जोशी उस समय के उनके दो आलोचक हैं। दोनों के मन में उस समय एक बात समान थी कि प्रेमचन्द 'सेवासदन' में जिस ऊँचाई पर पहुँच गये हैं, 'प्रेमाश्रम' में उसे छू नहीं पाये। अवध उपाध्याय ने प्रेमचंद की मृत्यु के बाद एक लेख में लिखा है, "मेरी राय में प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सेवासदन' और सर्वश्रेष्ठ कहानी-संग्रह "नवनिधि" हिन्दी भाषा में सदा अमर रहेंगे।........बात यह है कि प्रेमचन्द के सब ग्रंथों के अध्ययन के बाद मेरी समझ में यह बात आई कि 'सेवासदन' ही उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। मैं चाहता था कि प्रेमचन्दजी उसी "सेवासदन" के मार्ग का अवलम्बन करें, "रंगभूमि" और "कायाकल्प" का नहीं।"[४] इलाचन्द जोशी ने लिखा है......"सेवासदन" प्रकाशित हुआ। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में यह निर्विवाद रूप में युगान्तरकारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुन्दर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक समवेदना के साथ अभिव्यक्त की गई थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नई अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

---

१. प्रे० अनु०
२. वही
३. आ० प्रे० अं० पृष्ठ ४९
४. प्रे० अ० पृष्ठ ७८५,

"सेवासदन" प्रकाशित होने के शायद तीन--चार वर्ष बाद "प्रेमाश्रम" प्रकाशित हुआ। जब प्रेमचन्द का "प्रेमाश्रम" दीर्घ छः सौ पृष्ठ व्यापी विस्तृत तथा विशालकाय आकार में प्रकाशित होकर सामने आया, तो मैं अपने "फेवरिट" लेखक की इस नई कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढ़ने लगा। पर मुझे खेद हुआ, जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के के अनुरूप नहीं पाई। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराट रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया।"[१]

दोनों ने प्रेमचन्द-विषयक अपने दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दिये हैं। अवध उपाध्याय ने लिखा है, "जो कुछ मैंने प्रेमचन्दजी के बारे में लिखा था, वह सब शुद्ध भाव से, द्वेषवश नहीं। यह संभव है कि मैंने गलती की हो, यह भी संभव है कि मेरी राय से बहुत लोग सहमत न हों, परन्तु मैंने अपनी धारणा साफ़-साफ़ और शुद्ध हृदय से लिखी थी।"[२] "सेवासदन" और उनकी अन्य कृतियों के सम्बन्ध में अपनी निश्चित धारणा उन्होंने प्रेमचन्द को अवगत कराई। वे लिखते हैं, "मैंने उनसे (प्रेमचन्द से) भी इस सम्बन्ध में बातें कीं। परन्तु उन्हें विश्वास नहीं दिला सका। तदनन्तर मैंने खुले तौर से उनके विरुद्ध लिखकर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहा। मैं चाहता था कि प्रेमचन्दजी के विरुद्ध लिखूं और वे उसका खुलकर उत्तर दें। मैं चाहता था कि हिन्दी भाषा में स्वतंत्र समालोचना की धारा बहे। परन्तु अंत में प्रेमचन्दजी के गुणों का भी वर्णन करना चाहता था। गुण और दोष मैं दोनों दिखलाना चाहता था। हिन्दी में वह मेरा पहला लेख था, मैं तो वास्तव में पहले उनके गुणों का ही वर्णन करना चाहता था और बाद में दोषों का। परन्तु मेरे एक मित्र ने पहले दोषों का वर्णन करने के लिए उपदेश दिया और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। इसी बीच में प्रेमचंदजी बुरा मान गये और हिन्दी के कुछ लोगों ने वास्तव में यह सोचना प्रारंभ कर दिया कि मैं द्वेषवश लिख रहा हूँ। इसी बीच प्रेमचन्दजी और सहगलजी[३] मेरे पास आये और समालोचना बन्द कर देने का विचार प्रकट किया। बस, मैंने आलोचना बंद कर दी और मेरे सब विचार हिन्दी भाषा के सामने न आ सके।"[४] और इलाचन्द जोशी का स्पष्टीकरण यह है, "सेवासदन" और "प्रेमाश्रम" पढ़ने के बीच साहित्य और कला के संबंध में मेरे विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन और विवर्तन हो गया था। प्राच्य और पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उलटी-सीधी गति से तरंगित हो रही थी.....उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था। "प्रेमाश्रम" के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा।... आज मैं अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ। पर यदि विचारपूर्वक उदारदृष्टि से देखा जाय तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रान्तिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी

---

१. प्रे० अ० पृष्ठ ७८७

२. पृष्ठ ७८५

३. स्व० श्री रामरखसिंह सहगल,

४. प्रे० अ० पृष्ठ ७८५

प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने जो तहलका मचा रखा था, उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।"[१] बाद में (सन् १९२७ में) प्रेमचंद से मिलने के बाद इलाचन्द जोशी का भ्रम निवारण हो गया। वे लिखते हैं, "हम दोनों की कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धाराएँ दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई हैं। प्रेमचन्दजी वास्तविक और व्यक्त जीवन की कठोरता के भीतर आदर्शवाद के मूल प्राण की खोज करके उसे जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं और मैं अव्यक्त की अज्ञात माया की मोहिनी के फेर में पड़कर वास्तविक जीवन के अन्तराल में छिपी छायात्मिका प्रकृति के रहस्य की ओर निरुद्देश्य दौड़ा चला जा रहा हूँ।" इन दोनों आलोचकों ने प्रेमचन्द की महानता स्वीकार की है। अवध उपाध्याय ने लिखा है, "मैं विश्वास दिलाता हूँ कि प्रेमचन्दजी हिन्दी के एक बड़े लेखक थे और मैं उनके गुणों को भी भलीभाँति जानता हूँ।"[३] इलाचन्द्र जोशी कहते हैं, "पर मैं उनकी प्रतिभा के वृहद् रूप पर बराबर ज़ोर देता चला आया। मैंने उसे कभी अस्वीकार नहीं किया।"[४]

प्रेमचन्द के प्रारंभिक इन दो आलोचकों ने प्रेमचन्द के साथ बड़ा अन्याय किया। अन्याय की स्वीकृति से अन्याय का महत्व कम नहीं हो जाता। अवध उपाध्याय ने उन पर चोरी का इलज़ाम तक लगाया—'रंगभूमि' को "वेनिटी फ़ेअर" का हिन्दी-संस्करण बताया और इलाचन्द्र जोशी ने यह आरोप लगाया कि प्रेमचन्दजी स्त्री-चरित्र अंकित करने में सफल नहीं हुए। एक ने प्रेमचन्द-साहित्य को पश्चिम की नकल मात्र बताया, दूसरे ने पश्चिम के साहित्य-शास्त्र के आधार पर उसे हीन बताया, लेकिन दोनों ने प्रेमचन्द की आभा को अकारण ही ढाँकने का प्रयास किया।

आगे चलकर प्रेमचन्द के साहित्य पर आज के साहित्य-मर्मज्ञ नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि गई। उन्होंने सन् १९३२ में प्रेमचन्द के सम्बन्ध में लिखा था। अभी कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने प्रेमचन्द-सम्बन्धी उन लेखों को अपनी पुस्तक "हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी" में संग्रहीत किया है और उसकी भूमिका में प्रेमचंद को इन शब्दों के साथ याद किया है—

"द्विवेदी युग के साहित्यिकों में तीन प्रधान हैं—मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचन्द......। ये तीनों ही नीतिवादी, बुद्धिवादी और आदर्शवादी लेखक हैं, जिन्होंने मध्यवर्ग में जन्म लेकर मध्यवर्गीय पराजय के दर्शन नहीं किये थे। नवीन औद्योगिक सभ्यता की हलचल और मध्यवर्ग पर उसका अनिष्टकारी परिणाम उन पर नहीं पड़ा था, यही कारण है कि उनकी रचनाएँ व्यक्ति के "स्वरूप" और उसके महत्व को अधिक उज्ज्वल जनाकर उपस्थित करती हैं......।

"इन व्यक्तियों में भी कुछ-न-कुछ अन्तर है ही। मैथिलीशरण में भारतीय भक्त-परम्परा का प्रभाव होने के कारण भावुकता और आराधनात्मक प्रवृत्ति अधिक है। शुक्लजी

---

१. प्रे० अ० पृष्ठ ७८७
२. वही पृष्ठ ७८८
३. वही पृष्ठ ७७५
४. वही पृष्ठ ७८८

में पश्चिमी बुद्धिवादियों का असर अधिक है। प्रेमचंद का रंग-ढंग मुंशियाना, उर्दू का प्रभाव लिए हुए.........।

"प्रेमचन्द के विवेचन में मैंने उनके कला-निर्माण और उनके स्थूल बुद्धिवाद की खामियाँ दिखाई हैं।"[१]

इससे जान पड़ता है कि आज भी नन्ददुलारे वाजपेयी के मन में प्रेमचन्द के प्रति कोई अच्छी धारणा नहीं है। यहाँ प्रेमचंद के एक और आलोचक का नामोल्लेख करके हम नन्ददुलारे वाजपेयी की प्रेमचन्द-सम्बन्धी धारणाओं पर विचार करेंगे। प्रेमचन्द के अन्तिम दिनों में श्रीनाथसिंह ने प्रेमचन्द की मौलिकता पर आक्षेप किये और उनके साहित्य में घृणा का प्रचार देखा। घृणा प्रचार के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने लिखा है :—

"इन पंक्तियों के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओं में ब्राह्मणों के प्रति घृणा का प्रचार किया है।" और इस आरोप का उत्तर देते हुए वे कहते हैं, "हरेक टकापंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा सामाजिक अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह "वर्णाश्रम स्वराज्य संघ" के हथकण्डों से ज़ाहिर है। ऐसी असामाजिक, अराष्ट्रीय, अमानुषीय भावनाओं के प्रति जितनी भी धृणा फैलाई जाय, वह थोड़ी है, केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के संचालक हमारे वैसे ही भाई हैं, जैसे आलोचक महाशय के।"

मौलिकता पर आक्षेप और घृणा-प्रचार का आरोप जिस ढंग से किया गया था, उसमें तथ्य कम थे, भावुकता और उच्छ्वास अधिक। श्रीनाथसिंह की इस प्रवृत्ति से लोग इतने अधिक परिचित हो चुके हैं कि उनकी बातों को विराग से टाल देते हैं। श्रीनाथसिंह के बारे में स्वयं प्रेमचन्द ने लिखा है, " श्रीनाथसिंह मुझसे मिल चुके हैं और कितने ही मनुष्यों के बारे में ऐसी बातें कर चुके हैं कि यदि लिखूँ, तो प्रयाग में वह बहुत हल्के हो जायेंगे। लेकिन ऐसी बातें करना जितनी बड़ी नीचता है, उसका जिक्र भी करना उससे बड़ी नीचता है। इस तरह के प्रोपेगण्डे से श्रीनाथसिंह जी न साहित्य का उपकार कर रहे हैं न सरस्वती का, न अपना।"[२]

आज से कोई पच्चीस वर्ष पूर्व लिखी नन्ददुलारे वाजपेयी की आलोचना में गंभीरता का अभाव है और उसमें सर्वत्र अनुदार दृष्टिकोण-जनित व्यंगात्मकता मिलती है।

प्रेमचन्द के सही अध्येताओं के अभाव और प्रशंसकों के थोथेपन पर व्यंग करते हुए वाजपेयीजी प्रेमचन्द के युग को "विचार की पूँजी में दिवालिया मानते हैं, जिसमें क्या प्रेमचन्दजी के प्रशंसक, क्या विरोधी और क्या स्वयं प्रेमचन्दजी निर्लेप विचार-भूमि में सधकर (सस्टेण्ड) टिक ही नहीं पाते। इसलिए हिन्दी में इन दिनों लोग एक एक टेक लेकर चलने लगे हैं। उस टेक को आदर्श के नाम से पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए कोई गरीबी की टेक,

---

१. हि० सा० बी० स० पृष्ठ ७, ८

२. प्रे० यु० पृष्ठ १४९

कोई किसी सामयिक लोकप्रिय आन्दोलन की टेक और कोई आचार की टेक लेकर चलते हैं। परन्तु इनके होते हुए भी विचारों का दैन्य छिपता नहीं है और कभी-कभी तो वह दयनीय दशा में दिखाई देता है। जब विचार ही नहीं है, तब भावना की उड़ान भी थोड़ी ही होगी और वह भी अनिर्दिष्ट अवस्था में इधर-उधर पंख फड़फड़ाती रहेगी।"[१] इस भूमिका के साथ नन्ददुलारे वाजपेयी का मूल आरोप यह है कि "प्रेमचन्द का कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन नहीं है। केवल सामयिकता का "आदर्श" है।"[२]

दूसरी बात जो उन्होंने कही है वह यह है कि "प्रेमचन्दजी के मानसिक संघटन में कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है......कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचन्दजी में तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फलस्वरूप निर्माण होने वाले व्यवस्थित जीवन-दर्शन का अभाव है। प्रेमचन्दजी किसी तात्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते। अध्ययन द्वारा भी वे विचार परिपुष्ट नहीं बन सके।"[३]

तीसरा आरोप जो तीखे व्यंग में घेरकर किया गया है, वह यह है कि "समय ने प्रेमचन्दजी का उतना साथ नहीं दिया जितना प्रेमचन्द ने समय का दिया है। सामयिक वातावरण से प्रेमचन्दजी इतना विशेष प्रभावित हुए हैं कि उनकी सहृदयता देखकर हम मुग्ध ही नहीं, आतंकित होते हैं। शैली ने पश्चिमी वायु के साथ क्रीड़ा करने, उड़ चलने का कल्पना-स्वप्न ही देखा था, पर प्रेमचंदजी सामयिक आँधी के साथ उड़ते देखे जा सकते हैं।[४] आँधी से ऊपर उठकर स्वच्छ वातावरण में वे स्थिति का अध्ययन नहीं कर सकते और न उसके परिणाम हमें अवगत करा सकते हैं।" नन्ददुलारे वाजपेयी प्रेमचन्द के इस कथन का उल्लेख करते हैं, "साहित्य का संबंध बुद्धि की अपेक्षा भावों से अधिक है" और इस कथन पर टीका करते हुए कहते हैं कि "प्रेमचन्द को यह विचार करने का अवसर ही नहीं मिला है कि आज जो सौ-पचास भाव समाज के सतह पर आ गये हैं, वे भी बुद्धिमान व्यक्तियों की बुद्धिजन्य क्रिया के ही फल हैं।[५] और कहानी-लेखक को इन्हीं सतह पर आये हुए सौ-पचास भावों को लेकर नहीं बैठना चाहिए।"

फिर नन्ददुलारे वाजपेयी रचयिता की सम्पूर्ण कला-कृतियों में एक अन्तर्निहित चेतना-धारा देखना चाहते हैं। यह धारा उन्हें प्रेमचन्द में नहीं मिलती। "घटना-बाहुल्य और वर्णनों का अनावश्यक विस्तार उनमें बहुत अधिक है, इसलिए उनकी कला में स्थूलता आ गई है।"[६] आगे वे कहते हैं, "प्रेमचन्द की दृष्टि व्यक्ति पर न ठहरकर उसके भावों पर ठहरती है। व्यक्ति पर ठहरने के लिए जो बुद्धि चाहिए, उस बुद्धि की वे साहित्य के लिए आवश्यकता नहीं समझते........उस बुद्धि के अभाव में प्रेमचन्दजी व्यक्ति के अन्य अवयवों के साथ

---

१. प्रे० यु० पृष्ठ ८८, ८९
२. वही
३. वही
४. वही पृष्ठ ९०.
५. प्रे० यु० पृष्ठ ९१
६. वही पृष्ठ ९२

अन्याय करके भावों के साथ अति अन्याय करते हैं.......(वे) मनुष्य की विविधता, उसके व्यक्तित्व के असंख्य यथार्थ रूपों से प्रीति नहीं रखते, केवल भावों को प्रोत्साहित करते हैं। इसलिए प्रेमचन्दजी के उपन्यास-पात्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की अपेक्षा कथानक का प्रवाह अधिक है। वर्णन द्वारा वे प्रसंगों को रसमय बनाते हैं, चित्रण द्वारा कम......बहुत कम रचनाओं में प्रेमचन्द जी स्थिरबुद्धि होकर पात्रों, घटनाओं और भावों के बीच निसर्गगम्य साम्य (हारमोनी) स्थापित कर सके हैं.....चरित्र का निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान और कला का सौष्ठव प्रेमचन्दजी में उच्चकोटि का नहीं हो पाया। इसका कारण वही "टेक" या स्थूल आदर्शवादिता है।"[1]

"समय-साधना" का आरोप तो उन पर है ही, इतना भीषण कि "राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड़ने पर सन् २४, २५, २६ में प्रेमचन्दजी हिन्दू-संघटन के नेता का रूप धारण कर चुके हैं।"[2]...और "सामयिक आन्दोलन को ही वे राष्ट्रीयता का नाम देते हैं। जो इस आन्दोलन के जितने ही साथ है, वह उतना ही राष्ट्रीय है। राष्ट्रीयता की इस धारा को वे सामान्य मनुष्य-धारा मानकर पूरे विश्वास के साथ राष्ट्रधर्म को मनुष्य-धर्म के रूप में ग्रहण कर लेते हैं।"[3]

नन्ददुलारे वाजपेयी की धारणा है कि "सब मिलाकर कथानक, चरित्र, विचार-सूत्र और काल की निर्मिति में प्रेमचन्दजी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिकों की ऊँचाई पर नहीं पहुँचे।"

इन आरोपों को विस्तार से देने की आवश्यकता इसलिए समझी गई कि आज भी नन्ददुलारे वाजपेयी इन्हें दृढ़ता से पकड़े हुए हैं, यद्यपि "गोदान" के प्रकाशन के बाद उनकी इस धारणा में परिवर्तन हुआ है। "प्रेमचन्द: साहित्यिक विवेचना" के नाम अभी हाल में निकली उनकी आलोचना-पुस्तक के मूल में लगभग ये ही सब धारणाएँ हैं। हाँ, वह तीखापन और व्यंग अब उतर चुका है। ध्यान देने योग्य बात इतनी ही है कि वे प्रेमचन्द को पूरा आदर्शवादी मानते हैं। उनके आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को वे कोई वस्तु नहीं मानते।[4] नन्ददुलारे वाजपेयी के इन आरोपों के पीछे यदि सदाशयता है, तो समझना होगा कि प्रेमचन्द और उनके साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण और माप-दंड संगत नहीं है। जान पड़ता है कि सोना तौलने के बाँटों से उन्होंने गेहूँ तौलना चाहा है, तौलते-तौलते थककर बैठ गये हैं और अपनी अशक्यता को इन आरोपों में छिपा रहे हैं। इन आरोपों की आवश्यकता न होती, यदि आलोचक प्रेमचन्द की मानसिक बनावट को परख पाता। इन आरोपों पर प्रस्तुत प्रबंध में यथास्थान विचार किया है।

अपने जीवन काल में ही प्रेमचन्द ने आलोचकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। मृत्यु के एकदम बाद उनके साहित्य के सांगोपांग अध्ययन जनार्दन झा "द्विज" और रामरतन भटनागर ने प्रस्तुत किये, लेकिन इनमें सूचनात्मकता अधिक है, विश्लेषणात्मकता कम।

---

१. प्रे० यु० पृष्ठ ९३

२. वही पृष्ठ ९३.

३. वही पृष्ठ ९४.

४. प्रे० सा० वि० पृष्ठ १५.

इसी समय जैनेन्द्रकुमार का संस्मरणात्मक, भावात्मक, विचारात्मक एक बड़ा अध्ययन प्रकाशित हुआ जिसमें प्रेमचन्द-सम्बन्धी बहुत से आत्मीय ज्ञातव्यों का संग्रह है। इस लेख में जैनेन्द्रकुमार ने प्रेमचन्द के साहित्य के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष दिए हैं :—

"प्रेमचन्दजी भौतिकवादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक अर्थात् विभेद विज्ञान था, फिर भी आज के युग की पश्चिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में उस आशंका के लक्षण अति प्रकट हैं और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्दण्ड विभूति में नहीं, शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। सोशल पालिटी का समाधान शहर में नहीं, गाँव में है। बहुत कुछ चारों ओर बटोरकर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा, उपयोगिता भी बढ़ेगी नहीं, घटेगी और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिरकर, घुटकर पीला और निष्प्राण हो ही जायगा।"[1]

फिर वे कहते हैं, "सब्जेक्टिव्ह (आत्मापेक्षी) दृष्टि से प्रेमचन्दजी अपनी साहित्य-सृष्टि में निरंतर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। आब्जेक्टिव्ह (पदार्थापेक्षी) दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी करना नहीं चाहता हूँ। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विभाजन उपयोगितापूर्वक किया जायगा, सही, पर उस भाँति उस प्रेमचन्द-तत्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य को एकता की संभावना देता है, और जो उस सृष्टि का मूल है।"[2]

जैनेन्द्रकुमार के आलोचना को ग्रहण करते समय हमें यह याद रखना होगा कि वे प्रेमचन्द के अति आत्मीय थे और जब प्रेमचन्द के संबंध में उन्होंने लिखा था, तब वे खुद धारा के साथ बह रहे थे। इसलिए जो सर्वापेक्षी दृष्टि किनारे से देखने वाला अलिप्त आदमी डालेगा, वह जैनेन्द्रकुमार में नहीं मिलेगी। उनके उपरिलिखित निष्कर्ष का पहला हिस्सा उन्हें बुद्धिवादी ठहराता है और दूसरा उनके साहित्य और व्यक्तित्व को अलग-अलग करके देखता है। फिर दोनों में एक दूसरे का स्पष्ट विरोध समझ में आता है। यों बुद्धिवाद से स्वयं प्रेमचन्द ने इंकार किया है।

सब्जेक्टिव्ह और आब्जेक्टिव्ह दृष्टियों से प्रेमचन्द को देखने के इस प्रयत्न में विरोधाभास के संबंध में जैनेन्द्रकुमार ने एक पत्र में इस प्रकार स्पष्टीकरण दिया है: उद्धृत दूसरे पैरे में "सब्जेक्टिव्ह दृष्टि से" के आगे ये शब्द गर्भित या कोष्टक में मानिए : मैं देखता हूँ और मेरे मन से, अर्थात् "सब्जेक्टिव्ह" शब्द का उपयोग मेरी अपेक्षा से है न कि प्रेमचन्दजी के।

इसी प्रकार जो उन्होंने लिखा है कि "उस भाँति उस प्रेमचन्द-तत्व को पहुँचना दुष्कर होगा, जो उस समूचे साहित्य को एकता की संभावना देता है, उसके संबंध में जैनेन्द्रकुमार ने

---

१. प्रे० अ० पृ० ९१०

२. वही.

स्पष्ट किया है कि "हाँ, एकता की संभावना ही है। यानी वह एकता मेरे निकट उतनी निर्णीत और स्पष्ट नहीं है।"[1]

प्रेमचन्द के अध्ययन के लिए यह लेख निस्संदेह महत्वपूर्ण है किन्तु गांधीवाद की सीमा में आबद्ध रहने के और हर बात को दार्शनिकता की भूमि पर बैठाने के आग्रह के कारण जैनेन्द्र कुमार ने प्रेमचन्द को कुछ पूर्व-निर्मित धारणाओं के आधार पर जाँचना चाहा है इसलिए यह लेख कुछ एकांगी रह गया है।

"कथाकार प्रेमचन्द" मन्मथनाथ गुप्त और रवीन्द्र (!) वर्मा द्वारा लिखी गई उपयोगी पुस्तक है जिसमें प्रेमचन्द और उनके समस्त साहित्य की संक्षिप्त झाँकी मिल जाती है।

इधर प्रेमचन्द और उनके साहित्य का अध्ययन करने वालों में डा० रामविलास शर्मा, डा० इन्द्रनाथ मदान और हंसराज 'रहबर' के नाम सामने आते हैं। डा० मदान और डा० रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द के साहित्य के क्रान्तिकारी स्वरूप को अंकित किया है। डा० मदान ने अलग-अलग वर्गों के माध्यम से प्रेमचन्द-साहित्य का अध्ययन किया है। अपनी पहली पुस्तक में डा० शर्मा का भी यही आधार रहा है। अपनी नई पुस्तक "प्रेमचन्द और उनका युग" में उन्होंने साथ-साथ विभिन्न उपन्यासों के माध्यम से प्रेमचन्द का मनोविकास भी दर्शाया है। डा० शर्मा की प्रवृत्ति प्रेमचन्द को अधिक से अधिक साम्यवादी चित्रित करने की ओर है।

हंसराज "रहबर" ने "प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व" में प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व के बीच सामंजस्य खोजा है, जीवन का प्रभाव साहित्य में देखा है। प्रेमचन्द के जीवन के अनेक संस्मरण देकर उनके प्रतिबिम्ब उनके उपन्यास-कहानियों में दिखाकर हंसराज 'रहबर' ने प्रेमचन्द पर बड़ा मनोरंजक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

एक लेख "अंचल" का उनके "समाज और साहित्य" में दिया हुआ है। इसमें अधिकांश वे ही बातें कही गई हैं जो स्वयं प्रेमचन्द ने रोमां रोलां के लिए लिखी हैं। इन दोनों लेखों में भाव-साम्य के साथ अद्भुत शब्द-साम्य मिलता है। इसके सिवा मैक्सिम गोर्की ने "ह्यूमे-निज्म" के संबंध में जो लिखा है, वह भी शब्दशः प्रेमचन्द पर ढालकर रख दिया गया है। लेख में मौलिकता के अभाव के साथ-साथ बिखरापन है, संयोजना नहीं।

अभी-अभी सोवियत भूमि के एक साहित्यिक, बेस्क्रोव्नी ने प्रेमचन्द के संबंध में लिखा है। उन्होंने अपनी धारणा इन शब्दों में व्यक्त की है, "यह बात बिलकुल साफ़ है और उसका कारण भी सब जानते हैं कि इस भारतीय लेखक को बहुत दिनों तक उसका प्राप्य नहीं मिलेगा जो कि उसे अपनी महान साहित्यिक परम्परा के लिए मिलना चाहिए। सिर्फ हमारे देश में, जो कि देशों के बीच सच्चे सहयोग और भाई-चारे का देश है लेकिन जिसने लेनिन और स्तालिन की जातियों सम्बन्धी नीति के फलस्वरूप एक खुशहाल जिन्दगी को हासिल कर लिया है, प्रेमचन्द का सही गम्भीर अध्ययन किया जा सकता है।"[2]

प्रस्तुत प्रबंधकार अपने पूर्ववर्ती आलोचकों के प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, स्वीकारात्मक और

---

१. इस प्रबंधकार को उसकी जिज्ञासा के उत्तर में २१-१०-५४ को लिखा गया एक पत्र।

२. प्रे० यु० पृष्ठ ५.

नकारात्मक ऋण को स्वीकार करता है और यथासंभव उनके मतमतांतर पर अपने विचार देता चला है। वह बेस्क्रोव्नी के इस दावे को झुठला देना चाहता है कि इस देश में प्रेमचन्द का सही अध्ययन नहीं किया जा सकता।

आलोचक के कर्तव्य पर प्रेमचन्द ने अपने विचार प्रकट किये हैं। उस सम्बन्ध में अपनी पत्नी के साथ उनकी यह बात हुई।

आप बोले : जब तक हमारी कमज़ोरी या गलती कोई हमको सुझा या समझा न दे, तब तक हमको अपनी गलती मालूम कैसे हो। इसलिए अगर वह सच्चा समालोचक है, तो मैं समझता हूँ कि वह सबसे ज्यादा मूल्यवान काम करता है। मैं तो समझता हूँ कि सच्चा हितैषी उसी को समझना चाहिए जो हमारी कमज़ोरियाँ और ग़लतियाँ हमारे सामने रख दे।

मैं बोली : अक्सर तो समालोचक छींटे ही उछालते हैं।

आप बोले : वे सच्चे समालोचक नहीं हैं। वे तो द्वेष के कारण एक दूसरे पर कीचड़ उछालते हैं। समालोचक का काम बड़ी जिम्मेदारी का होता है। इसलिए जिसकी आलोचना करनी हो, उसका पहले पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, तब जाकर किसी पर कलम उठाना चाहिए। यही तो सबसे बड़ा लेखक का गुण है।

मैं हँसकर बोली : क्या आप इसके लिए अपने को ठीक समझते हैं?

आप बोले : मैं किसी की आलोचना दिल में मैल रखकर नहीं करता। अपने बस भर इससे अपने को अलग रखने की कोशिश करता हूँ।[१]

इस उद्धरण में आदर्श लेखक और आलोचक दोनों के संबंध में प्रेमचन्द की धारणा मिलती है। वे आत्म-निरपेक्षता (आब्जेक्टिविटी) को दोनों के लिए नितान्त आवश्यक गुण मानते हैं। अपने राग-विराग को मिलाकर हम अपने आपको प्रमुख बना देते हैं, और फिर प्रतिपाद्य गौण हो जाता है। मन में मैल और द्वेष लेखक और आलोचक दोनों के लिए कलंक है और समुचित ज्ञान दोनों के लिए अनिवार्य आवश्यकता। यह हो, तभी कही गई बात में बल आवेगा।

इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द ने देखा कि "हिन्दी में या तो समालोचना होती ही नहीं या होती है, तो द्वेष या झूठी प्रशंसा से भरी हुई अथवा ऊपरी, उथली और बहिर्मुखी। ऐसे समालोचक बहुत कम हैं, जो किसी रचना की तह में डूबकर उसका तात्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन करें।"[२]

प्रस्तुत प्रबंध के लेखक का विश्वास है कि आज भी प्रेमचन्द का तात्विक, मनोवैज्ञानिक विवेचन नहीं हो पाया है। प्रस्तुत प्रबंध प्रेमचन्द को उनकी सही वास्तविकता में देखने का विनीत प्रयास है। इसमें लेखक प्रेमचन्द-संबंधी किन्हीं पूर्व निर्मित धारणाओं को लेकर नहीं चला है। अक्सर प्रेमचन्द के संबंध में कहा जाता है कि वे कुशल सर्जन हैं, वस्तु की सही चीर-फाड़ करके सामने रख देते हैं, वैसा ही कुछ यहाँ भी मिलेगा। प्रेमचन्द ने अपने संबंध

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ३१६.

२. सा० उ० पृष्ठ ९०

में जो कुछ कहा है, या दूसरों ने प्रेमचन्द की जिन बातों का हवाला दिया है, उन सब सामग्री का उपयोग यहाँ किया गया है।

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकों के रहते हुए इस प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता के सम्बन्ध में जिज्ञासा की जा सकती है। जैसा मैंने उपसंहार के दूसरे अध्याय में स्पष्ट कर दिया है, इस अध्ययन का प्रारम्भ आज से कोई बारह वर्ष पूर्व हो चुका था, और उस समय प्रेमचन्द के संबंध में विशेष कोई सामग्री नहीं निकली थी। लेकिन तब से आज पर्यन्त निकली सामग्री परिमाण में प्रचुर होने के बाद भी ऐसी नहीं है, जो प्रेमचन्द के प्रति पूरा-पूरा न्याय कर सकी हो। मैंने अनुभव किया कि यह सामग्री ठीक ढंग की नहीं है, और इनके लेखकों ने प्रेमचन्द को या तो अपने पूर्वाग्रहों के माध्यम से पकड़ना चाहा है, या प्रचलित शब्दावली के द्वारा ग्रहण करना चाहा है। मुझे ऐसा लगा कि समय की सामान्य चिन्ताधारा के आधार पर अब तक के आलोचकों ने प्रेमचन्द के अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। इसीलिए मुझे यह आवश्यक जान पड़ा कि मैं प्रेमचन्द को समझने के साथ-साथ उनके अनेक आलोचकों का भी प्रवृत्यात्मक अध्ययन करता चलूँ। इस अपने अध्ययन के प्रारम्भ में इसीलिए मैंने प्रेमचन्द-सम्बन्धी आलोचना का भी "इतिहास" दे दिया है।

इस प्रबन्ध में मैंने क्या दिया है, या मेरे अनुसार प्रेमचन्द का क्या स्वरूप है, ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। मैंने प्रेमचन्द के अध्ययन के निमित्त अपने लिए सीमाएँ निर्धारित कर ली हैं। आज का युग वैज्ञानिक अध्ययन का युग है और आज न केवल मनोवैज्ञानिकता, किन्तु ऐतिहासिक परम्परा, समाज-शास्त्र, मनोविश्लेषण, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की शाखाएँ हमारे जीवन को जिन प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष ढंगों से प्रभावित करती हैं, उनका उचित क्रियात्मक-प्रतिक्रियात्मक संबंध स्थिर किये बिना अध्ययन गम्भीर नहीं हो सकता। वह केवल भावात्मक या रागात्मक मात्र रह जायगा। इसीलिए मैंने प्रेमचन्द को उन सारे प्रसंगों-सम्बन्धों के माध्यम से देखना चाहा है। यद्यपि अध्ययन की यह प्रणाली एकदम नवीन नहीं है, रामचन्द्र शुक्ल ने जिस आलोचना-पद्धति का विकास किया है, उसमें वैज्ञानिकता को पर्याप्त प्रश्रय मिला है, किन्तु अपने इस अध्ययन में मैंने अपने को, अपनी धारणाओं को एकदम नेपथ्य में रखा है, और वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया में मैं जिन निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ, उन्हें बिना अपने रागात्मक या भावात्मक आरोप के प्रकट कर दिया है।

साहित्यकार पर युग-चेतना, मन के संस्कार, जीवन की परिस्थितियों और साहित्यिक परम्पराओं के प्रभाव पड़ते हैं। मैंने प्रेमचन्द को इन्हीं के माध्यम से देखना चाहा है, और जैसा देखा है, वैसा ही चित्रित कर दिया है।

प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य में सामंजस्य दिखाने की चेष्टा तो अनेक लेखकों ने की है किन्तु उनके जीवन और व्यक्तित्व का स्वरूप उचित ढंग से किसी ने स्पष्ट नहीं किया। इस प्रबंध में प्रेमचन्द के चिन्तन और कला के अध्ययन के साथ-साथ उनके जीवन और व्यक्तित्व का अध्ययन भी दिया गया है, बल्कि जीवन और व्यक्तित्व के अध्ययन को प्राथमिकता दी गई है।

प्रेमचन्द के साहित्य को समझने के लिए उनके साहित्य की पृष्ठभूमि, उनके युग का स्वरूप जानना नितांत आवश्यक है। प्रेमचन्द के किसी भी आलोचक ने उनकी इस पृष्ठभूमि

पर विस्तार से विचार नहीं किया है, इसलिए उनके विश्लेषण या तो भ्रमपूर्ण हो गए हैं या रागग्रस्त। प्रेमचन्द-साहित्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि एकाध ने दी है, लेकिन उसमें प्रवृत्तियों और शैलियों का क्रमविकास दिखाकर उन्हें प्रेमचन्द से जोड़ने का प्रयत्न नहीं मिलता।

प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण करने वालों ने अलग-अलग कृतियों के अध्ययन तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु समस्त साहित्य की अन्तर्धारा के गतिप्रवाह को उन्होंने नहीं परखा है। यह अन्तर्धारा की दुकूलिनी एक ओर युग के यथार्थ को परखती चलती है और दूसरी ओर उनकी आदर्श कल्पना को स्वरूप देती चलती है। आदर्श और यथार्थ का यह मेल कहीं खत्म नहीं हुआ, कभी खत्म नहीं हुआ। फिर यह अन्तर्धारा एक दूरी तक जाकर एकाएक मुड़ती है। इस मोड़ को समझने की आवश्यकता है, तभी प्रेमचन्द की अंतिम कृतियों का सही मूल्यांकन संभव है।

आज तक प्रेमचन्द के आधारभूत विश्वासों और उन पर आश्रित उनके समग्र जीवन-दर्शन का अध्ययन विधिवत् नहीं हो पाया है। स्फुट विचारावली तो मिल जाती है, लेकिन समग्र जीवन–दर्शन जब तक सामने नहीं आता, तब तक खंड-खंड चित्रों के आधार पर बनी धारणा आंशिक ही रहेगी।

यह अध्ययन विश्लेषण है, मूल्यांकन नहीं। लेकिन ऐसा विश्लेषण है, जिसमें मैंने उपर्युक्त विधि से प्रेमचन्द को समझना चाहा है। मैंने अपने विश्लेषण को अब तक की प्रेमचन्द-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं से अप्रभावित रखकर अपनी बात, अपने ही ढंग से कहना चाहा है। इसीलिए इसमें विभिन्न आलोचकों के अनावश्यक उद्धरण नहीं हैं। मेरी मौलिकता का सबसे स्पष्ट प्रमाण यही है कि इस अध्ययन में मैंने दूसरे के निष्कर्षों का अवलम्ब लेकर नहीं चलना चाहा है।

पूरे प्रबन्ध में जहाँ-जहाँ मैंने विशेष-रूप से अपनी बात कही है, उन स्थलों का संकेत कर देना अनुचित न होगा—

(१) 'प्रवेश' में प्रेमन्चद के विभिन्न आलोचकों का क्रमागत उल्लेख, उनके विवेचन की मूल बातें, और इन विवेचनों के प्रति मेरा दृष्टिकोण दिया गया है। यह खण्ड इसलिए आवश्यक है कि जब तक प्रेमचन्द के सम्बन्ध में अन्य आलोचकों की बातें न जान ली जायँ, तब तक प्रेमचन्द–सम्बन्धी भ्रमात्मक तथ्यों के विषय में विवेचनात्मक ढंग से नहीं लिखा जा सकता।

(२) 'जीवन–सार' में प्रेमचन्द की जीवन-धारा और उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्मावलोकन है। मन की धारा कब कैसा मोड़ लेती रही है, यह जाने बिना उनकी विचार-धारा और उनके भावों-विभावों का उद्‌गम, प्रेरणा-स्रोत स्पष्ट नहीं हो पाता। यह अवलोकन केवल तिथियों की गणना नहीं करता, किन्तु इसमें प्रेमचन्द के जीवन-मोड़ों को निकटता से बूझा गया है। 'व्यक्तित्व' का स्पष्ट स्वरूप इसलिए दिया गया है कि इसी व्यक्तित्व की झाँकी तो सर्वत्र साहित्य में प्राप्त होती है।

(३) 'कुछ विचार' में प्रेमचन्द के साहित्य-विषयक ऐसे विचारों का समावेश, अध्ययन, आलोचन किया गया है, जिन्हें जाने बिना प्रेमचन्द-साहित्य की आत्मा का स्वरूप नहीं समझा

जा सकता। यद्यपि इस खण्ड में मैंने प्रेमचन्द के विचारों को सुव्यवस्थित ढंग से उपस्थित किया है, लेकिन जहाँ इन विचारों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण या आलोचना की आवश्यकता समझी गई है, वहाँ प्रेमचन्द के विचारों को देकर उनकी समुचित व्याख्या भी कर दी गई है।

(४) 'प्रेमचन्द-साहित्य की पृष्ठभूमि' इस प्रबन्ध का मेरुदंड है। इसमें प्रेमचन्द के युग की विश्लेषणात्मक परख की गई है और युग की विभिन्न प्रवृत्तियों के प्रति प्रेमचन्द के रुख को स्पष्ट किया गया है। 'गांधीवाद और साम्यवाद' के विश्लेषण के द्वारा प्रेमचन्द की 'मनोरचना' का स्वरूप व्यक्त किया गया है। इस विश्लेषण को मैं वह मौलिक आधार मानता हूँ, जिस पर मैंने प्रेमचन्द के साहित्य का अध्ययन किया है। यहाँ आपको वे मूलभूत धारणाएँ मिलेंगी, जिनके आधार पर प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण किया गया है। ये धारणाएँ मेरी अपनी हैं, इसलिए इनके आधार पर किया गया विश्लेषण भी मेरा अपना है, जिस पर अब तक के विभिन्न आलोचकों की छाप नहीं मिलेगी, बल्कि जो अब तक की आलोचनाओं से एकदम भिन्न है।

(५) 'प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण' मेरी अपनी मौलिक मान्यताओं के आधार पर होने के कारण एकदम मौलिक है।

(६) 'उपसंहार' में विभिन्न दृष्टियों से प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की झाँकी दी गई है। यह अंश सम्पूर्ण अध्ययन का सार माना जा सकता है।

प्रेमचन्द का यह विधिवत् अध्ययन इस महान लेखक को एकदम नवीन दृष्टिकोण से देखने का विनम्र प्रयास है। प्रबंधकार ने अपनी ही बात कही है, दूसरों की बात के खण्डन-मण्डन की अलग से, आवश्यकता विशेष रूप से उसने नहीं समझी है। हाँ, अध्ययन के प्रसंग में अपने कथन की स्पष्टता के लिए जितने खण्डन-मण्डन की नितांत आवश्यकता जान पड़ी है, उसे यह साधता चला है। प्रबंधकार कोई पूर्व-निर्मित धारणाएँ लेकर नहीं चला है और उसका विश्वास है कि यह अध्ययन अधिक-से-अधिक वस्तु-सापेक्ष्य है।

अनुक्रमणिका

पृष्ठ

प्रवेश : अपना दृष्टिकोण ७–१९

अ–प्रेमचन्द के विभिन्न आलोचक :

१. पद्मसिंह शर्मा और रामदास गौड़

२. अवध उपाध्याय और इलाचन्द्र जोशी

३. नन्ददुलारे वाजपेयी और श्रीनाथसिंह

४. जैनेंद्र कुमार

५. मन्मथनाथ गुप्त और रवीन्द्र वर्मा

६. रामविलास शर्मा, इन्द्रनाथ मदान, अंचल और हंसराज 'रहबर'

७. त्रैस्कोव्नी

आ—इस प्रबन्ध के लेखक का दृष्टिकोण

भाग १—जीवन-सार २५–५२

१. सन् १८८०–१८९५ ... ... २५

२. सन् १८९६–१९२१ ... ... ३०

३. सन् १९२१–१९३६ ... ... ३६

(आ) व्यक्तित्व ४६

भाग २—प्रेमचन्द के कुछ विचार ५३–८९

१. (१) साहित्य का उद्देश्य ५३

(अ) आदर्श और यथार्थ ६२

२. साहित्यकार का कर्तव्य ६५

३. साहित्याभिव्यक्ति का माध्यम : भाषा ७२

४. साहित्याभिव्यक्ति का स्वरूप : कहानी और उपन्यास ... ७८

भाग ३—प्रेमचन्द-साहित्य की भूमिका ९०–१७६

१. युग का आर्थिक ढाँचा ९०–१०५

(क) सामन्ती सभ्यता का अन्त ९०

(ख) महाजनी सभ्यता—नवागत सभ्यता (पूंजीवाद-साम्यवाद) ... ९६

(ग) गांधीवाद और साम्यवाद १०१

२. सामाजिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि १०६

३. साहित्यिक पृष्ठभूमि अ–उर्दू आ–हिन्दी ११९

४. मनोरचना १२८

भाग ४—प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण और विकास-क्रम ... १३४–१६०

१. प्राक्-सेवा-सदन कृतियाँ १३४–१४०

(अ) रूठी रानी ... ...

(आ) कृष्णा ... ...

(इ) वरदान ... ...

(ई) सप्तसरोज और नवनिधि ... ...

२. सेवा-सदन १४०

३. प्रेमाश्रम १५०

४. प्रतिज्ञा और निर्मला १६६

५ रंगभूमि १७५

६. कायाकल्प १८७

७. ग़बन २००

८. कर्मभूमि २११

९. गोदान २२३

१०. मंगल-सूत्र २४७

११. प्रेमचन्द की कहानियाँ २४९

उपसंहार २६१–२७८

१. प्रेमचन्द की कला २६१

२. प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन २६६

३. प्रेमचन्द : एक सर्वेक्षण २७३

परिशिष्ट १ ... ... २७९

प्रेमचन्द-साहित्य २७९

परिशिष्ट २ ... ... १८१

सहायक सामग्री १८१

परिशिष्ट ३ ... ... २८३

विद्वान् २८३

परिशिष्ट ४ ... ... २८४

प्रेमचन्द-सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य २८४

प्रेमचन्द : एक अध्ययन

भाग १

(अ) जीवन सार

(१) सन् १८८०–१८९५

प्रेमचन्द का जन्म शनिवार तारीख, ३१ जुलाई १८८० को बनारस से चार मील दूर लमही नामक ग्राम में हुआ था। यह वह समय था, जब देश के सोचने-समझने वालों में चेतना आ चली थी और कांग्रेस के जन्म के लिए परिस्थितियाँ तैयार हो चुकी थीं। पिता ने बालक का नाम धनपतराय रखा था, चाचा नवाबराय कहकर पुकारते थे।

पिता अजायबराय निम्न मध्य वित्त परिवार के व्यक्ति थे। वे डाकखाने में क्लर्क थे, जो बेटे के जन्म के समय २० रुपये पाते थे, ४५ रुपये तक पहुँचते-पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। बनारस जिले के पाण्डेपुर मौजे में उनकी वंशागत थोड़ी-सी काश्त थी, लेकिन यह इतनी कम थी कि निर्वाह के लिए बस न हो पाती थी। उस समय तक भारत की ग्राम व्यवस्था विशृंखल हो चुकी थी और उसका आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा बदल रहा था।

बालक धनपतराय की पढ़ाई पाँचवें वर्ष में प्रारम्भ हो गई थी। ये पहले मौलवी साहेब से उर्दू पढ़ते थे। पढ़ने में ये बहुत ज़हीन थे।[1]

धनपतराय को गहरी ग़रीबी में अपने दिन गुज़ारने पड़े थे। अपने संबंध में उन्होंने लिखा है, "अंधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिनों तक पहना है। जब तक पिताजी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा और चार आने से ज़्यादा गज़ का कपड़ा नहीं खरीदा।"[2] सन् १८९२ में अजायबराय का तबादला जीमनपुर को हो गया। जीमनपुर-आवास का उल्लेख प्रेमचन्द ने इन शब्दों में किया है—"पिताजी ने जो मकान ले रखा था, उसका किराया डेढ़ रुपया था। निहायत गंदा मकान था। उसी के दरवाज़े पर एक कोठरी थी। वही मुझे सोने के लिए मिली"।[3] लगातार अभाव का वह जीवन था। वे लिखते हैं—"पैसों की दिक़्क़त तो मुझे हमेशा रहती थी। बारह आने महीना फ़ीस लगती थी। उन बारह आनों में से एक-आध आना हर महीने खा जाता था। जिस स्कूल में मैं था, उसमें छोटी जाति के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे। इसलिए फ़ीस देने में बड़ी दिक़्क़त होती थी"।[4]

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ १

२. प्रे० घ० पृष्ठ २-३

३. वही पृष्ठ ४

४. वही पृष्ठ ५

चिन्ता ग़रीबी मात्र की नहीं थी। जब इनकी अवस्था आठ वर्ष की थी, माँ का देहान्त हो गया और कुछ दिनों के बाद पिताजी ने दूसरी शादी कर ली। चाची आई। चाची का व्यवहार इनके साथ कभी अच्छा नहीं रहा। जो चीजें पिताजी बच्चों के खाने के लिए लाते, चाची उन्हें पिताजी को खिलाना चाहतीं और अक्सर पिताजी के मना करने पर भी न मानतीं।[1] चाची के व्यवहार के संबंध में वे कहते हैं—"जब मैं फीस के पैसे चाची से माँगता, तो वे बुरी तरह झल्लातीं। पिता से कहने की हिम्मत न थी, इसलिए अपनी माता की याद मुझे बार बार सताती थी।"[2] गरीबी के कारण खाना-पीना तो अपर्याप्त था ही, माता के अभाव के कारण वे उस स्नेह से भी सदा वंचित रहे, जिसमें शैशव फूलता-फलता है। चाची का बर्ताव इनके प्रति निस्स्नेह था। किन्तु ये कभी उनके साथ अशिष्ट नहीं हुए। बचपन जिस वातावरण का इच्छुक होता है, वह प्रेमचन्द को कभी नहीं मिला। इसके विपरीत बचपन में जिस सावधानी के साथ शिशु को शिक्षित करना जरूरी होता है, वह 'सावधानी' चाची ने कभी नहीं दिखाई। प्रेमचन्द ने लिखा है—"जिस घर में मैं था, वह एक अहीरन का था। वह विधवा थी। इनमें और मेरी चाची में काफी हँसी-मजाक होता था। मैं भी सुनता। मुझे उनके हँसी-मजाक में मज़ा आता। मुझे तेरह साल की उम्र में ही उन बातों का ज्ञान हो गया था, जो कि बच्चों के लिए घातक हैं।"[3]

इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच भी धनपतराय का जिज्ञासु मन न कभी शिथिल हुआ और न उनके भीतर की आर्द्रता कभी सूखी। "मेरी पहली रचना" में प्रेमचन्द ने लिखा है—

"उस वक्त मेरी उम्र कोई १३ साल की रही होगी। हिन्दी बिलकुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने लिखने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस ज़माने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। स्व० हज़रत रियाज ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद "हरम सरा" के नाम से किया था। उसी ज़माने में लखनऊ के साप्ताहिक "अवध–पंच" के संपादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसेन ने, जो हास्यरस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का अनुवाद "धोखा या तिलस्मी फानूस" के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी जमाने में पढ़ीं और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं। उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी गोरखपुर के मिशन स्कूल में आठवीं में पढ़ता था, जो तीसरा दरजा कहलाता था। रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दूकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास लेकर पढ़ता था। मगर दूकान पर सारे दिन तो बैठ

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ४
२. पृष्ठ ४ (प्रे० अ०)
३. प्रे० घ० पृष्ठ ५

न सकता था इसलिए उसकी दूकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियाँ और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और उसके मुआवजे में दूकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े और 'तिलस्मी होशरुबा' के कई भाग भी पढ़े। इस वृहद् तिलस्मी ग्रंथ के १७ भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक एक भाग सुपर रायल आकार के दो दो हजार पृष्ठों से कम न होगा और इन सत्रह भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पच्चीसों भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े। जिसने इतने बड़े ग्रन्थ की रचना की, उसकी कल्पना शक्ति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। इसमें कितना सत्य है, कह नहीं सकता, लेकिन इतनी वृहद् कथा शायद ही संसार की किसी भाषा में हो।"[१]

श्री रघुपति सहाय प्रेमचन्द के संबंध में लिखते हैं, "उन्होंने (प्रेमचंद ने) बताया कि उनकी दोस्ती एक तमाखू बेचनेवाले लड़के के साथ हो गई थी। स्कूल से वापिसी पर प्रेमचन्द उस लड़के के घर जाते। वहाँ बुजुर्गों में हुक्के का दौर जारी रहता था और "तिलिस्मे होशरुबा" प्रतिदिन पढ़ा जाता था। "तिलिस्मे होशरुबा" सुनते-सुनते बचपन ही में प्रेमचन्द की सोई हुई कल्पना जाग उठी थी, जैसे बचपन में "अलिफ लैला" पढ़कर डिकिन्स की सुप्त प्रवृत्तियाँ जागी थीं।"[२]

एक ओर संलग्नता से अध्ययन का यह क्रम चल रहा था, दूसरी ओर इसी समय धनपत राय ने "कलम घिसना" शुरू कर दिया था। वे लिखते हैं—"वहीं (जीमनपुर में) मुझे लिखने का भी शौक हुआ था। मैं लिखता और फाड़ता। कभी-कभी मेरे पिताजी हुक्का पीते-पीते मेरी कोठरी में भी आ जाते थे। जो कुछ मैं लिखकर रखता, वे देख लेते और पूछते—"नवाब, कुछ लिख रहे हो? मैं शरमा कर गड़ जाता।"[३] और क्या लिखते थे, इसका स्पष्ट संकेत "मेरी पहली रचना" में मिलता है :

उसी ज़माने में मेरे एक नाते के मामू कभी-कभी हमारे यहाँ आया करते थे। अधेड़ हो गये थे, लेकिन अभी तक बिनब्याहे थे।......आखिर एक बार उन्होंने भी वही किया, जो बिन-ब्याहे लोग अक्सर किया करते हैं—एक चमारिन के नयन बाणों से घायल हो गये... और यह सिलसिला यहाँ तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गई......(इधर) एक दिन संध्या समय चमारों ने आपस में पंचायत की। बड़े आदमी हैं, तो हुआ करें, क्या किसी की इज़्ज़त लेंगे। इज़्ज़त का बदला खून से ही चुकता है, लेकिन मरम्मत से भी कुछ उसकी पुरौनी हो सकती है.......दूसरे दिन शाम को जब चम्पा मामू साहब के घर आई, तो उन्होंने अन्दर का द्वार बन्द कर दिया......उधर चमारों का जत्था ताक में था...... बढ़ई बुलाया गया, किवाड़ फाड़े गये और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले।

---

१. कफन पृष्ठ ४८-४९

२. आजकल अक्तूबर १९५२ पृष्ठ ९

३. प्रे० घ० पृष्ठ ५

चम्पा आँगन में खड़ी रो रही थी। द्वार खुलते ही भागी। कोई उससे नहीं बोला। मामू साहब भाग कर कहाँ जाते......मार पड़ने लगी और बे-भाव की पड़ने लगी......इस दुर्घटना की खबर उड़ते-उड़ते हमारे यहाँ भी पहुँची। मैंने भी उसका खूब आनन्द उठाया। पिटते समय उनकी रूपरेखा कैसी रही होगी, इसकी कल्पना करके मुझे खूब हँसी आई...... आखिर एक दिन मैंने यह सारी दुर्घटना, एक नाटक के रूप में लिख डाली और अपने मित्रों को सुनाई।[१]

यह पहली रचना अप्राप्य है। मामू के हाथों लग गई और मालूम नहीं "मामू साहब ने उसे चिराग़अली के सुपुर्द कर दिया या अपने साथ स्वर्ग ले गये।" लेकिन इस पहली रचना से इतना जान पड़ता है कि इसमें पर्याप्त संस्मरणात्मकता है, समाजापेक्षी दृष्टि है, सूक्ष्म वर्णना शक्ति है और बड़ा आवृत लेकिन तीखा व्यंग्य है। यही गुण प्रेमचन्द-साहित्य की आधार-शिला है। उनकी कहानियों में से अधिकांश का कथा-सूत्र यथार्थ हैं, संस्मरणात्मक जैसे कज़ाकी, रामलीला, ढपोरशंख, बेटोंवाली विधवा, सौतेली माँ। इन कथा-सूत्रों को प्रेमचन्द ने समाज के केनवास पर चित्रित किया है।

"मेरी पहली रचना" का समय लगभग सन् १८९३ है, जब धनपतराय की अवस्था कोई तेरह वर्ष की होगी। सन् १८९४ में उन्होंने एक नाटक लिखा जिसका नाम "होनहार बिरवान के चिकने-चिकने पात" था।[२] सन् १८९५ में ये हाई स्कूल में भरती होने के लिए बनारस आये। बनारस में खर्च के लिए उन्होंने खुद पिताजी से दरख्वास्त की थी कि "पाँच रुपये दे दिया कीजिए।"[३] लेकिन बनारस आकर पता चला कि खर्च नहीं बैठता—दो रुपये फीस के, एक रुपये का दूध, बाकी बचे दो रुपये। कैसे पूरा बैठे। वे लिखते हैं—

पाँव में जूते न थे। देह पर कपड़े न थे। महँगी अलग। दस सेर का जौ था। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फीस माफ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे, चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था। वक्त पर स्कूल न पहुँच पाता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुआ था।[४]

इसी साल इनका विवाह हो गया। गरीबी ने साथ छोड़ा नहीं। शादी के लिए जो गुड़ इनके पास पिताजी ने रख दिया था, वह यार-दोस्तों के साथ मिल कर खा डाला। वे लिखते हैं, "मेरी शादी हुई। मैं अपनी शादी में बड़ा खुश था। मण्डप छाने

---

१. कफन पृष्ठ ५१-५२
२. प्रे० जी० कृ०–पृष्ठ ३६
३. प्रे० घ० पृष्ठ ८.
४. कफन पृष्ठ ५७-५८.

के लिए बाँस मैंने खुद काटा था।"[1] इसका कारण अत्यधिक उत्साह भी हो सकता है, अत्यधिक ग़रीबी भी। सम्भवत: दोनों, शायद दूसरा अधिक। विवाह के सम्बन्ध में वे लिखते हैं, "यों वह (पिताजी) बड़े विचारशील, जीवन-पथ पर आँखें खोलकर चलने वाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये और खुद गिरे ही थे, उसी धक्के में मुझे भी गिरा दिया। पन्द्रह साल की अवस्था में उन्होंने मेरा विवाह कर दिया और विवाह करने के साल ही भर बाद परलोक सिधारे।"[2]

"मेरा विवाह बस्ती ज़िले के मेंहदावल तहसील में रामापुर गाँव में ठीक हुआ... ऊँट गाड़ी से (लौटकर) आना पड़ा। जब हम ऊँटगाड़ी से उतरे, मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार न था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उमर में वह मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया... बेशर्मी मुझे पसन्द न थी...वह बदसूरत तो थीं ही, उसके साथ-साथ ज़बान की भी मीठी न थीं। यह इंसान को और भी दूर कर देता है...मेरी बारात आई। मेरे पिता को मालूम हुआ कि मेरी बीवी बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली थी। मेरी यह शादी चाची के पिताजी ने ठीक की थी। पिताजी चाची से बोले—लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। अफ़सोस! मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री...........।

"जब मेरी चाची जमनिया जाने लगीं, तो मेरी बीवी को भी साथ लेती गई। छः महीने भी वहाँ पिताजी न रहने पाये कि उनका तबादला लखनऊ हो गया। मैं तो नवें में पढ़ता था। पिताजी लखनऊ जाते समय सबको मढ़वाँ पहुँचा गये। मैं तो पहले ही से वहीं था। अब यह सब बला मेरे सिर पड़ी। चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थीं। उनकी शिकायत भी चाची एकान्त में मुझसे किया करती थीं। वह भी अपनी किस्मत को रोती थी। बीच में मेरी आफत थी। मगर बीच में चाची न होतीं, तो शायद मेरी उनकी जिन्दगी एक साथ बीत जाती।"[3]

जब पिताजी की मृत्यु हुई, "घर में मेरी स्त्री थी, विमाता थीं, उनके दो बालक थे और आमदनी एक पैसे की नहीं। घर में जो कुछ लेई-पूँजी थी, वह पिताजी की छः महीने की बीमारी और क्रियाकर्म में खर्च हो चुकी थी। और मुझे अरमान था, वकील बनने का और एम० ए० पास करने का। नौकरी उस जमाने में भी दुष्प्राय थी, जितनी अब है। दौड़-धूप करके शायद दस बारह की कोई जगह पा जाता, पर यहाँ तो आगे बढ़ने की धुन थी—पाँव में लोहे की नहीं अष्टधातु की बेड़ियाँ थीं और मैं चढ़ना चाहता था पहाड़ पर।"[4]

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ९.

२. कफन पृष्ठ ५७.

३. कफन पृष्ठ ६०-६१

४. वही पृष्ठ ६०.

(२) सन् १८९६–१९२१

जब तक धनपतराय मेट्रिक्युलेशन पास हुए, तब तक एक ओर माता-पिता का साया सिर पर से उठ चुका था, दूसरी ओर चार-चार आदमियों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी आ गई थी और न पास में पैसा था, न आसानी से नौकरी मिलने की संभावना।

क्वीन्स कालेज में प्रवेश मिलना न हो सका, वहाँ केवल प्रथमश्रेणी के छात्र लिए जाते थे। इसी बीच हिन्दू कालेज खुला। लेकिन वहाँ भी योग्यता के आधार पर प्रवेश सम्भव था। वे लिखते हैं—

"गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। उस पर न चढ़ सका......मैं निराश होकर घर तो लौट आया, लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किसी तरह गणित को सुधारूँ और कालेज में भरती हो जाऊँ, यही धुन थी। उसके लिए शहर में रहना जरूरी था। संयोग से एक वकील साहब के लड़कों को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपया वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में गुज़र करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा लिया। बाजार से एक छोटा-सा लैंप लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बरतन भी लाया। और एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बरतन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ सरशार का "फिसाना आज़ाद" उन्हीं दिनों पढ़ा। "चन्द्रकान्ता संतति" भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय में मिले, सब पढ़ डाले।"[१]

गरीबी बदस्तूर कायम थी। ट्यूशन के दो रुपयों से काम नहीं चलता, तो उधार लेते। एक बार तो नया कोट बेचने पर नौबत आ गई। संयोग ऐसा कि एक बार "चक्र-वर्ती गणित की कुंजी" बेचकर दूकान से उतरे, तो एक बड़ी-बड़ी मूँछों वाले सज्जन से मुलाकात हो गई। वे एक स्कूल में हेडमास्टर थे। प्रेमचन्द को सन् १८९९ में इनकी पाठ-शाला में सहकारी अध्यापक की जगह १८) माहवार वेतन पर मिल गई।

स्कूली अध्ययन से साथ छूटा, अध्यापन प्रारम्भ हुआ। उस समय की शिक्षा-व्यवस्था के बारे में प्रेमचन्द के मन में गहरा क्षोभ था। एक जगह वे कहते हैं, "उस समय युनीव-र्सिटी के इस (गणित की अनिवार्यता के) नियम ने कितने युवकों की आकांक्षा का खून किया, कौन कह सकता है।"[२] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "परिस्थितियों का सामना करने को तैयार था और गणित में अटक न जाता, तो अवश्य आगे जाता। पर सबसे कठिन परिस्थिति युनीवर्सिटी की मनोविज्ञान-शून्यता थी, जो उस समय और उसके कई साल बाद तक उस डाकू का-सा व्यवहार करती थी, जो छोटे-बड़े सभी को एक ही खाट पर सुलाता था।"[३]

---

१. कफन पृष्ठ ६०–६१.
२. कफन पृष्ठ ६०.
३. कफन पृष्ठ ६८.

प्रेमचन्द ने नाटक से साहित्य-सर्जना का काम प्रारंभ किया था। यह शायद वही प्रहसन था, जिसे उन्होंने मामू के प्रणय-प्रसंग को लेकर लिखा था। यह बात सन् १८९३ की है।[1] सन् १८९८ में इन्होंने उपन्यास लिखना प्रारंभ कर दिया था। सन् १८९८ में "इसरारे मुहब्बत" नाम से एक उपन्यास लिखा। इसी समय "रूठी रानी" नाम से उन्होंने एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा।[2] डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है कि "हिन्दी में उन्होंने (प्रेमचन्द ने) अपना पहला उपन्यास "उर्दू बेगम" नागरी लिपि में लिखा।[3] किन्तु प्रमचन्द का अपना कथन है, "जब मैं इलाहाबाद में था, उन्हीं दिनों "कृष्णा" नाम का एक छोटा-सा उपन्यास लिखा था, और इंडियन प्रेस से छपवाया था।"[4] "मेरा एक उपन्यास सन् १९०२ में निकला, दूसरा सन् १९०४ में।"[5] उनके सुपुत्र अमृतराय बताते हैं, "सन् १९०१ के आसपास प्रेमचन्द ने अपना पहला उपन्यास "श्यामा" लिखा। मुझे बताया गया है कि उसमें प्रेमचन्द ने बड़े सतेज साहसपूर्ण स्वर में ब्रिटिश कुशासन की निन्दा की है।"[6] सन् १९०२ में "प्रेमा" और सन् १९०४ में "हम खुर्मा व हमसवाब" नामक उपन्यास इनकी कलम से उर्दू में आये।[7] विभिन्न सूत्रों से जान पड़ता है कि विधवा-विवाह की समस्या पर सन् १९०१ से लेकर सन् १९०४ तक प्रेमचन्द गंभीरता से सोचते रहे हैं, और इसी बीच इसी विषय को लेकर उन्होंने साहित्य-रचना की है।

सन् १९०२ में ये इलाहाबाद के ट्रेनिंग कालेज में भरती हुए। वहाँ से इन्होंने सन् १९०४ में प्रथम श्रेणी में जे० सी० टी० की परीक्षा पास की। प्रिंसपल ने प्रसन्न होकर वहीं के माडल स्कूल में हेडमास्टरी के पद पर उनकी नियुक्ति कर दी। सन् १९०५ में तब्दील होकर ये कानपुर आये, जहाँ इन्हें "जमाना" और उसके सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम के संपर्क में आने का अवसर मिला। "जमाना" में इनकी आलोचनाएँ और कहानियाँ छपने लगीं। सन् १९०८ में इनकी पदोन्नति मदरसों के सब डिप्टी इन्सपेक्टर के पद पर हुई और ये स्थानान्तरित होकर हमीरपुर चले गये।

यह क्या केवल संयोग था कि सन् १९०१ से लेकर सन् १९०४–५ तक लगातार विधवा-विवाह की समस्या पर विशदता और गंभीरता से विचार करने के बाद सन् १९०५ में इन्होंने शिवरानी देवी नामक एक विधवा से अपना दूसरा विवाह किया। प्रेमचन्द का पारिवारिक-जीवन सुखी न था। वे चाहते कि अपनी सौतेली माँ के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाये रहें और अपनी अबोध पत्नी को भी संतुष्ट रख सकें। सौतेली माता के प्रति वे सदैव सजग, त्यागपूर्ण कर्तव्यशीलता निबाहते रहे, लेकिन पत्नी को अनुकूल न बना सके। यह किसी कदर सम्भव नहीं हो सका। सन् १९०५ में मुंशी दयानारायण निगम को एक

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ ३६.
२. वही पृष्ठ २१५.
३. आ० हि० सा० वि० पृष्ठ १६१.
४. प्रे० घ० पृष्ठ १२.
५. कफन पृष्ठ ६३.
६. नई समीक्षा पृष्ठ २३२.
७. से० स० पृष्ठ ८.

पत्र में उन्होंने लिखा था, "ब्रादरम, अपनी बीती किससे कहूँ.....बीवी साहिबा ने ज़िद पकड़ी कि यहाँ न रहूँगी, मैके जाऊँगी......आज उनको गये आठ रोज़ हो गये। खत न पत्तर......गालबन उनकी बिदाई दायमी साबित हो। खुदा करे, ऐसा ही हो। मैं बिला बीवी के रहूँगा।"[१] ......लेकिन बिला बीवी के वे रहे नहीं। शिवरानीदेवी के पिता ने उनकी शादी ग्यारहवें वर्ष में कर दी थी और तीन-चार माह बाद वे विधवा हो गईं। पिता बेटी को सुखी देखना चाहते थे। उन्होंने पंडितों से सलाह करके इश्तहार निकलवाया। इश्तहार प्रेमचन्द ने भी पढ़ा और शिवरानी के पिता को पत्र लिखा। यद्यपि इस शादी में प्रेमचन्द की चाची वगैरह की सहमति न थी, लेकिन यह आपकी दिलेरी थी।[२] तो क्या प्रेमचन्द की इस दूसरी शादी को जीवन की महज एक साधारण घटना माना जाय या इसका कोई गहरा महत्व भी है? जान पड़ता है कि इस शादी में जीवन की एक साधारण आवश्यकता की पूर्ति ही निहित नहीं है। यह प्रेमचन्द की विद्रोही आत्मा की पहली अभिव्यक्ति है, जिसने समाज की अभिजात परम्पराओं के खिलाफ पहली बार अपनी आवाज़ बुलन्द की। वे अपनी मान्यताओं से पीछे नहीं रहना चाहते थे और पीछे रहे भी नहीं। उनकी कृति और अभिव्यक्ति में यह सामंजस्य उन्हें और ऊपर उठा सका है।[३]

इस समय उनके लेखन कार्य में तेजी आ गई थी। कलम मज़दूरों के फावड़े की तरह तेज़ चलती थी। वे लिखते हैं, "मैंने पहले पहल १९०७ में गल्पें लिखना शुरू किया। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था......मेरी पहली कहानी का नाम था—"संसार का सबसे अनमोल रत्न।" वह सन् १९०७ में "जमाना" में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह "सोज़े-वतन" के नाम से १९०७ में छपा। उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गरम दल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश प्रेम की महिमा गाई गई थी।" श्री रघुपति सहाय फिराक ने लिखा है कि "यह पुस्तक गल्प-लेखन के इतिहास में बहुत सुन्दर चिह्न है। देश प्रेम का शुभ भाव इन पृष्ठों में साँस ले रहा है। इन कहानियों में कोई बात आपत्तिजनक नहीं है। वह बहुत निश्चिंततापूर्वक लड़कों और लड़कियों की पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित की जा सकती है।"[४] लेकिन फिर भी सब-जिलाधीश को उनमें "सिडीशन" नजर आया और फैसला यह हुआ कि पुस्तक की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दी जायँ और धनपतराय साहब की बिना अनुमति के कभी कुछ न लिखें। "खैर सस्ते छूटे"—कह कर प्रेमचन्द ने इस घटना को टाल देना चाहा है। लेकिन निश्चय ही इस घटना ने उनके भीतर के साहित्यिक को एक नई ताकत और दृढ़ शहीदाना वृत्ति प्रदान की होगी।

"सोज़े-वतन" क्रम की कहानियाँ प्रेमचन्द के चाचा द्वारा प्रदत्त नवाबराय के नाम से

---

१. आ० अक्तूबर १९५२ पृष्ठ ३९.

२. प्रे० घ० पृष्ठ १४.

३. से० स० (पा० स०) पृष्ठ १०.

४. प्रे० सं० पृष्ठ ८८६.

निकली थीं। पिता का दिया गया धनपतराय नाम उनके जीवन की विषमताओं से कभी मेल न खा सका। अब दुलार के इस नाम नवाबराय से भी साथ छूटा। लिखना जरूरी था। बिना लिखे रहा नहीं जाता था। लिखने के लिए छद्म नाम चाहिए। इस नाम की इच्छा प्रकट करते हुए उन्होंने मुंशी दयानारायण निगम को लिखा था—"नवाबराय तो कुछ दिनों के लिए जहान से गये। दोबारा याद दहानी हुई है कि तुमने मुआहिदे में गो अखबारी मज़ामीन नहीं लिखे। मगर इसका मंशा हर किस्म की तहरीर से था, गोया ख़ाह में किसी उन्वान पर लिखूँ, ख़ाह वह हाथीदांत ही क्यों न हो, मुझे पहले जनाब फ़ैज़—गआब कलक्टर साहब बहादुर की खिदमत में पेश करना होगा और मुझे छटे-छमाहे लिखना नहीं। यह तो मेरा रोज का धन्धा ठहरा। हर माह एक मज़मून साहब बहादुर की खिदमत में पहुँचे तो वह यह समझेंगे कि मैं अपने सरकारी फरायज में खयानत करता हूँ और काम सिर पर थोपा जायगा। इसलिए नवाबराय मरहूम हुए, उनके जानशीन कोई और साहब होंगे"[१].....ये साहब प्रेमचन्द हुए और यह नाम मुंशीजी का सुझाया हुआ था।[२] मुंशी दयानारायण निगम ने प्रेमचन्द नाम सुझाया और 'सोजे-वतन' के अग्नि-समर्पण-कांड के बाद नवाबराय हमेशा के लिए प्रेमचन्द बन गये।

इस प्रसंग में एक मनोरंजक घटना का उल्लेख श्री सुदर्शन ने किया है। एक मुलाकात के दौरान में श्री सुदर्शन ने पूछा, "आपने नवाबराय नाम क्यों छोड़ दिया ?" प्रेमचन्द हँसकर बोले—नवाब वह होता है जिसके पास कोई मुल्क भी हो। हमारे पास मुल्क कहाँ ?

"बेमुल्क नवाब भी होते हैं।"

"यह कहानी का नाम हो जाय, तो बुरा नहीं, मगर अपने लिए यह नाम घमंडपूर्ण है। चार पैसे पास नहीं और नाम नवाबराय। इस नवाबी से प्रेम भला, जिसमें ठण्डक भी है, संतोष भी है।"[३]

लेखन-कार्य बराबर चलता रहा। नवाबराय के सदा के लिए विलोप के बाद प्रेमचन्द का उदय हुआ। प्रेमचन्द की पहली कहानी "ममता" थी, जो १९०९ या १० में 'जमाना' में निकली थी।[४] और फिर नियमित रूप से "ज़माना" में उनकी कहानियाँ निकलने लगीं। कहा जाता है कि "रानी सारन्धा", "राजा हरदौल", "विक्रमादित्य का तेगा" सरीखी कहानियाँ इसी समय लिखी गईं।[५]

सरकारी नौकरी के प्रसंग में महोबा, गोरखपुर, बस्ती आदि स्थानों में रहना हुआ, जहाँ ये मन्नन द्विवेदी गजपुरी और महावीर प्रसाद पोद्दार के सम्पर्क में आये। यों हिन्दी-उर्दू में स्पेशल वर्नेकुलर का इम्तिहान १९०४ में पास कर चुके थे,[६] लेकिन सम्भवतः इन

---

१ प्रे० जी० कृ० पृ० ५४-५५

२. वही पृष्ठ ५३.

३. प्रे० अं० पृ० ९१४.

४. वही पृष्ठ ९१३.

५. से० स० (पा० सं०) पृष्ठ ९

६. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ २१.

महानुभावों के प्रेरणा और प्रोत्साहन से प्रेमचन्द ने हिन्दी सीखी और उर्दू के साथ-साथ हिन्दी में भी लिखना प्रारंभ किया। सन् १९१३ के लगभग इन्होंने हिन्दी में कहानियाँ लिखना शुरू किया।[१]

अध्ययन, लेखन और अध्यवसाय साथ-साथ चलते रहे। इसी अवधि में उन्होंने इण्टर (सन् १९१४) और बी० ए० (सन् १९१९) की परीक्षाएँ पास कीं। एम० ए० करने की बड़ी इच्छा थी और उसके लिए प्रेमचन्द ने तैयारी शुरू कर दी थी।[२] लेकिन वे एम० ए० नहीं कर पाये।

सरकारी नौकरी के सिलसिले में स्थान-स्थान भटकने और लगातार दौरे की जिन्दगी बसर करने के कारण आपके स्वास्थ्य पर बड़ा असर पड़ा। वे पेचिश के शिकार हो गये और यह बीमारी अन्त में उनके प्राण ही लेकर रही।

इस बीच आर्थिक दृष्टि से यद्यपि प्रेमचन्द के जीवन में स्थिरता आ गई थी लेकिन मन की अस्थिरता निरन्तर बढ़ रही थी। "सोज़े-वतन" वाली घटना को मन में रखकर वे अपनी परिस्थितियों से कभी पूरा-पूरा समझौता नहीं कर पाये। जीवन की विषमताओं में से गुज़रने के कारण उनमें चिन्तन और आलोचन की प्रवृत्ति पैदा हो गई थी। स्वावलम्बन के महत्व, श्रम की इज़्ज़त और सहज मानवीयता के भाव उनके जीवन में जागृत हो चुके थे। उनका कहना था कि "अफसर बनकर इन्सान इन्सान नहीं रहता।"[३] उनकी पत्नी बताती हैं "हुक्के की चिलम तक भरवाना वे मुझसे पसन्द नहीं करते थे। नौकर दरवाज़े पर बैठा रहता था। लेकिन अन्दर आकर वे पानी पीते थे। धोती भी खुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर खाली ही रहता। कभी-कभी मैं (शिवरानी) इन हरकतों पर बिगड़ भी जाती और कहती, नौकर फिर क्यों है? आप बोलते---"अपनी जरूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज जो नौकर है, हो सकता है, कल वह नौकर न रहे। फिर मैं पाँच रुपये का नौकर तो खुद था।[४] मुझे अपना काम करते शर्म नहीं मालूम होती। अपना काम करना क्या जुर्म है? फिर मैं अपने को मजदूर कहता भी हूँ।"[५] मैं कहता हूँ कि जिस दिन मुझे किसी की कमाई खाने का वक्त आयेगा, मैं जहर खा लूँगा। मैं इतना नीच नहीं हूँ।"[६] नौकरी से इस्तीफा देने के पूर्व उनका पत्नी से जो वार्तालाप हुआ उसमें उनके मन की स्पष्ट झाँकी मिलती है—

शिवरानी—जब उन्होंने (चाची वगैरह ने) हमारे आराम-तकलीफ का ठेका नहीं लिया है, तो हमी क्यों लें?

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ २९.
२. आ० अक्टू० पृष्ठ ४४.
३. प्रे० घ० पृष्ठ १५.
४. वही पृष्ठ ३६.
५. वही पृष्ठ ३९.
६. वही पृष्ठ ५०.

आप—"तो तुम इसके ऊपर यह कह सकती हो कि जब सरकारी नौकरियाँ और नहीं छोड़ रहे हैं, तब मैं ही क्यों छोड़ूँ ?........यह एक पक्ष का काम नहीं है। यह तो देश भर की बात है।"

मैं बोली—"फिर इसमें त्याग, तपस्या और बलिदान है, वह अपनी मर्जी से मनुष्य कर सकता है।"

"जिसको तुम त्याग, तपस्या और बलिदान समझती हो, वह एक भी नहीं है। यह तो हम-तुम दोनों का अपने पापों का प्रायश्चित करना मात्र है।"

"तो हम लोगों ने पाप क्या किये हैं ?"

"तुमने नहीं किये, तो तुम्हारे बुजुर्गों ने किये। क्योंकि आराम के नशे में वही लोग डूबे थे। अपनी विलासिता के नशे में अन्धे होकर पड़े थे, तभी मुल्क में फूट भी पैदा हुई और दोनों फ़रीकों को हटाकर तीसरा विजयी हुआ। मुमकिन है कि वह विलासिता में डूबने वाले हमी-तुम हों और फिर से जन्म मिला हो। यह विकट पहेली कुछ समझ में नहीं आती। यह जो तुम्हारे ऊपर शासन कर रहे हैं, यह क्या विजयी हुए थे। इनके बड़े लोग विजयी हुए थे।"

"विजेता कभी गर्व से अन्धा भी हो सकता है ?"

"इस जगह तुम ग़ल्ती पर हो। विजेता हमेशा गर्व से अन्धा रहता है। अगर विजेता गर्व से अन्धा न हो तो उसे मनुष्य न कहना चाहिए, बल्कि देवता। अगर देवता नहीं है तो यह कहता हूँ कि तुम्हारे भाई-बन्द क्या कम अन्धे थे, जो कि विजेता भी नहीं हैं : यहाँ जो हिन्दुस्तानी हाकिम आता है वह अंग्रेजों की अपेक्षा कहीं कड़ा शासन करता है और उसी से देख-देखकर हमारे नवयुवकों की वृत्ति भी उसी तरह की होती जा रही है। मुझे इस स्थान पर रहीम का दोहा बहुत उपयुक्त मालूम हो रहा है—प्यादे से फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय। मैं तो कहता हूँ, बहुत दिन लग जायँगे हिन्दुस्तानियों को अपनी मनोवृत्ति बदलने में, क्योंकि इधर वे कोई ५०० वर्ष से गुलामी में रह चुके हैं। तुम क्या समझती हो कि उनकी आत्मा १०–२० साल में सुधर जायगी ? स्वराज्य मिलने पर भी, मैं कहता हूँ कि, इसमें काफी दिन लगेंगे।"[१]

नौकरी छोड़ने के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है—यह १९२० की बात है। असहयोग आन्दोलन जोरों पर था। जलियाँवाले बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मा गांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। ग़ाजी मियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेट-फार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर, क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह मैंने अपने जीवन में कभी न देखा था। महात्माजी के दर्शनों का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा आदमी भी चेत उठा। इसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।[२]

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ६५-६६

२. क़फ़न पृष्ठ ६७.

हेडमास्टर ने रोकना चाहा, तो कह दिया, "मेरी आतमा नहीं चाह रही है, हेडमास्टर साहब, मैं ऐसा करने के लिए विवश हूँ।"[१] चार वर्ष बाद अलवर महाराज को एक पत्र में लिखा था, "मैं बहुत बाग़ी आदमी हूँ, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी।"

इस समय तक समाज के भीतर पैंठने वाली आलोचक-दृष्टि लेकर प्रेमचंद सेवासदन का सृजन कर चुके थे, प्रेमाश्रम लिखा जा रहा था और "दो भाई", "धोखा", "बेटी का दान", "शंखनाद" और "पंचपरमेश्वर" जैसी कहानियाँ प्रसूत हो चुकी थीं।

(३) सन् १९२१-१९३६

सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के बाद प्रेमचन्द के मन पर पड़ा अप्रत्यक्ष प्रतिबन्धों का बोझ एकबारगी उठ गया। मन ने तो स्वास्थ्य हासिल किया ही, साथ-साथ शरीर भी निरोग हो गया। सरकारी नौकरी के लम्बे अर्से में प्रेमचन्द पेट के रोग के मरीज हो गये थे। "गुलामी से मुक्त होते ही मैं ९ साल के जीर्ण रोग से मुक्त हो गया।"[३]

प्रेमचन्द अब कर्मण्यता और व्यस्तता के जीवन में उतर आये। सन् १९३५ में डा० इन्द्रनाथ मदान को उनकी जिज्ञासा के उत्तर में प्रेमचन्द ने लिखते हुए अपने नितान्त कर्मशील और व्यस्त जीवन के साथ-साथ अपने जीवन के व्यक्तिगत पक्ष को भी जानने का मौका दिया है। वे लिखते हैं—

"नहीं, मेरे जीवन में कोई प्रेम-प्रसंग नहीं घटा। मेरे विवाहित जीवन में कोई रोमांस नहीं है। मेरी पहली पत्नी १९०४ में मर गई। वह एक अभागी स्त्री थी। वह देखने में तनिक भी अच्छी नहीं थी और मैं उससे संतुष्ट नहीं था। फिर भी जैसे सभी पति करते हैं, मैं बिना किसी शिकवे-शिकायत के उसका निर्वाह करता रहा। जब वह मर गई, तो मैंने एक बाल-विधवा से शादी कर ली।"[४] इस प्रसंग में ज़रा-सा स्पष्टीकरण आवश्यक है। श्रीमती शिवरानी देवी ने लिखा है कि वे (प्रेमचन्द की पहली पत्नी) उनके आ जाने के बाद बहुत दिनों तक थीं। लेकिन प्रेमचन्द का कहना था, जिसको इन्सान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे समझे मर गया, मर गया।"[५]......सन् १९०५ में पत्नी के मायके चले जाने के बाद प्रेमचन्द उन्हें अपने लिए मृतवत् समझते थे।

आगे फिर वे लिखते हैं—"नहीं, मेरे जीवन में कोई प्रेम-प्रसंग नहीं घटा। इतना व्यस्त था और जीविकोपार्जन इतना कठिन कार्य था कि उसमें रोमांस के लिए स्थान ही नहीं था। कुछ बहुत ही साधारण ढंग की बातें अवश्य हैं, पर मैं उन्हें प्रेम-प्रसंग नहीं कह सकता।"[६] साधारण ढंग की बात के विषय में मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्होंने अपनी पत्नी

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ७०.
२. प्रे० घ० पृष्ठ ९७.
३. कफ़न पृष्ठ ६८.
४. प्रे० वि० पृष्ठ १७७.
५. प्रे० घ० पृष्ठ ३३-३४.
६. प्रे० वि० पृष्ठ १७७.

से कहा था : "अच्छा, एक और चोरी सुनो। मैंने अपनी पहली पत्नी के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा सम्बन्ध था।"[१]

अब तक जीवन की जिन विषमताओं में से प्रेमचन्द गुजरे थे, उनके अनुभव ने उन्हें कट्टर भाग्यवादी बना दिया था। वे लिखते हैं, "अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान की जो इच्छा होती है, वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता"[२] लेकिन यह भाग्यवादिता अकर्मण्यता की पर्याय नहीं है। जीवन में मिलने वाली असफलताओं और विषमताओं के आधार पर प्रेमचन्द भाग्यवादी हो गये थे, लेकिन क्या ऐसी ही भाग्यवादिता हम जयशंकर "प्रसाद" में नहीं पाते ? तो जान पड़ता है कि यह भाग्यवादिता उस ढंग की थी, जैसी "कर्मण्येवाऽधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन" में मिलती है। सन् १९२१ में प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ी। सन् १९२४ में उनका 'रंगभूमि' निकला। 'रंगभूमि' का सूरदास कहता है, "तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मजे हुए खिलाड़ी हो। तुम जीते मैं हारा, तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते हैं। गाली ग़लौज मारपीट करते हैं। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेन दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे। एक न एक दिन हमारी जीत होगी।" यह कथन जीवन की लड़ाई में हारे हुए का उद्‌गार हैं किन्तु ऐसे हारे हुए का, जो पराजय को परिणाम नहीं मानता है, महज एक घटना मानता है और जिसकी आशा का सम्बल कभी चुकेगा नहीं।

६ जुलाई १९२० को इनके दूसरे बच्चे की मृत्यु हो गई, जिसका सदमा उनके मन पर गहरा हुआ। उन्होंने २८ जुलाई को सैयद इम्तयाज़ अली ताज को लिखा था—

"६ जुलाई को छोटा बच्चा चेचक से मुब्तला हो गया और हमेशा के लिए दाग दे गया। अभी तक इस ग़म से तबियत को निजात नहीं हुई। सबर तो हो गया, मगर याद बाकी है और शायद ताज़ीस्त रहेगी। इसे अपने एमाल का नतीजा समझता हूँ और क्या।"[३]

इन पंक्तियों में उस दार्शनिक मन के बनाव की इब्तिदा है, जिसने सन् १९२३ में मु० दयानारायण निगम को विस्तृत पत्र लिखाया था, और जिसने सूरदास के मनोविज्ञान का सूत्र प्रदान किया था। सन् १९२३ में मुंशी दयानारायण निगम को उनके एक छोटे बच्चे की मृत्यु पर जो पत्र प्रेमचन्द ने लिखा है, उसमें ठीक वही बातें कही गई हैं, जो उन्होंने सूरदास के मुँह से कहलवाई हैं—

"बीमारियाँ और परेशानियाँ तो जीवन के तत्व हैं, किन्तु बच्चे की शोकजनक मृत्यु एक हृदयविदारक घटना है और उसे सहन करने का यदि कोई ढंग है, तो यही है कि संसार को एक तमाशा का स्थान या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ३५६.

२. कफन पृष्ठ ६८.

३. आ० अक्टू० पृष्ठ ४४.

वही व्यक्ति प्रशंसा का भागी होता है जो जीत से फूलता नहीं, हार से रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है, हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह उद्योग होता है कि लड़े नहीं। हार के बाद जीत की अभिलाषा होती है। हम सब के सब खिलाड़ी हैं। किन्तु खेलना नहीं जानते। एक बाजी जीती, एक गोल जीता तो "हिप हिप हुर्रे" की ध्वनि से आकाश मण्डल गूंज उठा। टोपियाँ आकाश में उछलने लगीं। भूल गये कि यह जीत सर्वदा के लिए विजय की गारंटी नहीं है कि दूसरी बाजी में हार न हो। इसी प्रकार यह भी स्पष्ट रहे कि यदि हारे, तो उत्साहरहित हो गये, रोये, किसी को धक्के दिये, फाउल खेला और ऐसे उत्साहहीन हो गये मानों फिर जीत का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त न होगा। ऐसे ओछे अधम व्यक्ति को खेल के विस्तृत मैदान में खड़े होने का कोई अधिकार नहीं। अंधेरी कोठरी और पेट की चिन्ता, केवल यही उसके जीवन की सृष्टि है।

"हम यह क्यों ख्याल करें कि हमें हमारे भाग्य ने धोखा दिया? ईश्वर को क्यों कोसें। हम इस विचार को सम्मुख रखकर क्यों दुखी हों कि जगत हमारे बीच से हमारी भरी थाली खींच लेता है, क्यों इस चिन्ता से पीड़ित हों कि डाकू हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है। जीवन को इस दृष्टि से देखना अपने हृदय की शान्ति से हाथ धोना है। बात दोनों एक ही हैं। डाकू ने छापा मारा तो क्या, हार में घर की सब पूँजी खो बैठे तो क्या। भेद केवल यह है कि एक बात मजबूरन होती है और दूसरी बात अपनी ओर से होती है। डाकू ज़बरदस्ती जान और माल पर हाथ बढ़ाता है, किन्तु हार ज़बरदस्ती नहीं आती। खेल में सम्मिलित होकर हम स्वयं हार या जीत को बुलाते हैं। डाकू के द्वारा लूटा जाना जीवन की साधारण बात नहीं, बल्कि यह तो एक असाधारण घटना है। खेल में हारना और जीतना साधारण बातें हैं। जो खेल में सम्मिलित होता है, वह भलीभाँति जानता है कि हार और जीत दोनों सामने आयेंगी। इस कारण उसे खेल से निराशा नहीं होती, जीत से फूल नहीं जाता। हमारा काम तो केवल खेलना है—खूब दिल लगाकर खेलना। खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस प्रकार बचाना मानों हम दोनों लोकों की सम्पत्ति खो बैठेंगे; किन्तु हारने के पश्चात्, पटखनी खाने के बाद, धूल झाड़कर खड़े हो जाना चाहिए और फिर ताल ठोंककर विरोधी से कहना चाहिए कि एक बार फिर!

"खिलाड़ी बन कर वास्तव में आपको बहुत शान्ति प्राप्त होगी। मैं नहीं कह सकता कि इस कसौटी पर मैं पूरा उतरूँगा या नहीं, पर अब मुझे किसी क्षति पर इतना खेद कदापि न होगा, जितना आज से कुछ वर्षों पूर्व हो सकता था। मैं संभवतः अब यह न कहूँगा कि हाय, जीवन व्यर्थ हुआ। कुछ न किया।"[१]

इस लम्बे पत्र से प्रेमचन्द की आन्तरिक झाँकी मिलती है। मन की यह बनावट लेकर, मन को दार्शनिक ढंग से जीवन के खेल के लिए तैयार करके प्रेमचन्द उसमें प्रविष्ट हुए थे। "रंगभूमि" के सूरदास स्वयं प्रेमचन्द हैं, जिन्होंने जीवन को खेल की तरह खेला और हार को कर्मयोगी की भाँति अनासक्त-भाव से स्वीकार किया।

---

१. प्रे० अं० पृष्ठ ८६६-६७.

इस प्रसंग में एक बात और द्रष्टव्य है। प्रेमचन्द घोर नास्तिक थे। वे भगवान के अस्तित्व पर कभी विश्वास नहीं कर सके। सन् १९३४ में डा० इन्द्रनाथ मदान को उन्होंने एक पत्र में लिखा था—

"आरम्भ में चिन्तन के परिणाम-स्वरूप नहीं, वरन् परम्परागत विश्वास के कारण मैं एक महान् दैवी शक्ति में विश्वास रखता था। वह विश्वास अब टूट रहा है। यद्यपि विश्व के पीछे कोई हाथ है, लेकिन मैं नहीं समझता कि उसे मानवीय कार्यों से कुछ लेना-देना है"[1] और इसके कोई चार वर्ष पूर्व जैनेन्द्रकुमार से उन्होंने कहा था—"जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ, जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है, यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है। यह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब इस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा कसूर है? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती, तब उस दयासागर में कैसे विश्वास हो।"[2] ईश्वर में वे कभी आस्था नहीं रख सके। जीवन की घोर विषमताओं के बीच ईश्वर का अस्तित्व वे मानते भी कैसे![3] इतने घोर अनीश्वरवादी कि मौत के दिनों में भी वे कहते रहे कि "जीवन में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।"[4] सन् १९३५ में जैनेन्द्रकुमार को एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।"[5] मौत के चन्द घण्टों पहले उन्होंने जैनेन्द्रकुमार से कहा था, "जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद करते हैं ईश्वर, मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर मुझे अभी तक ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।"[6]

इस्तीफा देने के बाद सबसे पहले उन्होंने महावीर प्रसाद पोद्दार के साथ साझे में चर्खे की दूकान की। फिर बनारस आकर कर्घों का काम शुरू किया। दोनों में सफलता न मिली तो कानपुर में स्वदेशी आन्दोलन में प्रारम्भ किये गये एक विद्यालय में नौकरी कर ली। वहाँ भी न पटी तो बनारस आकर डेढ़ वर्ष तक "मर्यादा" का सम्पादन किया, जब तक श्री सम्पूर्णानन्द जेल में रहे। उनके छूटकर आने के बाद काशी विद्यापीठ में अध्यापक हो गये। इस कार्य से भी एक वर्ष बाद अलग हो गये, लमही चले आये और देहात में बैठकर कुछ प्रचार और कुछ साहित्य-सेवा में जीवन सार्थक करने लगे।[7]

इसी बीच (सन् १९२३ में) कुछ साझेदारों के साथ उन्होंने बनारस में सरस्वती प्रेस की स्थापना की और अपने अनुज महताबराय को उसकी व्यवस्था में लगाया। खुद लखनऊ

---

१. प्रे० वि० पृष्ठ १७५

२. प्रे० अं० पृ३ ७८०.

३. अन्तिम दिनों में तो वे दृढ़ रूप से अनीश्वरवादी हो गये थे।

४. प्रे० अं० पृष्ठ ८५३.

५. आ० अक्टू० पृष्ठ ४९.

६. प्रे० अं० पृष्ठ ९११.

७. कफन पृष्ठ ६८.

की गंगा पुस्तकमाला में नौकर हो गये। तब तक "रंगभूमि" लिखी जा चुकी थी। सन् १९२६ में लौटकर सरस्वती प्रेस की देख-रेख में लग गये। सन् १९२८ में उन्होंने 'माधुरी' का सम्पादन स्वीकार किया, जहाँ सन् १९३१ तक रहे। इसी अवधि में (सन् १९३० में) बनारस से "हंस" का सम्पादन शुरू कर दिया। इस बीच "प्रतिज्ञा", "निर्मला" और "कायाकल्प" का सृजन हो चुका था।

नौकरी से इस्तीफा देने के बाद से इस समय तक की कुछ घटनाएँ उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती हैं:

(१) एक तो है, सन् १९२४ में अलवर राज्य का निमन्त्रण। अलवर के राजा साहिब ने ४००) नकद, बँगला और मोटर पर इन्हें अपने पास रहने के लिए बुलाया था। अभी-अभी नौकरी छूट चुकी थी। अनिश्चित वर्तमान और भविष्य था और इस अच्छी नौकरी का लोभ। लेकिन अपनी बागी-वृत्ति की ओर संकेत करते हुए उन्होंने राजा साहिब को यह पत्र लिखा—

'मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य-सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आज जो पद मुझे दे रहे हैं, मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका, तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा।

एक साहित्य सेवी—
धनपतराय[1]"

(२) दूसरी घटना सन् १९२८ के लगभग की है। लखनऊ में गवर्नर (वाइसराय?) की अगवानी पर ४०,०००) आतिशबाज़ी और रोशनी पर खर्च हुए। प्रेमचन्द का मन खिन्न हो उठा। अपनी पत्नी से इस घटना को उन्होंने इन शब्दों में बयान किया है, "अब सुनो आतिशबाजी की बात। जो राजे-महाराजे हर साल यहाँ आते हैं, वे कुछ न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब-जब वाइसराय और युवराज यहाँ पधारें, तो उनके स्वागत में खर्च हो और जो कमी पड़ती, वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारों से वसूल किया जाता है। उन गरीबों के खून की कमाई, कूड़ा-घास की तरह आतिशबाजी में फूँक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की औसत आमदनी छै पैसे रोज़ हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है कि एक-एक शहर में ४०-४० और ५०-५० हजार आतिशबाज़ी में फूँका जाय। जहाँ तन ढँकने को कपड़ा न हो, दोनों जून रूखी रोटियाँ भी न मिलें, उस मुल्क में इस बेरहमी से पैसा फेंका जाय, और इसलिए कि वाइसराय साहब खुश होंगे और इन मोटे आदमियों को खिताब देंगे।[2]

(३) तीसरी घटना सन् १९२९ की है। सर मालकम हेली उत्तर प्रदेश के गवर्नर थे। उन्होंने प्रेमचन्द को रायसाहबी का खिताब देना चाहा और प्रेमचंद को खबर भिजवाई।

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ९७.
२. प्रे० घ० पृष्ठ १४७.

प्रेमचन्द को लगा—'तब मैं जनता का आदमी न रहकर एक पिट्ठू रह जाऊँगा........उसी तरह जैसे और लोग हैं। अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है, तब गवर्नमेंट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा।'[1] और उन्होंने निश्चय किया, "उनको धन्यवाद लिख दूँगा और लिख दूँगा कि जनता का तुच्छ सेवक हूँ, अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आँखों पर, गवर्नमेन्ट की रायसाहबी की इच्छा नहीं।"[2]

तब तक अनेक उपन्यास लिखे जा चुके थे। "ग़बन" लिखा जा रहा था। कहानियों में कफन, तथ्य, ईदगाह और अलगोझ्या इसी समय की हैं।

सन् १९३० के आन्दोलन ने उन्हें अछूता न छोड़ा। वे जेल तो पारिवारिक मजबूरियों के बीच न जा सके, शिवरानीदेवी ने जेल-यात्रा की। श्री जैनेन्द्रकुमार को एक पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा—

"मेरी पत्नी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सज़ा पा गई हैं। कल फैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिनों से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा कर ही रहा था, पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।"[3] लेकिन अगर रास्ता बन्द न होता, तो भी वे शायद जाते नहीं। जेल न जाने के बारे में उन्होंने लिखा है—

"मैं जेल कभी नहीं गया। मैं क्रियात्मक आदमी नहीं हूँ।"[4]

सन् १९३१ में "हंस" में इनकी "समर यात्रा" कहानी छपी। सन् १९३० के स्वाधीनता आन्दोलन की यह ऐसी विद्रोही तसवीर थी कि इसके लिए "हंस" से ज़मानत माँग ली गई।

प्रेमचन्द जैसे साधक के लिए यह मुमकिन न था कि साहित्य को व्यापार की तरह कर सकें। प्रेस चलाने में मज़दूरों का ख्याल ज़्यादा रखते। हमेशा यह सावधानी रखते कि उनके साथ इन्सानियत का बर्ताव हो। फरवरी १९३३ में मैनेजर की ज्यादतियों से परेशान होकर कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। तब प्रेमचन्द ने कर्मचारियों का पक्ष लेते हुए कहा, "नहीं, मैनेजर की सब शरारत है। कभी घड़ी को सुस्त कर देता है, कभी तेज़ कर देता है। मैंने एकान्त में बीसियों बार समझा दिया है कि बाबा, ऐसा मत किया कर, पर माने तब न। फिर प्रेस में तो तरह-तरह के घाटे हैं। क्या इन्हीं मज़दूरों के बल पर घाटे पूरे होंगे। हम लोगों को तो ज़्यादा रुपये मिलते हैं, पर खर्च भर को पूरा नहीं पड़ता। तब ग़रीबों को कैसे पूरा पड़ेगा? पैसों की मुसीबत तो उन लोगों के सिर पर है। इन लोगों की तनख्वाह तब नहीं कटती, जब ये लोग हफ्तों गायब रहते हैं। तब क्यों मज़दूरों की ही तनख्वाह, चार मिनिट देर से आये, तो कट जाय। जरा सी ग़लती कहीं हुई कि चट निकालकर दूसरे को बुला लिया। हमारे यहाँ पढ़ा-लिखा समाज सबसे ज़्यादा खुदगर्ज हो गया है।"[5]

---

१. प्रे० घ० पृ० १६०

२. प्रे० घ० पृ० १६१.

३. प्रे० घ० पृ० ७८१.

४. प्रे० वि० पृ० १७४.

५. प्रे० घ० पृ० २१०.

अब तक "कर्मभूमि" लिखा जा चुका था।

घाटा होने लगा था। 'जागरण' निकाला उसमें घाटा, प्रेस में घाटा। घाटा जब बर्दाश्त के बाहर हो गया, तो रुपयों की फ़िक्र पड़ी। संयोग से सन् १९३४ में बम्बई के अजन्ता मूवीटोन से ९,०००) साल का आमंत्रण मिला। रुपया पा सकने का लोभ तो था ही, फिल्म के काम को वे अपने महान् उद्देश्य में सहायक भी समझते थे। सन् १९२९ में रेल में सफर करते वक्त भेड़िया-धसान इंटर में घुस आनेवाले देहाती मुसाफिरों के प्रति इन्सानियतपूर्ण भावना व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था, "ये (देहाती मुसाफिर) उपन्यास लेकर थोड़े ही पढ़ते हैं। हाँ, उन उपन्यासों के फिलम तैयार कर गाँव-गाँव मुफ्त दिखलाए जाते तो लोग देखते।"[१]

तो बम्बई फिल्म के कार्य के लिए जाने में यद्यपि प्रत्यक्ष आकर्षण पैसों का था, किन्तु अगर इसमें भी वे अपने महान् आदर्शों को आगे बढ़ा सकने की संभावना नहीं देखते, तो शायद न भी जाते। अपनी पत्नी से वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने यह मंतव्य स्पष्ट कर दिया है, "जो वहाँ जाने का खास फ़ायदा होगा वह यह कि उपन्यास और कहानियाँ लिखने में जो फायदे नहीं हो रहे हैं। उससे कहीं ज्यादा फिलम दिखलाकर हो सकता है। कहानियाँ और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वही तो उससे लाभ उठा सकेंगे। फिलम से हर जगह के लोग फायदा उठा सकते हैं।"

मैं बोली—"लोग फायदा उठा सकते हैं, उससे मेरा क्या उपकार होगा ?"

आप बोले—"यही तो तुम्हारी ग़लती है। लोगों के उपकार के लिए मैं थोड़े ही लिखता हूँ ? अपनी आत्मा की शान्ति के लिए जो कुछ लिखता हूँ, उसको तादाद में जितने ज्यादा समझ सकें, देख सकें, पढ़ सकें, उतनी ही मुझे ज्यादा शान्ति मिलेगी और उसके बाद, दूसरा फायदा यह होगा कि "हंस" और "जागरण" के चलाने के लिए मैं ज़्यादा रुपया दे सकूँगा।"[२]

किन्तु फिल्मी जिन्दगी उनको मुआफिक न हो पाई। बात यह है कि अपने निश्चित सिद्धान्तों के साथ वे समझौता करने को तैयार नहीं थे। "सेवा सदन" "बाजारे हुस्न" के नाम से फिल्मीकृत हो चुका था। उनकी "मिल-मज़दूर" कहानी का फिल्मी विद्रूप "मज़दूर" नाम से निकला। फिर "डामुल का कैदी" तथा कुछ और कहानियाँ फिलम के लिए उन्होंने लिखीं और लौट आये। जैनेन्द्रकुमार को बम्बई से लिखे गये एक पत्र में उन्होंने फिल्मी-संसार के बारे में अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं :

"फिल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने, तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, "मैं जनरुचि को जानता हूँ, आप नहीं जानते।" इसके विरुद्ध डाइरेक्टर ज़ोर से कहता है, "मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है

---

१. प्रे० घ० पृ० २१०.
२. वही पृष्ठ २३१-२३२.

और हम यहाँ जनता की इसलाह करने नहीं आये हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज़ है। जो चीज़ जनता हमसे माँगेगी, वही हम देंगे।" इसका जवाब यही है—अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं। वही मैं कर रहा हूँ।"[1] और वही उन्होंने किया।

तब तक "गोदान" समाप्त-प्राय था। समस्याओं की पकड़ गहरी हो चुकी थी, लेकिन उन्हें देखने की दृष्टि बदल चुकी थी। इसलिए न "ग़बन" "सेवासदन" के ढंग पर लिखा जा सका और न "गोदान" "प्रेमाश्रम" के ढंग पर। उनके पिछले विश्वास गिर चुके थे, नई आस्थाएँ अंकुरित हो चुकी थीं।

बम्बई से लौटने के बाद से उनका स्वास्थ्य फिर गिर चला। आर्थिक चिन्ताएँ अलग सर उठाए थीं और जीवन को एक मिशन की शक्ल देने के बाद उसमें विराम की गुंजाइश नहीं थी। भारतीय साहित्य परिषद के साथ "हंस" और अपने को संलग्न करने के बाद उनका कार्य-क्षेत्र और विस्तृत हो गया था।

उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और वे बीमारी में तिल-तिल घुलने लगे। लेकिन लिखने का काम तब भी बन्द नहीं हुआ। उन्होंने "मंगल-सूत्र" लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उसी के लिए अपना समय दे रहे थे। "मंगल-सूत्र" की रचना के समय प्रेमचंद ने "महाजनी सभ्यता" के नाम से एक लेख लिखा था। उसमें वे कहते हैं—

"मगर इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज पैसा है। किसी देश पर राज्य किया जाता है, तो इसलिए कि महाजनों, पूँजीपतियों को ज्यादा से ज्यादा नफ़ा हो। इस दृष्टि से आज दुनिया में महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य-समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपनेवालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किये हुए हैं। उन्हें उस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू‍रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय।"[2]

"मंगलसूत्र" में आकर प्रेमचन्द वर्ग-संघर्ष को समाज की अनिवार्य घटना मान कर चले हैं और समाज के पतनोन्मुख स्वरूप से खूब परिचित हो गये हैं।

फिर "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना में योगदान देने में काफी समय जाता था। १९३६ में "गोदान" का प्रकाशन हुआ, "हंस" को भारतीय साहित्य परिषद का संरक्षण प्राप्त हो गया। लखनऊ में प्रगतिशील साहित्य संघ के पहले अधिवेशन में सभापति पद से प्रेमचन्द बोले, पंजाब लिटररी लीग के सामने "साहित्यकार और सौन्दर्य बोध" पर उनका भाषण हुआ। १८ जून १९३६ को गोर्की की मृत्यु पर महान् कलाकार को उन्होंने अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं और ८ अक्टूबर को प्रातःकाल संसार से विदा हो गये।

अपने जीवन के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है—

---

१. प्रे० अं० पृष्ठ ९००.

२. प्रभात ग्वालियर-६ अक्टूबर, ५२ पृष्ठ ८.

"मेरा जीवन सपाट समथल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खण्डहरों का स्थान नहीं है।"[१]

प्रेमचन्द के जीवन में उनकी पत्नी सदैव उत्साहदायिनी और प्रेरणारूप रही हैं। एक घटना शिवरानीजी ने यों बयान की है:

"सन् १९२४ की बात है, आप बेदार साहब के यहाँ गये हुए थे............. बेदार साहब शराबी थे। खुद पिया, आपको भी पिलाया। वहाँ से लौटे, तो डेढ़ बजे, नशे में चूर.........मुझे क्रोध आ गया..........मेरे कहने पर उन्होंने कहा कि अब नहीं पियूँगा.......उसके ५-६ रोज़ बाद, फिर उन्हीं के यहाँ से पीकर आये। उस दिन ८ बजे के लगभग लौट आये। रात को दो बार कै हुई। मैं तो उठी नहीं, मेरी भाभी ने देख-रेख की। सुबह जब नशा उतरा, तो बोले—रात को मेरी यह हालत थी। तुम कहाँ थीं? मैं बोली—मैं इन आदतों के फेर में पड़नेवाली नहीं। मैं उसी दिन आपसे कह चुकी हूँ।

आप बोले—"बेचारी दुलहिन न होती तो मुझे पानी देनेवाला कोई नहीं था।"

मैं—"मैं इसके लिए पहले ही बता चुकी हूँ।"

"तुम्हारा दिल बहुत कड़ा है।"

"आज आपने समझा।" फिर उस दिन से उन्होंने कभी शराब नहीं पी।[२]

अपनी पत्नी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सन् १९३० में डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखा था—

"मैं उसके साथ सुखी हूँ। उसकी रुचि साहित्यिक हो गई है और वह कभी-कभी कहानियाँ भी लिखती है। वह निर्भीक, साहसी, न झुकनेवाली और ईमानदार स्त्री है, जो अपराध की जिम्मेदारी ले लेती है और काम में प्रवृत्त होने को विवश कर देती है। उसने सविनय अवज्ञा भंग (!) आन्दोलन में काम किया है और जेल हो आई है। मैं उसके साथ सुखी हूँ और जो कुछ वह नहीं दे सकती, उसकी उससे आशा नहीं करता। वह टूट भले ही जाय, पर आप उसे झुका नहीं सकते।"[३]

साहित्यिक का आत्मगौरव प्रेमचन्द में सदैव ही विद्यमान रहा है। अगर "मंगल सूत्र" के देवकुमार को प्रेमचन्द मान लें, जो कि ठीक वैसे ही जान पड़ते हैं, तो उनके ये शब्द आत्मवाचक हैं—

साहित्य-रसिकों में जो एक अकड़ होती है, चाहे उसे शेखी ही क्यों न कह लो, वह उनमें भी थी, कितने ही रईस और राजे इच्छुक थे कि वह उनके दरबार में जायँ, अपनी रचनाएँ सुनाएँ, उनको भेंट करें, लेकिन उन्होंने आत्मसम्मान को कभी हाथ से नहीं जाने दिया। किसी ने बुलाया भी तो धन्यवाद देकर टाल गये।[४]

---

१. कफ़न पृष्ठ ५७.

२. प्रे० घ० पृष्ठ १०१-१०२.

३. प्रे० वि० पृष्ठ १७७-१७८.

४. मं० सूत्र पृष्ठ १-२.

अपनी अभिलाषाओं के बारे में उन्होंने सन् १९३० में बनारसीदास चतुर्वेदी को उत्तर दिया था—

"मेरी अभिलाषाएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता-संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हविस नहीं है। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्चकोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ। लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता-प्राप्ति हो। मैं जड़ जीवन को भी नापसंद करता हूँ। साहित्य और देश-सेवा का मुझे हमेशा से ध्यान है।"[१]

और मृत्यु के दो-तीन माह पूर्व (९ जुलाई, १९३६) उपेन्द्रनाथ "अश्क" को लिखा था :

"भाई, मनुष्य का बस चले, तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे।"[२]

प्रेमचन्द का जीवन स्वयं एक उच्चकोटि की रचना है। उनके जीवन को विकास के तीन क्रमों के रूप में देखा जा सकता है—पहला क्रम जन्म से १६ वर्ष की अवस्था तक, जिसे जीवन-संग्राम के लिए तैयारी का समय मान सकते हैं, दूसरा क्रम इकतालीस वर्ष की अवस्था तक, जिसमें उन्होंने उस ज़माने की सरकारी नौकरी का अभिशाप झेलते हुए साहित्य-साधना की और तीसरा क्रम मृत्यु पर्यन्त चला, जिसमें उन्होंने जीवन और युग से निरन्तर युद्ध करते हुए साहित्य के अनमोल रत्न प्रस्तुत किये।

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ १३०.

२. प्रे० प्रं० पृष्ठ ८१०.

(आ) व्यक्तित्व

प्रेमचन्द के छोटे पुत्र अमृतराय न अपने पिता के सम्बन्ध में संस्मरण देते हुए लिखा है—

"प्रेमचन्द बहुत सीधे-सादे, बेलौस मुहब्बती व्यक्ति थे। जो भी लोग उनके सम्पर्क में आये, उनको प्रेमचन्द का यही रूप देखने को मिला होगा। घर में भी उनका यही रूप था। घर के बाहर और घर के भीतर—अपने बाहर और भीतर—कहीं भी उसमें कोई दुरंगापन नहीं था। सब जगह वह एक था, झील के नीले पानी की तरह साफ, पारदर्शक। यही उस आदमी की सबसे बड़ी महानता थी कि वह किसी तरह से महान नहीं था, न कपड़े-लत्ते में, न तौर-तरीके में, न बोल-चाल में, न रहन-सहन में। हर ओर से वह आदमी एक साधारण निम्नवर्ग का आदमी था, बाल-बच्चोंदार, गृहस्थ, बाल-बच्चों में रमा हुआ। क्या तो उसका हुलिया था.........घुटनों से ज़रा ही नीचे तक पहुँचनेवाली मिल की धोती, उसके ऊपर गाढ़े का कुर्ता और पैर में बंददार जूता। यानी कुल मिलाकर आप उसे दहकान ही कहते, गवइयाँ भुच्च, जो अभी-अभी गाँव से चला आ रहा है, जिसे कपड़ा पहनने की भी तमीज़ नहीं, जिसे यह भी मालूम नहीं कि धोती-कुर्ते पर चप्पल या पम्प शू पहना जाता है। आप शायद उन्हें प्रेमचन्द कहकर पहचानने से भी इन्कार कर देते। लेकिन तब भी वही प्रेमचन्द था, क्योंकि वही हिन्दुस्तानी है। मुझे अच्छी तरह याद है कि बरसों उन्होंने सस्ते के ख्याल से किरमिच का जूता पहना और ताकि रंग-रोगन की झंझट न रहे, रोज़-रोज़ उस पर सफेदी पोतने की मुसीबत से नजात मिले, इसलिए वह किरमिच का जूता ब्राउन रंग का होता था, जिसे आज तो शायद रिक्शेवाला भी नहीं पहनता और शौक से तो नहीं ही पहनता और मुझे उनके दोनों पैरों की कानी उँगली की अच्छी तरह याद है जो जूते को चीरकर बाहर निकली रहती थी। सादगी इससे आगे नहीं जा सकती। अपने ऊपर कम से कम खर्च....यह उनकी जिन्दगी का साधारण नियम था। घर के बाकी लोग भी कोई मखमल नहीं पहनते थे। मगर उनसे सभी अच्छे थे। यों तो खैर कभी इतने पैसे ही नहीं हुए कि कोई बड़ी ऐशो-इशरत से रहता और मसल भी मशहूर है कि खुदा गंजे को नाखून नहीं देता। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ उस आदमी को ऐशो-इशरत की भूख या हविस भी नहीं थी।"[१]

जैनेन्द्रकुमार ने अपने प्रथम परिज्ञान को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"ज़ीने से नीचे झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दिखा, उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे, उनकी बड़ी घनी मूँछें थीं, पाँच रुपये वाली लाल इमली की चादर ओढ़े थे, जो काफी पुरानी और चिकनी थी। बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम देता था। सिर जरूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली

---

१. अमृतराय : नवभारत, नागपुर २५-७-५४.

धोती पहने थे, जो घुटनों से ज़रा नीचे तक आ गई थी। आँखों में खुमारी भरी दीखी। मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं, उस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचन्द जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते जी प्रेमचन्द इनको ही मानना होगा। इतनी दूर से, इतनी आस बाँधकर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूँ। एक बार तो जी में आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचन्द के प्रति आस्था कायम रखनी हो तो यहाँ से लौट ही क्यों न जाऊँ? प्रेमचन्द के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि.......।"[१]

प्रो० अशफ़ाक हुसैन बी० ए० (आक्सफोर्ड) ने सन् १९३६ में प्रेमचन्द से अपनी हुई पहली मुलाकात का संस्मरण देते हुए लिखा है।

"करीब-करीब पूरे सात बरस हुए, एक बार यों ही सरसरी तौर पर प्रेमचन्द जी के साथ मेरी मुलाकात कराई गई थी......मुझे प्रेमचन्दजी बहुत लज्जाशील मालूम हुए और उनमें कोई खास ऐसी बात न मालूम हुई जो किसी का दिल अपनी तरफ खींच सकती। उनका रंग ज़र्द था। बड़ी-बड़ी मूछें थीं, कमजोर आँखें थीं और करीब-करीब बिलकुल सूखा हुआ चेहरा था। अपने दुबले-पतले जिस्म पर वह खद्दर का कुरता और धोती पहने हुए थे। सिर पर खद्दर की टोपी और पैरों में चप्पल थी। बस, इसके सिवा और कुछ भी नहीं। लेकिन गौर से देखने पर मालूम होता था कि उनकी आँखों में झलकनेवाली कमजोरी सिर्फ ऊपरी और देखने की ही थी, और जब वे बातें करते थे, तब उनकी आँखों में एक ऐसी खास चमक दिखाई देती थी जिससे ज़ाहिर होता था कि वह बहुत समझदार हैं और अपने इरादे के और ख्यालात के बहुत पक्के हैं। उनकी ये सब खूबियाँ पहले-पहल देखने पर इसलिए ज़ाहिर नहीं होती थीं कि वह उनकी लज्जाशीलता के परदे में छिपी रहती थीं। लेकिन फिर भी मुझे दरअसल यह न मालूम हो सका कि ये कौन शख्स हैं, क्योंकि वह बहुत कम बातें करते थे और उनकी बातों से उनके बारे में कुछ भी पता नहीं चलता था। एक तो वह बातें ही बहुत कम करते थे और दूसरे जब वह बोलते थे, तब उनकी बातों से न तो कोई खास लियाकत ही ज़ाहिर होती थी और न उनमें कोई खास दिलचस्पी ही थी। हाँ, उनकी आँखों में जरूर कुछ खास बात थी। और नहीं तो इसके अलावा उनकी शक्ल से किसी के दिल पर कोई ख़ास असर नहीं पैदा होता था।"[२]

अनाकर्षक वाह्य, अनाकर्षक वेशभूषा—आखिर कैसे किसी पर असर पड़े। आँखों की चमक जरूर उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि और क्षितिज पार के स्वप्न देखने का भाव प्रकट करती थी। इलाचन्द जोशी ने लिखा है "उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगंभीर और शान्त आँखें, मोटी भौंहें और बड़ी-बड़ी मूँछें मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थीं, जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के "एकाकीपन" में एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था।..........ज़ार के युग में नाना कड़वे अनुभवों से निष्पेषित, प्रताड़ित तथा प्रपीड़ित रूस के प्रतिभाशाली मनीषियों के अतल व्यापी अव्यक्त

---

१. प्रे. अं० पृष्ठ ७७७.

२. प्रे० अं० पृष्ठ ८७३-८७४.

विक्षोभ की सघन गहनता उनके व्यक्तित्व में लक्षित होती थी। यदि ग़ौर किया जाय, तो प्रेमचन्द जी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्याकृतियों में भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है।"[१] लेकिन प्रथम-दर्शन में मिलनेवाले का ध्यान सहज आकृष्ट कर सकने जैसी उनमें कोई बात न थी। जो उनसे इतनी ही मुलाकात कर पाता था, वह बड़ी निराशा अनुभव करता था।

प्रेमचन्द का आकर्षण उनके बाह्य में ज़रा भी नहीं था, लेकिन जो ज़रा भी अधिक उनके सम्पर्क में आया, वह बिना उनका चिर-श्रद्धालु बने नहीं रह सका। जैनेन्द्रकुमार प्रथम दर्शन से निराश हो गये, लेकिन दूसरे ही क्षण—

"सब काम छोड़कर प्रेमचन्दजी मुझे लेकर बैठ गये। सात बज गये, साढ़े सात बज गये, आठ होने को आये, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचन्द हैं। हिन्दी के साहित्य सम्राट् हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ठ प्रकार की आत्मीयता में घिरकर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

"उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने आप में सार्थक वस्तु जान पड़ी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अकोमल आन-बान में था। अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत कुछ लिखा था, जो पढ़ने योग्य था। मैं सोचा करता हूँ कि बादाम की मीठी गिरी के लिए, उस गिरी की मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितान्त उचित और अनिवार्य नहीं है कि उसके ऊपर का छिलका खूब कड़ा हो। मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा न हो, बादाम को कभी बादाम बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो।"[२]

इसी तरह पहली मुलाकात में अप्रभावित श्री अशफ़ाक हुसैन अगली मुलाकातों के बाद बड़ा ताज्जुब करने लगे, "क्योंकि मैं सोचता था कि क्या ये वही शख्स हैं जो पहली बार मुलाकात होने पर दो वाक्य भी नहीं कह सकते थे और अब ये ऐसी-ऐसी बात कर रहे हैं कि मानों बातचीत करने की विद्या में पारंगत ही हैं। इससे पहले मैंने उन्हें केवल साहित्य, राजनीति और अर्थशास्त्र के गम्भीर विषयों पर ही बातें करते हुए सुना था और इसलिए आज उन्हें इस तरह की मज़ेदार बातें करते हुए देखकर मुझे बहुत ही ज्यादा ताज्जुब हो रहा था। मेरे लिए यह बिलकुल एक नया तजुरबा था।"[३]

प्रेमचन्द कोई बहुत ज्यादा बातें करनेवाले आदमी नहीं थे। लेकिन जब एक बार वह खुले दिल से बातें करने लगते थे, तब वह सिर्फ बहुत ज्यादा बातें ही नहीं करते थे, बलिक बहुत बढ़िया बातें भी करते थे, और इससे भी बढ़कर बात यह है कि मालूम होता था कि उन्हें

---

१. वही पृष्ठ ७८७.

२. प्रे० अं० पृष्ठ ७७७.

३. प्रे० अं० पृष्ठ ८७४.

बातचीत करने में बहुत ज्यादा मजा आता है...और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनकी सभी बातों में एक बहुत बढ़िया और दिल में जगह करनेवाला मजाक भी रहता था।[1]

श्री अहमदअली एम० ए० ने लिखा है—"उनके चेहरे से प्रसन्नता झलकती थी और आँखें करुणापूर्ण थीं और उनमें एक ऐसी कोमलता दिखाई देती थी जो जीवन की समस्याओं पर गम्भीर विचार करने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने से उत्पन्न होती है.........वे खूब मजे में और खुलकर बातें करते थे और सब लोग खूब खुले दिल से खुश हो होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर तरीकों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मजाक पसन्द आदमी थे और मौके पर फौरन ही एक से एक बढ़कर मजेदार बात कहते थे।"[2]

उन्मुक्त हास्य प्रेमचन्द का अपना गुण था। संकोचहीन आत्मीयता और शिशु-सरल मन के भीतर की अभिव्यक्ति कहकहों को साथ लेकर चलती है। प्रेमचन्द के कहकहे इतने प्रसिद्ध थे कि लोग, उनके कुछ पुराने मित्र उन्हें "बम्बूक" के नाम से पुकारते थे।[3] ये कहकहे उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग थे और अन्त समय तक उनकी जीवनी शक्ति को प्रकट करते रहे हैं। श्री जैनेन्द्रकुमार ने एक घटना का जिक्र करते हुए लिखा है :—

"बातों का सिलसिला अभी और भी चलता, लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डाक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नहीं रखी गई है; ऐसा हो क्या रहा है। दिन इतना चल गया है क्या इसकी भी खबर नहीं है?

प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए, बोले—"जरा दवा ले आऊँ जैनेन्द्र; देखो बातों में कुछ ख्याल ही न रहा।"

कहकर इतने जोर से कहकहा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठें। मैं तो भौंचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।"[4]

उनके लगभग अन्तिम समय में श्री रघुपतिसहाय फिराक उनसे मिले थे। उस मुलाकात का जिक्र करते हुए वे लिखते हैं :

"उनके मस्तिष्क में यथेष्ट विचार धारा प्रभावित होती थी और वह लोगों से अपनी भावी रचनाओं की उपयोगी योजनाओं की चर्चा करते थे। उनकी बातचीत उसी प्रकार स्वाभाविक और आवेशपूर्ण होती थी और उसमें बराबर सूक्ष्मदर्शिता, तत्परता, चिन्तन-सूक्ष्मता की झलक दिखाई देती थी। बातों-बातों में वह ऐसे ठहाके लगाते थे, जिन्हें सुननेवाले जल्दी भूल नहीं सकते और उस बीमारी के दिनों में भी जब कोई हास्यास्पद बात उनके सामने आ जाती थी, तब उस पर वह उसी प्रकार मगर कमजोर ठहाके लगाया करते थे।"[5]

ये उन्मुक्त ठहाके प्रेमचन्द की उस जीवनी शक्ति के द्योतक हैं, जिसने उन्हें सदैव विषमताओं से संघर्ष करने की प्रेरणा दी और जिसने उनके आन्तरिक आनन्द को सदैव

---

१. प्रे० अं० पृष्ठ ८७४.

२. वही पृष्ठ ८८०-८१.

३. प्रे० ग० कृ० पृष्ठ ५६.

४. प्रे० अं० पृष्ठ ७७८.

५. प्रे० अं० पृष्ठ ८८९.

अक्षुण्ण रखा। किसी उर्दू कवि की इन पंक्तियों में जो संजीवनी है उसे प्रेमचन्द ने अपने जीवन में साकार उतारा और अपने साहित्य में सजग रखा :

चला जाता हूँ हँसता खेलता मौजे हवादिस में
अगर आसानियाँ हों जिन्दगी दुश्वार हो जाये।

मुंशी प्यारेलाल शाकिर मेरठी ने लिखा है : "सन् १९१० या १९११ का जिक्र है, मुंशी साहब उस समय स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर थे और हमीरपुर में रहते थे। किसी ख़ास जरूरत से मुझे कानपुर जाना पड़ा। संयोगवश बाजार में मुंशी प्रेमचन्द से भेंट हो गई। एक घण्टे तक साथ रहा। इसी एक घण्टे में दुनिया भर की बातें हो गई। मैंने 'सोज़े-वतन' के बारे में कैफियत दरियाफ्त की, तो कहा—"क्या कहूँ? बड़ी मुसीबत में फँस गया था। यह तो खैरियत हुई कि किताबें देकर पीछा छूट गया, वरना जान पर आ बनी थी। जान बची और लाखों पाये।" कहकर बड़े जोर का कहकहा लगाया। इसके बाद फरमाया—"मुंशी दयानारायन निगम के प्रेस में पहली पुस्तक 'सोज़े-वतन' छपी थी। मालूम नहीं किस कारण पुस्तक पर मुद्रक और प्रकाशक का नाम नहीं छपा। जाहिर है कि ऐसी गलती जान-बूझकर नहीं हुआ करती। मगर सुनता कौन है? जाँच-पड़ताल हुई, तो इस सिलसिले में मेरा नाम भी खुल गया। खुद ही सोचो कि एक सरकारी मुलाजिम और 'सोज़े-वतन' जैसी विषैली पुस्तक का लेखक। तोबा! तोबा! वह तो अच्छा हुआ कि पुस्तकों पर बला टल गई—वरना क्या ताज्जुब था कि मण्डाले की हवा खानी पड़ती।" इतना कहकर फिर इतने ज़ोर का कहकहा लगाया कि बाजार वाले भी हक्का-बक्का रह गये।[१]

सोज़े-वतन वाली घटना का बयान जो भुक्तभोगी कहकहों के साथ करता है, उसकी जीवनी-शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रेमचन्द को गाने का शौक था। शिवरानी जी कहती हैं कि जब मैं ब्याही आई, तो मुझे गाना नहीं आता था। मैंने उनसे गाना सीखा।[२] गीत की तरह लय और सुर उन्होंने जिन्दगी में पा लिए थे, तभी बाहरी आवाजों से उनका भीतरी सन्तुलन कभी बिगड़ा नहीं। होली आती तो, "होली के दो रोज पहले ही से उन्हें उत्साह होता था। होली के एक दिन पहले ही से वे खुद अबीर, रंग, मिठाई भंग आदि खरीद लाते। होली के दिन सब लड़के आते और वे सब सामान लड़कों के सामने रख देते। वे लोग खाते-पीते। उसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों शरीक होते। खाने-पीने के बाद भंग भी पिलाते। फिर गाना-बजाना बड़े धूम से होता। प्रत्येक त्योहार में उत्साह से भाग लेते थे। गाना आप खुद गाते थे। कभी-कभी हम दोनों साथ-साथ गाते। मुझे उन्हींसे गाना सुनना पड़ता।"[३]

मुंशी दयानारायण निगम ने लिखा है, "प्रेमचन्द खाने-पीने में परहेज के आदी न थे। यही कारण है कि पेट के रोग का सफलता से मुकाबिला नहीं कर सके। भोजन के बारे में उनसे देर तक कोई पाबन्दी न होती। तनिक-सी प्रेरणा पर बद-परहेज़ी कर बैठते थे।

१. प्रे० कृ० पृष्ठ ५२.
२. प्रे० वि० पृष्ठ ९६.
३. प्रे० घ० पृष्ठ ६०.

"मिज़ाज भी कभी-कभी चिड़चिड़ा हो जाता था। प्रायः तनिक-सी बात इच्छा के विरुद्ध हो जाने पर खिन्न हो जाते थे। लेकिन अगर दूसरे व्यक्ति ने अपनी गलती मान ली अथवा खिन्नता का कारण दूर करने की तनिक भी कोशिश की, तो फौरन पानी हो जाते थे। जब उन्हें यह ख्याल होता कि दूसरे को उनकी कोई परवाह नहीं, तो उनके दिल पर जरूर चोट लगती थी।

"शुरू जिन्दगी की घटनाओं और अनुभवों के आधार पर प्रेमचन्द ने जीवन की समस्याओं और आवश्यकताओं के बारे में कुछ सिद्धान्त बना लिए थे। शुरू में ये सिद्धान्त इतने स्पष्ट न थे, लेकिन उम्र के साथ सिद्धान्त उनके लेखों, भाषणों और व्यवहार-बरताव का अंग बनते गये।"[1]

सरलता, सौजन्य, सहानुभूति के साथ चित्त की उदारता प्रेमचन्द में थी, जो उदार से उदारतर होती गई। वे सदा मनुष्यत्व के बहुत पास और आडम्बर से बहुत दूर थे।[2] वे अपने कर्मचारियों को अधीनस्थ नहीं मानते थे, यहाँ तक कि नौकर से भी काम कराते सकुचाते थे। "कभी-कभी मैं ज़िद करके (पैर) दबा देती। वे विवश होकर दबवा लेते थे। स्त्रियों से काम करवाना उन्हें पसन्द न था। (पहले लिखा जा चुका है कि) हुक्के की चिलम तक भरवाना मुझसे (शिवरानी जी से) वे पसन्द न करते थे। नौकर दरवाजे पर बैठा रहता था, लेकिन वे अन्दर आकर पानी पीते थे। धोती भी खुद धो लेते थे, यद्यपि नौकर ख़ाली ही रहता। कभी-कभी मैं इन हरकतों पर बिगड़ भी जाती और कहती कि नौकर फिर क्यों है। आप बोलते—अपनी जरूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे, फिर मैं पाँच रुपये का नौकर तो खुद हूँ।[3] यह बात १९१४–१५ की है। सन् १९३३ में अपने ही प्रेस में हो गई हड़ताल में वे मज़दूरों की तकलीफों की कल्पना से विह्वल हो गये थे। वह बहुत ऊँचे हृदय के आदमी थे। यहाँ तक कि उन मज़दूरों को भी वे अपने समान ही समझते थे।

बार-बार धोखा खाकर, नुकसान उठाकर भी जरूरतमन्द की जरूरत पूरी करने की चाह उनके मन से नहीं गई। "ढपोरशंख" कहानी में जो क़िस्सा बयान किया गया है, वह उनका ही है। वे हज़ार कसम खायें कि किसी को रुपया न देंगे। लेकिन नवनीत की तरह ज़रा से ताप से पिघल जानेवाला मन लेकर वे इस कसम को कभी निबाह न सके, यहाँ तक कि अक्सर इस दयार्द्रता से उन्हें नुकसान उठाना पड़ा। शिवरानीदेवी ने एक घटना का उल्लेख किया है:

"प्रेस खुल गया था, और आप स्वयं वहाँ काम करते थे। जाड़े के दिन थे। मुझे उनके सूती पुराने कपड़े भद्दे जँचे और गरम कपड़े बनाने के लिए अनुरोध पूर्वक दो बार चालीस-चालीस रुपये दिये, परन्तु उन्होंने दोनों बार वे रुपये मज़दूरों को दे दिये। घर पर

---

१. प्रे० वि० पृष्ठ ४८.

२. प्रे० अं० पृष्ठ ८८८.

३. प्रे० घ० पृष्ठ ३६.

जब मैंने पूछा—कपड़े कहाँ हैं? तब आप हँसकर बोले—कैसे कपड़े, वे रुपये तो मैंने मजदूरों को दे दिये। शायद उन लोगों ने कपड़ा खरीद लिया होगा। इस पर मैं नाराज़ हो गई। तब वे अपने सहज स्वर में बोले—रानी, जो दिन भर तुम्हारे प्रेस में मेहनत करें वह भूखों मरें और मैं गरम सूट पहनूं। यह तो शोभा नहीं देता। उनकी इस दलील पर मैं खीझ उठी और बोली—मैंने कोई तुम्हारे प्रेस का ठेका नहीं लिया है। तब आप खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—जब तुमने मेरा ठेका लिया है, तब मेरा रहा ही क्या? सब कुछ तुम्हारा ही तो है। फिर हम तुम दोनों एक नाव के यात्री हैं, हमारा तुम्हारा कर्त्तव्य जुदा नहीं हो सकता। जो मेरा है, वह तुम्हारा भी है, क्योंकि मैंने अपने आपको तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है।"[१]

यथार्थतः प्रेमचन्द ने अपने आपको उनके हाथों में सौंप दिया था जो मेहनत करें और भूखों मरें।

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ १६६.

भाग २

प्रेमचन्द के कुछ विचार

(१) साहित्य का उद्देश्य

प्रेमचन्द का जमाना उनके पूर्ववर्ती साहित्यिकों के समान बड़े आराम का ज़माना नहीं था। रीतिकाल की परिस्थितियाँ कब की समाप्त हो चुकी थीं। उसकी थोड़ी बहुत झलक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में रही, लेकिन इसके बाद जीवन तीव्र संघर्ष की परिस्थितियों में से गुज़रने लगा।

प्रेमचन्द का जीवनक्रम सन् १८८० में प्रारम्भ होकर सन् १९३६ में समाप्त हुआ और साहित्य रचना काल लगभग १९०० में प्रारम्भ होकर सन् १९३६ तक चला। इस ५६ वर्ष की आयु और ३६ वर्ष के रचना-काल में प्रेमचन्द ने बहुत कुछ पढ़ा, बहुत कुछ जीवन-संघर्ष के क्रम में अनुभव से प्राप्त किया और बहुत कुछ लिखा। प्रेमचन्द मध्यम वर्ग की निम्न गरीब श्रेणी के जन थे, जिन्हें अपनी जीविका के साधन जुटाने में लगातार विषम परि-स्थितियों का सामना करना पड़ा। फिर वे जिस संक्रान्ति काल में से गुजरे, उसमें संघर्ष का स्वरूप जितना आर्थिक था, उतना सामाजिक भी। साथ ही प्रेमचन्द का समय अनेक राजनैतिक उथल-पुथलों का जमाना था। सन् १८८५ की कुर्सी-नशीन नेतागिरी से सन् १९३६ के एक ओर कांग्रेसी प्रान्त-स्वराज्य और दूसरी ओर साम्यवाद के उदय के बीच की हलचलें उन्होंने देखी थीं। इस अति-व्यस्त, विविध प्रवृत्तियों से संकुल युग ने प्रेमचन्द के विचारों को उनके पूर्ववर्तियों से एकदम भिन्न ढांचा प्रदान कर दिया था। संस्कार, अनुभव और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया जितनी प्रबल प्रेमचन्द में हुई उतनी उनके समकालीन किसी अन्य साहित्यकार में नहीं। फिर साहित्य को जिस सजगता के साथ महदुद्देश्य के लिए प्रेमचन्द ने स्वीकार किया, उतनी सजगता अन्यत्र नहीं देखी गई।

प्रेमचन्द के लिए साहित्य-रचना विलास नहीं था, विवशता थी, भीतर की कुरेदन और तड़पन उन्हें अभिव्यक्ति के लिए मजबूर करती थी।

"लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।"[१] और "मेरे अन्दर जितनी कुरेदन, तड़पन पैदा होगी, उतना ही अच्छा है।"[२] प्रेमचन्द "कुरेदन और तड़पन" के द्वारा जो बात कहना चाहते हैं लगभग वही बात रवीन्द्रनाथ के इस कथन में है "कि मेरे अन्दर एक विरहिणी बैठी हुई है", या पंत की इस प्रसिद्ध पंक्ति में है : "वियोगी होगा पहला कवि"। मन के भीतर

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ २००.

२. प्रे० घ० पृष्ठ २२६.

जो अभाव है वही साहित्य में भाव बनकर प्रकट होता है। लेकिन जहाँ रवीन्द्रनाथ और पंत के अभाव का स्वरूप ऐकान्तिक है, प्रेमचन्द का अभाव समाज-सापेक्ष है। अपने समकालीन साहित्यिकों से प्रेमचन्द इसीलिए सर्वथा भिन्न हैं।

प्रेमचन्द साहित्य, समाज और राजनीति में अटूट संबंध मानते हैं। वे कहते हैं: "ये चीजें माला जैसी ही हैं। जिस भाषा का साहित्य अच्छा होगा, उसका समाज भी अच्छा होगा। समाज के अच्छा होने पर मजबूरन राजनीति भी अच्छी होगी। ये तीनों साथ-साथ चलनेवाली चीज़ें हैं.......इन तीनों का उद्देश्य ही जो एक है। साहित्य इन तीनों (शेष दोनों ?) की उत्पत्ति के लिए एक बीज का काम देता है। साहित्य और समाज और राजनीति का संबंध बिलकुल अटल है। समाज आदमियों के समूह को ही तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ तथा सुख-दुःख होता है वह आदमियों पर ही होता है न। राजनीति में जो सुख-दुःख होता है, वह आदमियों ही पर पड़ता है। साहित्य से लोगों को विकास मिलता है। साहित्य से आदमी की भावनाएँ अच्छी और बुरी बनती हैं। इन्हीं भावनाओं को लेकर आदमी जीता है और इन सब तीनों चीज़ों की उत्पत्ति का कारण आदमी ही है।"[१]

श्रीमती प्रेमचन्द को दिये गये इस समाधान में स्पष्टता नहीं मिलती। लेकिन इतना स्पष्ट है कि इस कथन में प्रेमचन्द ने साहित्य की समाज-सापेक्षता पर ज़ोर दिया है। उन्होंने साहित्य को लोगों के विकास के लिए नियोजित माना है और जब समाज लोगों का समूह है, तो साहित्य समाज विकास के लिए हुआ। प्रेमचन्द ने लिखा है :

"अब (अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न) साहित्य केवल मनबहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है।"[२] वह अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।"[३] इस प्रकार साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सच्चाइयों का दर्पण हो।[४] लेकिन साहित्य के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह समाज का दर्पण है। यदि महज़ दर्पण रहा, तो लोगों को विकास कहाँ मिलेगा। इसलिए साहित्य की परिभाषा स्थिर करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं, "साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।[५] साहित्य गुण-दोष का विश्लेषण करनेवाला आलोचक ही नहीं है वह विधायक कलाकार है। वह जीवन की समस्याओं पर विचार भी करता है और उन्हें हल करता है।"[६]

---

१. प्रे० घ० पृष्ठ ९४-९५
२. कु० वि० पृष्ठ ६.
३. वही पृष्ठ ६.
४. वही पृष्ठ ४.
५. वही पृष्ठ ४.
६. वही पृष्ठ ६.

इस प्रकार प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य एक ही साथ यथार्थ और आदर्श, दोनों है। कह सकते हैं कि दोनों का समन्वय है और दोनों में से किसी का निषेध या त्याग साहित्य के लिए स्वस्थ नहीं है। उपन्यास पर लिखते समय आदर्श और यथार्थ की व्याख्या करते हुए आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :

"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।"[1] इसी तरह अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते करते जब हम थक जाते हैं तो इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठायें—इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। साहित्य में दोनों के अलग-अलग प्रयोजन हैं। यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।"[2] एक हमें अपने जीवन और जग की परिस्थितियों से परिचित कराता है, दूसरा हमारे यथार्थ के प्रभावों को भावभरी कल्पना प्रदान करता है। तब उच्चकोटि का साहित्य वही है, "जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। "यथार्थ को प्रेरक बनाने के लिए आदर्श और आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।"[3] लेकिन दोनों की अतियाँ साहित्य के लिए खतरा हैं। वे कहते हैं : "नग्न यथार्थ और नग्न आदर्श दोनों अतियाँ हैं। नग्न यथार्थ पुलिस का रिपोर्ट भर हो जाता है। नग्न आदर्श प्लेटफार्म का फ़तवा।"[4] जैनेन्द्रकुमार को उन्होंने एक पत्र में लिखा था : "रियलिस्ट हम (प्रसाद और प्रेमचन्द) में से कोई भी नहीं है। इनमें से कोई जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बलकि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है :

"मैं यथार्थवादी नहीं हूँ। कहानी में वस्तु ज्यों की त्यों रखी जाय, तो वह जीवन-चरित्र हो जायगी। शिल्पकार की तरह साहित्यकार का यथार्थवादी होना आवश्यक नहीं, वह हो भी नहीं सकता। साहित्य की सृष्टि मानव-समुदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के वास्ते ही होती है। आदर्श अवश्य हो, पर यथार्थवाद और स्वाभाविकता के प्रतिकूल न हो। उसी तरह यथार्थवादी भी आदर्श को न भूले तो वह श्रेष्ठ है। हमें तो सुन्दर भावों को चित्रित करके मानव हृदय को ऊपर उठाना है। नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जायगी।"[5] एक और अन्य स्थान पर वे कहते हैं : "मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी नहीं हूँ।"[6]

इस प्रकार साहित्य रीतिकालीन सामग्री की भाँति महज़ मनबहलाव की चीज़ नहीं है। दर्पण की भाँति वह जीवन का महज़ यथातथ्य प्रतिरूप भी नहीं है, वह जीवन को

---

१. कु० वि० पृष्ठ ४३.

२. वही पृष्ठ ४३.

३. वही पृष्ठ ४३.

४. प्रे० अं० पृष्ठ ८४९.

५. प्रे० अं० पृष्ठ ८४०. : नोट : शिल्पकार से तात्पर्य यहाँ शायद बस्ट बनानेवाले से है, अन्यथा सच्चा शिल्पकार अन्य कलाकारों की भाँति ही है जो यथार्थ को आदर्श से अनुप्राणित करता है।

६. प्रे० अं० पृष्ठ ७८१.

गम्भीरता से देखना चाहता है, उसे समझना चाहता है, उसकी आलोचना करना चाहता है और उसके अभावों को दूर करने के लिए "भावों" का विधान करता है। वह समाज-सापेक्ष है, वह यथार्थ और आदर्श, दोनों का सम्यक् समन्वय है और दोनों में से किसी एक का भी निषेध या त्याग उसके लिए स्वस्थ नहीं है। साहित्य को कल्पना के क्षेत्र से खींचकर जीवन के क्षेत्र में लाते समय प्रेमचन्द यह ध्यान रखते हैं कि वह जीवन की सीमाओं में कहीं इतना न घिर जाय कि वर्तमान में फँसकर विकास की सम्भावनाओं को भूल जाय। तभी साहित्य का स्वरूप स्थिर करते हुए वे उसमें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की माँग करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द साहित्य को सामाजिक जीवन के निकट लाना चाहते हैं। वे जीवन की समस्याओं से साहित्य को परिचित कराना चाहते हैं और आदर्श के आकाश-दीप के प्रकाश में उसकी यात्रा को अधिक से अधिक निरापद बनाना चाहते हैं। धर्म भी जीवनोत्कर्ष का हामी है, इसीलिए संभवतः प्रेमचंद साहित्य को धर्म के समकक्ष मानते हैं। वे कहते हैं:

"पुराने जमाने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य पाप के मसले उसके साधन थे।"[१] अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौंदर्य प्रेम है।"[२]

"इसी प्रकार नीति और साहित्य शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।"[३] साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है।"[४] ध्यान देने की बात है कि प्रेमचन्द साहित्य का लक्ष्य (उद्देश्य) उपदेश मानते हैं।

इस विश्लेषण के आधार पर प्रेमचन्द के दृष्टिकोण से साहित्य की परिभाषा यह होगी :

साहित्य समाज-विकास के उद्देश्य से जीवन की आलोचना करते हुए यथार्थ और आदर्श के समन्वित चित्रण द्वारा धर्म और नीति के लक्ष्यों को भय या प्रलोभन और तर्क या उपदेश के बजाय सौन्दर्य-प्रेम और मानसिक अवस्थाओं द्वारा व्यक्त करता है। वे स्वयं कहते हैं :

'साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो।

१. कु० वि० पृष्ठ ७.
२. वही पृष्ठ ७.
३. वही पृष्ठ ७.
४. वही पृष्ठ ३.

और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों।"[१]

ऊपर प्रेमचन्द ने सौंदर्य-प्रेम को साहित्य का साधन कहा है।

सौंदर्य की व्याख्या विस्तार से करते हुए वे कहते हैं—

"हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर, सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं—यही सौंदर्य है।

"इन दृश्यों को देखकर हमारा अन्तःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वर-साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्वों के समानुपात में संयोग से हुई है। इसीलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, सामंजस्य की खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं, वहीं दृढ़ता और जीवन है। जहाँ इनका अभाव है, वहीं फूट, विरोध, स्वार्थ-परता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव-विरोध, प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है।"[२] सौन्दर्य की इस व्याख्या में प्रेमचन्द साहित्य को कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप मानते हैं और सामंजस्य को सौन्दर्य का कारण कहते हैं। कलाकार का "स्व" जब समष्टि के साथ एकात्म्य अनुभव करता है, तब उस एकात्म्य की, सामंजस्य की स्थिति में उसकी दृष्टि सौंदर्य की सहज उपलब्धि करती है। वह सौन्दर्य को केवल प्रकृति के विभिन्न उपकरणों में ही नहीं पाता, समाज के अनेक सत्सम्बन्धों में भी देखता है। इसीलिए प्रेमचन्द सौंदर्य को मन के रोगों की औषधि मानते हैं। वे कहते हैं—"सौंदर्य-परक साहित्य उस चिकित्सक के समान है, जो हमारी कमज़ोरियों, मानसिक और नैतिक गिरावट का इलाज करता है।" जहाँ सच्चा सौंदर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं। प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमज़ोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौंदर्य की अनुभूति पैदा करता है और प्रेम की ऊष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है"[३] साहित्य के उद्देश्य और साहित्यकार के कर्त्तव्य को बताते हुए वे कहते हैं—

"मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल प्रपंच, या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं,[४] नसीहतों से नहीं—भावों को स्पन्दित

---

१. कु० वि० पृष्ठ ४.

२. कु० वि० पृष्ठ १०.

३. वही पृष्ठ ९-१०.

४. यहाँ प्रेमचन्द साहित्य को उपदेश और नसीहत से दूर रखना चाहते हैं, लेकिन अभी-अभी वे कह चुके हैं कि साहित्य का लक्ष्य उपदेश है—इस विरोधाभास को समझ लेना चाहिए। साहित्य का लक्ष्य उपदेश है,

करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके।"[1] प्रेमचन्द प्रयोजनवादी कलाकार हैं। वे साहित्य को सोद्देश्य मानते हैं, इसीलिए साहित्यकार को, समाज के प्रति अपना कर्तव्य निबाहने की सलाह देते हैं। इसलिए साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए, उसे मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं, उज्ज्वलताएँ दिखाना चाहिए। इंजीनियर तो निर्माण करता है। मकान गिरानेवाला इंजीनियर नहीं कहलाता।[2]

इस प्रकार के दृष्टिकोण का कारण है—प्रेमचन्द व्यक्तिवादी नहीं हैं, समाजवादी हैं, इसीलिए उनका दृष्टिकोण ऐकान्तिक नहीं है, समाज-सापेक्ष है। इसीलिए प्रेमचन्द युग और उसकी समस्याओं के प्रसंग में साहित्य की व्याख्या करते हैं। वे व्यक्ति-वैचित्र्य को लेकर रचे गये साहित्य की, आज की (अपने युग की) परिस्थितियों के साथ संगति नहीं पाते। "कला कला के लिए है और यह स्वांतः सुखाय लिखा है"—एसा कहनेवालों के साथ उनके मन का मेल नहीं बैठता। तभी तो उन्होंने साफ-साफ कहा है—

"मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।"[3] निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौंदर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है। पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुख भी। आसमान पर छाई हुई लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है, आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय तो वह भी प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है, (अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए प्रेमचन्द द्वारा दिए गये इस उदाहरण में अंशसत्य है। वह तो उपयोगितावाद का एकदम स्थूल पहलू हुआ—लेखक।) "प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसीलिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौंदर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के (लिए) उपयोगी बनाता है।"[4]

प्रेमचन्द का यह कथन कि हम फूलों को देखकर इसलिए आनन्दित होते हैं कि उनसे फल की आशा होती है, सौंदर्य और कलावादियों को अच्छा नहीं लगेगा। अगर बात यही

इस अर्थ में कि साहित्य भी नीति और धर्मशास्त्र की भाँति जन-जीवन को प्रगतिवान बनाने के लिए नियंत्रित, मर्यादित रखना चाहता है, लेकिन इस अर्थ में उपदेश नहीं है की उपदेशों की स्थूल बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने की वृत्ति साहित्य के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। साहित्य जीवन-मर्यादा को मनोभावों के पथ से लाना चाहता है।

१. कु० वि० पृष्ठ ८६.
२. कु० वि० पृष्ठ ८८.
३. कु० वि० पृष्ठ १३.
४. कु० वि० पृष्ठ १३.

है, तब तो ललित-कलाओं के एक बहुत बड़े अंश में मिलनेवाला आनन्द प्रेमचन्द की दृष्टि से आनन्द नहीं माना जाना चाहिए। तब तो माँ का बेटे को देखकर आनन्दित होना या किसी के सितार-वादन से झूम उठना प्रेमचन्द के दृष्टिकोण से या तो आनन्द नहीं है, या फिर इस आनन्द में किसी उपयोगिता का बीज छिपा पड़ा है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रेमचन्द के इस उदाहरण में भले ही स्थूल उपयोगितावाद का समर्थन जान पड़े, यथार्थतः प्रेमचन्द उपयोगितावाद के द्वारा मानसिक उत्कर्ष और कर्ममय जीवन का ही समर्थन करना चाहते हैं। जीवन के लिए कला और साहित्य की यही उपयोगिता है कि ये "परिस्थिति को विकास के लिए उपयोगी बनाते हैं।"

साहित्य प्रेमचन्द के लिए उपयोगी कला है—समाजोपयोगी। वे कहते हैं—

"साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रह गई है। बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। तब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने-अपने (अपनी) स्वार्थ-साधना का औज़ार बनाये—मानों उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व कायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।"[1]

साहित्य को जब व्यक्तिगत से सामाजिक अर्थ प्रदान हो चुका है तो साहित्य में सुन्दर का अर्थ भी व्यक्तिगत रुचि के आधार पर नहीं होगा, उसकी भी सामाजिक व्याख्या करनी होगी। प्रेमचन्द ने लिखा है—

"हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के (सामन्ती और पूँजीपतिक) ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या, कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खण्डहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मज़ाक उड़ाने के लिए............वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं—यह कला की कल्पना के बाहर की बात थी।

"कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबन्धन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है। जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी, उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौंदर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौंदर्य का अस्तित्व सम्भव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौंदर्य सुन्दर स्त्री में है—उस बच्चोंवाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं, जो बच्चे को मेंड़ पर सुलाये

---

१. कु० वि० पृष्ठ १५.

पसीना बहा रही है। उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौंदर्य का प्रवेश कहाँ?"[१]

कल्पनावादियों के इस निश्चय को वे संकीर्ण दृष्टि का दोष मानते हैं। उनका विश्वास है कि हमारे पक्ष में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है, जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति रूप में उपयोगी है, और न समुदाय रूप में।[२] बीसवीं सदी सामाजिकता के उदय और विकास का युग है। आज व्यक्ति से अधिक समाज का महत्व है और इसीलिए साहित्य में भी सामाजिक दृष्टिकोण आ गया है, जिसके तीन स्पष्ट लक्षण हैं—धरा प्रेम (अथवा स्वर्गीयता नहीं, मानवता के प्रति अनुराग), जीवन में आसक्ति अर्थात् जीवन से किनारा काटकर चलनेवाले आदर्शों का निषेध और जीवन की उसके सकल सत्ता-स्वरूपों में स्वीकृति और श्रम का महत्व। युग के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्र नाथ के साहित्य में इन लक्षणों की त्रयी जगह-जगह प्रवाहित है।"[३] प्रेमचन्द भी साहित्य में इन्हीं का महत्व देखना चाहते हैं। वे मानते हैं कि बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं, लेकिन इस स्वप्न को धर्म और नीति के रास्ते सत्य बनाए जाने को वे सम्भव नहीं मानते। वे कहते हैं—

"हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वांगपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले। हमारे साहित्य को, उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।[४]

साहित्य में एक सार्थक आदर्श लेकर चलने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा सुन्दरता का मापदण्ड बदले। अभी तक यह मापदण्ड सामन्ती और पूँजीपतिक ढंग का रहा है। अगर सौंदर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय, तो वह देखेगा कि रँगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप, गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाए हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफ़ासत नहीं, दिखावट नहीं, सुकुमारता नहीं।"[५]

इस प्रकार आज साहित्य का उद्देश्य कल के उद्देश्य से एकदम भिन्न है। साहित्य को सार्थक आदर्श लेकर चलना है और अपनी सार्थकता के लिए उसे कर्मण्य होना होगा। वे कहते हैं—

"जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुनाना, केवल आँसू बहाकर जी हलका करना था, तब तक इसके लिए कम की

---

१. कु० वि० पृष्ठ १४-१५.

२. कु० वि० पृष्ठ १२.

३. 'स्वर्ग हइते विदाय' 'वैराग्य साधने जे मुक्ति....' और "मन्दिर में आँखें बन्द करके" आदि कविताएँ.

४. कु० वि० पृष्ठ १३.

५. कु० वि० पृष्ठ १४.

आवश्यकता नहीं थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं मानते।"[1] प्रेमचन्द साहित्य को समाज के निर्माण और विकास के लिए उपयोगी मानते हैं, किन्तु राजनीति भी तो अपने ढंग से इसी काम में लगी हुई है, तब साहित्य और राजनीति में परस्पर क्या संबंध होगा? प्रेमचन्द साहित्य, समाज और राजनीति को "माला" जैसा मानते हैं लेकिन आज के समाज में जहाँ राजनीति का दर्जा बराबर बढ़ता चला जा रहा है, प्रेमचन्द को यह स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ा कि "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन के सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।"[2] समाज के निर्माण और विकास के काम में संलग्न देशभक्ति और राजनीति को वे साहित्य के अनुयायियों का दरजा देते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं—

"साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली चीज़ नहीं, उसके आगे-आगे चलने वाली एडवान्स गार्ड है। वह उस विद्रोह का नाम है, जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति और कुरुचि से उत्पन्न होता है।"[3]

प्रेमचन्द के युग में जिस कर्मण्यता की माँग की जा रही थी, उसे लक्ष्य में रखकर उन्होंने सत्साहित्य की परिभाषा इन शब्दों में की है:

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति और संघर्ष की बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं—क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[4]

प्रेमचन्द की साहित्य सम्बन्धी ये धारणाएँ उन्हें समकालीन साहित्यकार से एकदम अलग, विशेष व्यक्तित्व प्रदान करती हैं और इन धारणाओं को समुचित ध्यान में न रखकर जिन्होंने प्रेमचन्द को परखना चाहा है, भले ही उनकी तराजू सोना तोलने की हो, वे प्रेमचन्द के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं और जिन्होंने प्रेमचन्द की तुलना भारतीय अन्य कलाकारों से करनी चाही है, उन्होंने अतुल्ययोगिता का अपराध अपने सिर धरा है। अक्सर प्रेमचन्द को रवीन्द्र और शरत् के साथ रखकर भावों की भव्यता, कल्पना की ऊँचाई और आन्तरिक भावों की सूक्ष्मता का अभाव प्रेमचन्द में आलोचक देखते हैं। एक आलोचक कहते हैं—

"रवि बाबू और शरत् बाबू से तुलना करने में यदि प्रेमचन्द कुछ हलके उतरते हैं तो यह प्रेमचन्द अथवा हिन्दी की कोई मानहानि नहीं। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण जग और किसानों का हृदय है। वहाँ वे अद्वितीय हैं। किन्तु भावों की गहराई में रवि बाबू अथवा

---

१. कु० वि० पृष्ठ २०-२१
२. वही पृष्ठ १६.
३. कु० वि० पृष्ठ ७४
४. वही पृष्ठ २१.

शरत् बाबू पठते हैं, वह अभी प्रेमचन्द की सीमा के बाहर थी।"[1] प्रेमचन्द की साहित्य संबंधी धारणाओं से परिचित और उनके साहित्य के आत्मीय अध्येता को यह तर्क निश्चय ही असंगत लगेगा। एक तो इसलिए कि तीनों कलाकारों के अपने अलग-अलग क्षेत्र हैं, अलग-अलग दृष्टिकोण हैं, अलग-अलग लक्ष्य हैं, और फिर इस तर्क का जवाब डा० रामविलास शर्मा के व्यंग्य-शब्दों में संक्षेप में यों भी दिया जा सकता है कि "आश्चर्य की बात है कि किसान-जीवन के अद्वितीय चित्रकार होते हुए भी प्रेमचन्द ने भावों की वह गहराई न पाई जो एक चोटी के कलाकार में मिलती है।"[2]

१. (अ) आदर्श और यथार्थ

आदर्श और यथार्थ के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने विस्तार से विचार किया है और किसी बँधी-बंधायी विचार-प्रणाली के साथ अपने को जोड़ लेने के बजाय अपने लिए स्वतंत्र मार्ग का निर्धारण किया है। इस अध्याय में स्थान-स्थान पर उनके आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया गया है। यहाँ उन्हें एकत्र करके व्यवस्थित रूप में रखने का उद्देश्य यही है कि इसके प्रकाश में अनेक विद्वानों की उन आलोचनाओं का अध्ययन किया जा सके, जो उन्होंने प्रेमचन्द के आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी विचारों की की हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्परविरोधी विचार-धाराएँ और कला-शैलियाँ हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में सम्भव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती।......आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथक् वाद नहीं है। यह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि दो परस्पर-विरोधी जीवन-दर्शनों और कला-परिपाटियों में एकत्व की कल्पना ही कैसे की जा सकती है।"[3]

और नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार, "वास्तव में प्रेमचन्दजी अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं। आपका चरित्र-निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है, मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य-निर्माण करना। उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों को देखकर ही हम ऐसा कहते हैं।"[4]

डाक्टर नगेन्द्र कहते हैं—"आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है, और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्नद्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय-लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत् के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है, वह रोमानी आदर्शवाद

---

१. कु० वि पृष्ठ २१.
२. प्रे० यु०
३. प्रे० सा० वि० पृष्ठ १५.
४. वही

नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो।"[1]

यद्यपि नगेन्द्र ने प्रत्यक्ष रूप से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर कुछ नहीं कहा है, किन्तु उनके कथन की ध्वनि यही है कि जिसे प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहना चाहते हैं उसका सही, वैज्ञानिक नाम व्यावहारिक-आदर्शवाद होना चाहिए।

डा० रामविलास शर्मा उनके यथार्थवाद का विशद विवेचन करते हैं।[2]

जैनेन्द्रकुमार ने अपनी दार्शनिक शैली में लिखा है—"मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं, जो यत्नपूर्वक यथार्थता के दबाव से बचने के लिए रोमान्स की गली में भूलकर मौज करने नहीं गये। रोमान्स को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो बात नहीं। उस अर्थ में रोमान्स कभी छूटता है। कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है। कल्पना बिना लेखक क्या? लेकिन अपने हृद्गत रोमान्स को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर घटाकर देखा और दिखाया। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अन्तिम है, अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का असामंजस्य नहीं है। वह आदर्श स्वयं में कम ऊँचा है कि वह नीचे वालों को ऊपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।[3]

इन उद्धरणों को सामने रखकर हमें प्रेमचन्द के इस संबंध में विचारों को जानकर इनका महत्त्व स्थिर करना है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद दो विचार-धाराएँ और कला-शैलियाँ हैं। यथार्थवाद जीवन को उसके वास्तविक स्वरूप में ग्रहण करता है। यथार्थवादी कलाकार नितान्त तटस्थ होकर जीवन की गतिविधियों को देखता है, और जैसा देखता है, वैसा ही, बिना अपने राग-विराग का उन पर आरोप किये हुए, चित्रित कर देता है। यथार्थवाद का प्रकृत-स्वरूप यही है। किन्तु इसमें विकृति तब आ जाती है, जब यथार्थवादी या तो मार्क्स या फ्रायड की शरण में जाकर जीवन को उसके प्रकृत रूप में नहीं, इनके चश्मों की रंगीनी में से देखना चाहता है, या प्रकृतवादियों की भाँति जीवन के दुर्बल पक्षों तक ही अपने को सीमित कर लेता है, या फिर १९वीं सदी के पश्चिमी उपन्यासकारों की भाँति खल पात्रों के चित्रण को जितना सजीव और कलापूर्ण बनाता है, उतना भले पात्रों को नहीं और परिणामतः खल पात्र प्रायः, लेखकों के न चाहते हुए भी, पाठक की हमदर्दी अपनी ओर खींच लेते हैं। विशुद्ध यथार्थवाद तक अपने को सीमित रखकर प्रेमचन्द ने उसकी "अतियों" से अपने को यथा-संभव बचाया है। अतिग्रस्त यथार्थ को प्रेमचन्द ने नग्न यथार्थ-वाद की संज्ञा दी है।[4] इसी प्रकार आदर्शवाद जीवन को उसके वास्तविक स्वरूप में नहीं देखता,

१. प्रे० चि० क० पृष्ठ १८९-९०.

२. हि० प्र० पृष्ठ २०.

३. प्रे० अं० पृष्ठ ८०८-८०९.

४. प्रे० अ० पृष्ठ ७८१.

उस पर अपनी कल्पना, भावना या धारणा का आरोप करके देखता है। सुविधा के लिए चाहें तो कह सकते हैं कि कल्पना के आरोप से रोमान्स और धारणा के आरोप से आदर्श का जन्म होता है। रोमान्स का साहित्य यथार्थ की विभीषिका से पलायन का दूसरा नाम है और आदर्श, यथार्थ के अभावों को भावमयता प्रदान करता है। रोमान्स और आदर्श के अन्तर को स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्रकुमार ने कहा है कि एक साधनाहीन कल्पना है और दूसरा साधना-सम्पन्न।[1] एक जीवन से पलायन है, दूसरा जीवन का मुकाबला। आदर्शवाद से पूरी-पूरी तरह सहमत होते हुए भी प्रेमचन्द ने इसकी अति को, नग्न आदर्शवाद को प्लेटफार्म का फतवा कहा है।[2] उनके समय में आदर्शवाद के नाम से जो सामग्री प्रचलित थी, वह वही है जिसे उपदेशात्मक या सुधारवादी उपन्यास की संज्ञा दी जाती है, और इनमें मिलनेवाली सामग्री से प्रेमचन्द की सामग्री इतनी अधिक भिन्न और स्पष्ट है कि इसे विशिष्ट संज्ञा देने की आवश्यकता आ पड़ी।

प्रेमचन्द ने एक स्थान पर कहा है कि मैं यथार्थवादी नहीं हूँ, और जगह-जगह यह ध्वनि व्यक्त की है कि मैं आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हूँ। पहले कथन से संकेत है कि मैं वैसा यथार्थवादी नहीं हूँ, जैसा ऊपर की तीन "अतियों" में मिलता है। हाँ वैसा हूँ, जो यथार्थ के अभावों को अपने ढंग से "भाव" प्रदान कर सके। मैं समझता हूँ कि इस कथन से बात संभवतः स्पष्ट हो जाय कि जिस प्रकार फ्रायडियन यथार्थवादी फ्रायड के सिद्धान्तों का आरोप यथार्थ पर करता चलता है, और मार्क्सियन यथार्थवादी मार्क्स के सिद्धान्तों का, उसी प्रकार आदर्शोन्मुख यथार्थवादी यथार्थ पर अपने आदर्शों का आरोप करता है। जिस प्रकार मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त मात्र साहित्य नहीं हैं, उसी प्रकार आदर्शों की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति भी साहित्य नहीं है। साहित्य होने के लिए आवश्यक है कि ऐसी अभिव्यक्तियाँ जीवन के कार्य-कलापों के माध्यम से हों। प्रेमचन्द ने तभी कहा है कि वे ऐसा आदर्शवाद नहीं चाहते, जहाँ चरित्र सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों। प्रेमचन्द यथार्थ भी चाहते हैं और आदर्श भी। दोनों के बिना साहित्य उपयोगी नहीं होगा, लेकिन वे दोनों अतियों से अपने को बचाये रखना चाहते हैं। अब सोचना यह है कि उनका जोर आदर्श और यथार्थ में से किस पर अधिक है। आदर्शोन्मुख यथार्थ की चर्चा करने के कारण जान पड़ता है कि प्रधानतः वे यथार्थ पर अपनी दृष्टि रखे हैं। यथार्थ को जीवन और समाज-पोषी बनाने के लिए वे आदर्शों का संकेत करते चलते हैं। युग की विभिन्न वृत्तियों और विचारधाराओं के प्रभाव में वे यथार्थ के परिष्कार के लिए कुछ विशिष्ट सुझाव देते चलते हैं, लेकिन एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि जब वे इन आदर्शों की "अवास्तविकता" समझ जाते हैं और फिर इनके साथ उनका सम्पर्क छूट जाता है। प्रेमचन्द के साहित्य से परिचित विद्वान् जानते हैं कि प्रेमचन्द प्रारंभ से ही यथार्थवादी रहे हैं। उनकी पहली अप्रकाशित कृति इस बात का सबूत है। मामा के प्रणय-प्रसंग को लेकर लिखी गयी यह कथा पूर्णतया यथार्थवादी है। व्यंग्य इस कथा का प्राण था। बाद में प्रौढ़ता के साथ प्रेमचन्द को लगा

---

१. प्रे० अ० पृष्ठ ८०८.

२. वही पृष्ठ ८४९.

होगा कि यथार्थ को लेकर व्यंग्य करना ही साहित्य नहीं है, यथार्थ को जीवनोपयोगी बनाना ही सच्चा यथार्थ है। इसीलिए अपने साहित्य-कर्म में प्रेमचन्द यथार्थ का चित्रण करते हुए यथार्थ समस्याओं का आदर्शवादी हल देते चले हैं। हमें तो यह भी लगता है कि ये हल युग की विचार-धाराओं से जितने अधिक प्रभावित थे, उतने अगर न होते, अगर प्रेमचन्द इन पर प्रभाव-मुक्त मन से विचार करते तो संभव है, वे अधिक क्रान्तिकारी हल सुझाते। अगर प्रेमचंद-साहित्य को ध्यान से देखें, तो लगेगा कि प्रेमचन्द गांधीवादी राजनैतिक और आर्यसमाजी सुधारवादी सामाजिक-विचारधारा को एक अर्से तक पकड़े रहे हैं, इसीलिए उनका चित्रण यथार्थवादी होते हुए भी अव्यावहारिक हलों-समाधानों के कारण प्रभावित करने में कहीं-कहीं असफल रह गया है।

एक आदर्शवादी अचानक ही यथार्थवादी नहीं हो जाया करता। हाँ, एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी आदर्शों की निरर्थकता पहचानकर शुद्ध यथार्थवादी हो जा सकता है, शुद्ध यथार्थ-वादी, अर्थात् ऐसा जिसके मन से मानव के सत् पर से विश्वास उठ गया हो। 'गोदान' में भी आदर्शवाद खोजनेवाले 'मंगलसूत्र' के यथार्थवाद को किस ढंग से समझाएँगे, समझ में नहीं आता।

मेरे लेखे प्रेमचन्द, साहित्य और यथार्थ के सम्बन्ध में ऐसी ही समन्वयकारी दृष्टि लेकर चले हैं, जो दोनों की जीवन-विरोधी अतियों से मुक्त रहे और जो जीवन के परिष्कार और विकास में विश्वास को न डिगा सके।

प्रेमचन्द-साहित्य इसका प्रमाण है, और प्रेमचन्द अन्ततः क्रान्त्योन्मुख होने पर भी निर्माण का समर्थन करते रहे हैं।

(२) साहित्यकार का कर्त्तव्य

"जिसे अन्याय को देखकर क्रोध नहीं आता, वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है, बल्कि वह मनुष्य भी नहीं है।"—रोमाँ रोलाँ।

"इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता।"[१] साहित्य की प्रतिभा बीज के समान निसर्ग-जन्य है। जिस प्रकार बीज में सृजन की क्षमता रहती है, ठीक उसी प्रकार साहित्य की प्रतिभा में सृजन की क्षमता रहती है। लेकिन जिस प्रकार बीज केवल इस आन्तरिक क्षमता के भरोसे, जमीन की मिट्टी-पानी, आसपास निरंतर प्रवा-हित हवा और ऊपर की गरमी और प्रकाश देने वाली किरणों के सम्यक् सहयोग बिना सृजन की संभावना को सत्य नहीं बना सकता, उसी प्रकार साहित्यकार भी जग-जीवन से निरपेक्ष रहकर अपनी सृजन-प्रतिभा को सृष्टि में नहीं बदल सकता। आग की नन्हीं-सी चिनगी को जिस प्रकार जगाकर प्रज्वलित किया जाता है, उसी प्रकार प्रतिभा को भी जगाना होता है। महज प्रतिभा के बल पर रचा गया साहित्य जन-हित में उसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता, निरुपयोगी रहता है, जिस प्रकार सूरज की किरणों से वंचित गेहूँ के दाने से अंकुरित कजलियाँ, यद्यपि कजलियाँ भी माटी-पानी बिना नहीं उपज सकतीं। इस प्रश्न

---

१. कु० वि० पृ० १७.

पर प्रेमचन्द ने गंभीरता से विचार किया है, और सामाजिक दृष्टि लेकर साहित्यकार के कर्त्तव्य को नया अर्थ, नई दिशा और नई गति प्रदान की है।

प्रेमचंद प्रारंभ ही में स्पष्ट कर देते हैं कि साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है। वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है। हममें सद्भावना का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।[1] इस महदुद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्यिक-रुचि मात्र रखने से साहित्यकार बन सकना संभव नहीं है। जो महज़ अपनी रुचि के भरोसे साहित्यकार बनने का दंभ करते हैं, वे सामाजिक हित-साधन नहीं करते। प्रेमचन्द कहते हैं--"जब साहित्यकार बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की कैद नहीं रही--जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं--आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है, तो महात्मा लोग दर-दर मिलने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।"[2] किन्तु यदि साहित्यकार को सच्चे अर्थ में स्रष्टा होना है, तो उसे अपनी प्रतिभा को परिपूर्ण करना होगा। प्राचीन काल से ही इस प्रकार की आवश्यकता साहित्य के संबंध में सोचने वालों ने सुझाई है। प्रेमचन्द लिखते हैं—यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन (प्रतिभा) को बढ़ा सकें तो निश्चय ही साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगाई हैं और उनकी मानसिक, नैतिक, आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता और शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गई हैं।[3] इतना तो आवश्यक है ही, साथ-साथ आज जब साहित्यकार के आगे सामाजिक आदर्श रखा गया है तो उसके अनुसार यह आवश्यक है कि वह राजनीति, समाजशास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा परिचित हो।

यथार्थतः साहित्य में सामाजिक दृष्टिकोण के आग्रह के साथ साहित्यकार की जिम्मेदारी अत्यधिक बढ़ गई है। कल तक साहित्यकार जीवन से बिना कोई सरोकार रखे रचना करता था। प्रेमचन्द ने लिखा है—

"हमने जिस युग को पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं "फिसानये अजायब" की दास्तान थी, कहीं "बोस्ताने ख्याल" की और कहीं "चन्द्रकान्ता संतति" की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनों परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा था।"[4] साहित्य की साधना एकान्त थी और ऐकान्तिक भी। साहित्य

---

१. कु० वि० ४५.
२. वही पृष्ठ १७.
३. वही पृष्ठ १७.
४. वही पृष्ठ ५.

तब जीविका का साधन था और कविता की कद्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा कौन कर सकता है। हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छाई हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।[1]

कला कला के लिए है, कला स्वान्तःसुखाय है, यह बात प्रेमचन्द कभी नहीं मान सके। रोमाँरोलाँ की कला पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—

"स्वान्तःसुखाय वाली मनोवृत्ति कला के विकास के लिए उत्तम समझी जाती है। हम प्रायः कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति जो कुछ लिखता है, शौकिया लिखता है। वह अपनी कला पर अपनी जीविका का बोझ नहीं डालता। जिस कला पर जीविका का भार हो, वह इसलिए दूषित समझी जाती है कि कलाकार को जन-रुचि के पीछे चलना पड़ता है। मन और मस्तिष्क पर जोर डालकर कुछ लिखा तो क्या लिखा? कला तो वही है, जो स्वच्छन्द हो। रोमाँरोलाँ का मत इसके विरुद्ध है। (और जो रोमाँरोलाँ का मत है, वही प्रेमचन्द का भी है।) वह कहता है, जिस कला पर जीविका का भार नहीं, वह केवल शौक है, केवल व्यसन, जो मनुष्य अपनी बेकारी का समय काटने के लिए किया करता है। (और मध्ययुगीन साहित्यिकों की दरबारी जीविका शौक-व्यसन से किसी कदर कम नहीं थी।) यह केवल मनोरंजन है। दिमाग की थकान मिटाने के लिए। जीवन की मुख्य वस्तु कुछ और है, मगर सच्चे कलाकार की कला ही उसका जीवन है। इसी में वह अपनी सम्पूर्ण आत्मा से भरता है, लिपटता है। अभाव की उत्तेजना के बगैर कला में तीव्रता कहाँ से आयेगी। व्यसन खिलौने बना सकता है। मूर्तियों का निर्माण करना उसी कलाकार का काम है, जिसकी आत्मा उसके काम में हो।[2]

आज साहित्यकार को जीवन में डूबकर साहित्य-रचना करना होगा। आज हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है......अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है।[3] किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है, जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं, उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है, जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।[4]

प्रेमचन्द साहित्यकार को गति और प्रगति का कलाकार मानते हैं। इसीलिए "प्रगतिशील लेखक संघ" के सभापति-पद से बोलते हुए उन्होंने कहा था—"प्रगतिशील लेखक संघ नाम ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह

---

१. कु० वि० ६

२. सा० उ० पृष्ठ १४३-४४.

३. "अनुप्रास का अन्वेषण" हास्यरसावतार पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की एक पुस्तक का नाम भी है, जिसमें उनके अनुप्रास का चमत्कार दिखाने के लिए कुछ निबंध संगृहीत हैं।

४. कु० वि पृष्ठ ६

उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है, जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाए रखता है—उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और गरीबी से छुटकारा पा जाय। वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है।[१]

सच्चा कलाकार हममें (कर्म) सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और (मानव) प्रेम की ऊष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर आ बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है।

लेकिन सच्चा कलाकार बनने के लिए उसे संकीर्णता और स्वार्थ से ऊपर उठना होगा। संकीर्णता से ऊपर उठकर उसे अपनी सौंदर्यान्वेषी दृष्टि से सौंदर्य के ऐसा स्थल खोजना होगा, जो केवल रूप-रंग तक ही सीमित नहीं है। उसे अन्तर का सौंदर्य, उच्च भावों का सौंदर्य, कर्म का सौंदर्य परखना होगा। उसे यह समझना होगा कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है, किन्तु जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का।[२] वे साहित्यकार और उसके साहित्य को न तो शराब-कवाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहने देना पसन्द करते हैं,[३] और न अमीरों का मुंह जोहनेवाला।[४] वे साहित्यकार को उद्योग और कर्म का संदेशवाहक बनाने का दावेदार मानते हैं।[५]

स्वार्थ और संकीर्णता से ऊपर उठकर उस मानसिक पूँजीपति (साहित्यकार) का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे—उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।[६] प्रेमचन्द साहित्यकार से भावुकता मात्र की

---

१. कु० वि० पृष्ठ ११.
२. कु० वि० पृष्ठ १५
३. कु० वि० पृष्ठ १९
४. कु० वि० पृष्ठ २०.
५. कु० वि० पृष्ठ १९.
६. कु० वि० पृष्ठ १८.

अपेक्षा नहीं करते। संवेदना को तो वे उसकी आवश्यक शक्ति समझते हैं और यह मानते हैं कि कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है।[१] साहित्यकार को चेतावनी देते हुए वे कहते हैं कि उसे यह भूल जाना होगा कि साहित्य रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज़ कलम काफी है, पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिससे समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही संतोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ाएँ।[२] प्रेमचन्द ने अपने समय में अनुवादों की भरमार और मौलिक कृतियों के अपेक्षा-कृत अभाव को देखकर यह चेतावनी देना आवश्यक समझा होगा। एक और भी बात है। प्रेमचन्द का युग संघर्ष की जैसी परिस्थितियों में से गुजरा था उसमें एक खास किस्म के साहित्य की आवश्यकता थी। कल्पना-बहुल, स्त्रैण-भावना से परिपूर्ण, प्रेम के रोने को लेकर बैठे रहने वाले साहित्य से प्रेमचन्द को निराशा और क्षोभ हुआ होगा। वे साहित्य में पौरुष और कर्मण्यता देखना चाहते थे और सै० इम्तयाज अली ताज को एक पत्र में उन्होंने लिखा था——

"मैं लिटरेचर को मैस्क्यूलिन देखना चाहता हूँ। फैमीनिज्म-ख्वाह वह किसी सूरत में हो, मुझे पसन्द नहीं।"[३] ये ही तत्व लेकर वे साहित्य-कर्म में अवतरित हुए हैं। रामनाथ "सुमन" ने प्रेमचन्द के इस महत्व को प्रकट करते हुए लिखा है——

"जब हिन्दी ने अपनी आत्मा को पहचाना न था और जब उसके अन्दर ऐसा कोई न था कि उसकी अंतः-प्रतिभा को, उसके आत्मरूप को, उसकी प्रच्छन्न शक्तियों को परदा फाड़कर बाहर कर देता, जब हम खोये और भूले हुए बंगला की जूठन को लेकर तृप्त थे, तब एक प्रौढ़ युवक हमारे बीच आया और उसने परदे को उठा दिया। उसने हमारे बीच वह चीज रखी, जिसको पाकर हमने अपने को पहचानना सीखा और हम, हम हुए। इस व्यक्ति ने प्रेम को सौदे और मोल-तोल तथा विलासिता के बाज़ार से उठाकर कर्त्तव्य की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इसने साहित्य में सर्वसामान्य के प्राणों का कम्पन व्यक्त किया। इसने हमें नशा करनेवाला नहीं, जिलानेवाला, पुष्ट करनेवाला साहित्य दिया।[४]

इस बात को वे केवल व्यक्तिगत रुचि अरुचि के आधार पर ही नहीं मानते थे। वे बहुत पहले हिन्दी की महान् जिम्मेदारी को पहचान चुके थे। वे जानते थे कि हिन्दी एक दिन राष्ट्रभाषा होगी और राष्ट्रभाषा के साहित्य में जिस पौरुष की अपेक्षा की जाती है, उसे वे हिन्दी के साहित्य में देखने के अभिलाषी थे। इस संबंध में जैनेन्द्रकुमार का एक संस्मरण महत्वपूर्ण है।

---

१. कु० वि० पृष्ठ ७.
२. कु० वि० पृष्ठ १८.
३. आ० अक्टूबर, १९५२ पृष्ठ ४५.
४. प्रे० अ० पृष्ठ ८१९.

जैनेन्द्रकुमार से बंगाली साहित्य के संबंध में बात करते हुए जो उन्होंने कहा है, उसे जैनेन्द्रकुमार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"मैंने कहा—बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं? तो इसका कारण क्या है? प्रेमचन्द जी ने कहा—सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है। सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा—स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को छूता है? बोले—हाँ तो वह जगह-जगह रेमीनिसेंट (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है। संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है:।......विधायकता के लिए दोनों चाहिए......(वे बोलते गये) जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें इतनी देन कहाँ। ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जा सकता, वहाँ भी भावना से ही पहुँचा जा सकता है। लेकिन मैं सोचता हूँ कि काठिन्य भी चाहिए।........(फिर बोले) जैनेन्द्र, रवीन्द्र-शरत् दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिए क्या यही रास्ता है, शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो यह राह नहीं है।"[१]

साहित्यकार को उद्योग और कर्म का सन्देश लेकर किसी के पीछे नहीं चलना होगा। वह स्वयं अग्रगामी है, जो समाज को अपने पीछे ले चलेगा इसलिए सामान्यतः सभी परिस्थितियों में और विशेषतः देश की, अपने समय की परिस्थितियों में साहित्यकार के कर्त्तव्य के संबंध में वे कहना चाहते हैं कि साहित्य देशभक्ति और राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है। इस कथन की सचाई प्रेमचन्द के साहित्यिक-जीवन में सर्वत्र मिलती है। इस संबंध में एक संस्मरण का उल्लेख उनकी पत्नी ने किया है।

सन् १९२८ में महात्मा गांधी के दर्शन के बाद प्रेमचन्द और उनकी पत्नी में बात हुई:

"मैं बोली: चेले तब हुए (जब गांधीजी गोरखपुर आये थे—दे० पृष्ठ ३५) दर्शन अब कर पाये।

आप बोले: चेला होने के मानी किसी की पूजा करना नहीं होता, बल्कि उन गुणों को को अपनाना।

मैं बोली: तो आपने अपना लिये?

आप बोले: मैंने अपना लिये। अपनाने को कहती हो, उसी के बाद तो मैंने प्रेमाश्रम लिखा है। सन् २२ में छपा है।

मैं बोली: वह तो पहले ही लिखा जा रहा था।

आप बोले: इसके मानी यह हैं कि मैं महात्मा गांधी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।

मैं बोली: तो इसमें महात्मा गांधी की कौन-सी बात हुई?

आप बोले: बात यह हुई कि जो बात वह कराना चाहते हैं, उसे मैं पहले ही कर देता हूँ, इसके मानी यह कि मैं उनका बना-बनाया कुदरती चेला हूँ।"[२]

---

१. प्रे० अं० पृष्ठ ७७८.

२. प्रे० घ० पृष्ठ १२८.

युग के कर्मयोगी के बने-बनाये कुदरती चेले होने की बात से यही संकेत है कि प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में उस कर्मयोग की महता गाई है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द की इस स्वीकारोक्ति को इससे अधिक अर्थ में ग्रहण करने से भ्रम की आशंका है।

इतने महान् उत्तरदायित्व का वहन करने के लिए आवश्यक है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व महान् हो। प्रेमचन्द के अनुसार साहित्यिक संन्यासी है, तपस्वी है, साधक है, जिसका जीवन दिये के समान है। दीया होता है, उसका काम है रोशनी करना, सो वह करता है, उससे किसी का लाभ होता है या हानि, इससे उसको कोई बहस नहीं। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह अपना काम करता रहेगा।[1] साहित्यकार की साधना निर्लिप्त, निर्भीक और निष्काम होनी चाहिए। निर्लिप्त होकर वह रागद्वेष से परे नितान्त सत्य कहना चाहेगा, निर्भीक होकर कह पायेगा और निष्काम होकर वह स्वार्थ से ऊपर उठकर सबके हित की कह सकेगा। प्रेमचन्द ने लिखा है—

"जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है, जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान-प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनंद है, वही हमारा पुरस्कार है—हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोष जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये। हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें। हम तो समाज का झंडा लेकर चलने वाले सिपाही हैं और सादी जिन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं। उससे तो उसे घृणा होती है।[2]

ऐसा साहित्यकार ही जीवन और समाज में सत्यं शिवं सुन्दरं का वाहक हो सकता है। तब जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है, चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, उसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौंदर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।[3]

प्रेमचन्द ने रोमाँरोलाँ की कला पर एक निबन्ध लिखा है, जिसमें उन्होंने "ज्यां

---

१. प्रे० घ० पृ० २०६.
२. कु० वि० पृ० १९.
३. कु० वि० पृ० ७-८.

किस्ताफ" के कुछ वचनों को उद्धृत किया है। "ज्यां किस्ताफ" के साथ-साथ मानों प्रेमचन्द भी आज के साहित्यकार से कहना चाहते हैं—

"आजकल के लेखक अनोखे चरित्रों के वर्णन में अपनी शक्ति नष्ट करते हैं। उन्होंने स्वयं अपने को जीवन से पृथक् कर लिया है। उनको छोड़ो और वहाँ जाओ, जहाँ स्त्री और पुरुष रहते हैं। रोज़ का जीवन, रोज़ मिलनेवालों को दिखाओ। वह जीवन गहरे समुद्र से भी गहरा और प्रशस्त है। उसमें जो सबसे तुच्छ है, उसकी आत्मा भी अनन्त है। वह अनन्त प्रत्येक मनुष्य में है, जो अपने को सीधा-सादा मनुष्य समझता है। प्रेमी में, मित्र में, उस नारी में, जो शिशु-जन्म के उज्ज्वल गौरव का मूल्य प्रसव-वेदना से चुकाती है—हर एक स्त्री और हर एक पुरुष में, जो अज्ञात बलिदानों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। यही जीवन की धारा है, जो प्राणों में प्रवाहित होती है, घूमती है, चक्कर लगाती है। इन्हीं सीधे-सादे मनुष्यों की सीधी-सादी बातें लिखो। उनके आने वाले दिनों और रातों के सुखद काव्य की रचना करो। जीवन का विकास जैसा सरल होता है, वैसी ही सरल तुम्हारी कथा होनी चाहिए। शब्दों और अक्षरों और सूक्ष्म व्याख्यानों पर समय मत नष्ट करो, जो वर्तमान कलाकारों की शक्ति का दुरुपयोग कर रही हैं। तुम सर्व-साधारण के लिए लिखते हो, सर्वसाधारण की भाषा में लिखो। शब्दों में अच्छे-बुरे, शिष्ट और बाजारी का भेद नहीं है, न शैली में सौम्य और असौम्य का भेद है। हाँ, ऐसे शब्द और ऐसी शैलियाँ अवश्य हैं, जो उन भावों को नहीं खोलतीं जो खोलना चाहती हैं। जो कुछ लिखो, एकचित्त होकर लिखो, वही लिखो, जो तुम सोचते हो। वही कहो, जो तुम्हारे मन को लगता है। अपने हृदय के सामंजस्य को अपनी रचनाओं में दर्साओ। शैली ही आत्मा है।"[१]

इसी के आगे रोमाँरोलाँ की एक और बात का उल्लेख प्रेमचन्द ने किया है—

"मानव समाज की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा प्राणी मात्र का कर्तव्य है। जिसे अन्याय को देखकर क्रोध नहीं आता, वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है, बल्कि वह मनुष्य भी नहीं है।"[२]

(३) साहित्याभिव्यक्ति का माध्यम : भाषा

"जो जन-साधारण का है, वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है।"[३]

"महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।"[४]

प्रेमचन्द की शिक्षा-दीक्षा अरबी-फारसी और उर्दू में हुई थी और सन् १९०४ के पूर्व हिन्दी के साथ उनका कोई सम्पर्क नहीं हो पाया था। सन् १९०४ में उन्होंने हिन्दी में स्पेशल वर्नाक्यूलर इम्तिहान पास किया था। उनकी प्रारम्भिक साहित्य-रचना का माध्यम उर्दू था और सन् १९१३ के पूर्व उन्होंने हिन्दी में लिखना शुरू नहीं किया था।

---

१. सा० उ० पृष्ठ १४२.
२. सा० उ० पृष्ठ १४३.
३. कु० वि० पृष्ठ २०.
४. प्रे० घ० पृष्ठ १२८.

अपनी प्रारंभिक कृतियों में वे जिस उर्दू का उपयोग करते थे, वह फारसी लिपि में लिखी गई उस भाषा का नमूना था, जो तत्कालीन सभ्य-समाज में प्रचलित थी और जो उर्दू के सामान्य पाठकों के लिए भी बोधगम्य नहीं थी—"प्रेम बत्तीसी" हिस्सा १ में दी गई "सरेपुर गरूर" कहानी में से कुछ अंश उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत हैं:

"जाह और सरवत कमाल और शोहरत यह सब सिफ़ली और माद्दी है। नफ्स की नाज-बरदारियाँ इस काबिल नहीं कि हम उनके सामने फरके नियाज झुकायें। तरक और तस्लीम ही वे उलवी सिफ्फात हैं, जो जाहोहशम को, बादाए गरूर के मनवालों को, और ताजे मुरस्सा को अपने क़दमों पर गिरा सकती है।"

लेकिन भाषा का यह क्लिष्ट रूप धीरे-धीरे उनकी लेखनी से झर गया और लगभग अनजाने ही सन् १९१४-१५ के आसपास उनकी भाषा ने वह स्वरूप अख्तियार कर लिया, जिसे सामान्य-जनता का आदमी आसानी से समझ सके। दो उदाहरणों से यह बात साफ हो जायगी।

१. लोग कहते हैं—जुलूस निकालने से क्या होता है। इससे मालूम होता है हम जिन्दा हैं, मुस्तैद हैं, मैदान से हटे नहीं। हमें अपनी हार न माननेवाली खुद्दारी का सबूत देना था, यह दिखा देना था कि हम तशद्दुद से अपने मुतालबाए आज़ादी से दस्तबरदार होने वाले नहीं। हम इस निजाम को बदल देना चाहते हैं, जिसकी बुनियाद खुदगरजी और खून चूसने पर रखी हुई है। (किताब जादेराह–आशियाँ बरबाद)।

२. घंटा भर के बाद जुम्मन शेख, अलगू चौधरी के पास आये और उनके गले से लिपट कर बोले—"भैया, जब से तुमने मेरी पंचायत की है, मैं दिल से तुम्हारा जानी दुश्मन था, मगर आज मुझे मालूम हुआ कि पंचायत की मसनद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। इन्साफ के सिवा और उसे कुछ नहीं सूझता। (पंचपरमेश्वर : प्रेमबत्तीसी)

अपनी साहित्याभिव्यक्ति के विषय पक्ष के संबंध में प्रेमचन्द अपने मन में बिलकुल स्पष्ट थे। उनकी दृष्टि सामाजिक थी और उनकी कृतियों में समाज का कोई न कोई पहलू रहता था। यह ठीक है कि प्रारंभ में उनकी दृष्टि उतनी पैनी नहीं थी, जितनी बाद में अनुभवों-अनूभूतियों के द्वारा हो गई, लेकिन लेखक का मन वही था, जिसके प्रारंभिक स्वरूप ने, १३-१४ वर्ष की अवस्था में अपने मामू के सामाजिक प्रसंग को लेकर प्रहसन लिख डाला था। इसी बीज में उनके साहित्य के विशाल वटवृक्ष की क्षमता निहित थी।

साहित्याभिव्यक्ति की शैली और उसके माध्यम के विषय में प्रेमचंद अनेक प्रयोगों में से गुजरने के बाद ही किसी स्थिरता पर पहुँच सके थे। उनके प्रयोगों का यह क्रम सन् १९१४ तक निरंतर चलता रहा है। मुंशी दयानारायण निगम को ४ मार्च १९१४ को एक पत्र में यह बात साफ-साफ लिखी है—

"मुझे अभी तक यह मालूम नहीं हुआ कि कौन-सी तरजे-तहरीर अख्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नकल करता हूँ। कभी आजाद के पीछे चलता हूँ। आजकल टालस्टाय के किस्से पढ़ चुका हूँ। तब से कुछ इसी रंग की तरफ तबियत मायल है।"[१] ऊपर के इसी

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ ३७.

उदाहरण में कही गई बात का सबूत कहने के ढंग में साफ झलकता है। अपनी इस प्रयोग-शीलता को प्रेमचन्द ने अपनी कमज़ोरी कहा है, लेकिन सर्जना के प्रारंभिक दिनों में यह स्वाभाविक ही रहता है कि अपनी व्यक्तिगत शैली बनाने की सचेष्टता में, दूसरों का असर अनायास आ जाये। प्रेमचन्द ने हमें बताया है कि रतननाथ सरशार, बंकिम और रवीन्द्रनाथ उनके प्रिय लेखक थे। डाक्टर इन्द्रनाथ मदान को उन्होंने कुछ और नाम भी बताये हैं। वे लिखते हैं—"हाँ मैं टालस्टाय, विक्टर ह्यूगो और रोमाँरोलाँ से प्रभावित हूँ।"[१] यह आश्चर्य नहीं कि इन महान् लेखकों की छाप अनजाने में उनकी कृतियों पर पड़ जाती थी। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि प्रेमचन्द महज़ "लुत्फ़े-तहरीर" के उतने भक्त नहीं थे, जितनी सार्थकता के। वे चाहते थे कि "बात सार्थक हो और जबान सीधी-सादी।" टालस्टाय के साहित्य से परिचय हो जाने के बाद उन्हें लगा कि इसमें अभिव्यक्ति की सादगी और सार्थकता दोनों हैं। संयोग ने टालस्टाय को प्रेमचन्द का पथ-प्रदर्शक बना दिया। यथार्थतः टालस्टाय को प्रेमचंद बड़ा महान् कलाकार मानते थे, इतना महान् कि एक बार बनारसी दास चतुर्वेदी से उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था—"तुर्गनेव इज़ ए पिग्मी बिफोर टालस्टाय",[२] और संसार का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार चेखव को मानते हुए भी संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानी उनकी दृष्टि में, टालस्टाय की "तीर्थयात्रा" कहानी है, जिसमें दो यात्री तीर्थयात्रा पर जा रहे हैं।"[३] टालस्टाय को अर्पित की गई प्रेमचन्द की यह श्रद्धांजलि और ऊपर का उनका स्व-कथन इस बात को पुष्ट करते हैं कि सादगी से सार लिखना उन्होंने टालस्टाय की प्रेरणा से सीखा होगा। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो "पंच परमेश्वर" में अप्रत्यक्ष रूप से टालस्टाय झाँकते नजर आते हैं।

यह प्रेमचन्द के अनुभव की बात रही होगी कि १९०३-४ की शैली से १९१३-१४ की शली तक पहुँचते-पहुँचते उनके पाठकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हो गई और संभवतः तब तक हर उर्दू पढ़ने वाला प्रेमचन्द की कृति के लिए उत्सुक रहने लगा।

इसी समय एक और संयोग घटा। नौकरी के सिलसिले में प्रेमचन्द गोरखपुर आये, जहाँ उनका सम्पर्क महावीरप्रसाद पोद्दार और मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुआ। मन्नन द्विवेदी अपने समय के माने हुए साहित्यकारों में थे। साहित्य की भाषा के संबंध में उनका स्पष्ट मत था कि "भाषा बोलचाल की ही लिखनी चाहिए, जिसमें तद्भव तथा सर्वसाधारण में प्रचलित विदेशी शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हो।"[४] उनकी प्रेरणा से प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये। यह आगम यदि १९०५ या १९१० में हुआ होता, तो प्रेमचन्द को उतनी सफलता न मिलती, लेकिन "पंच परमेश्वर" की भाषा तक पहुँचकर यह आगम आसान हो गया। तब तक प्रेमचन्द भाषा के ऐसे रूप पर पहुँच गये थे कि जिसे हिन्दी और उर्दू लिपियों में लिखकर दोनों भाषाओं के पाठकों के लिए सुबोध बनाया जा सकता था।

---

१. प्रे० वि० पृ० १७२.
२. आ० प्रे० अं० पृ० १४.
३. आ० प्रे० अं० पृ० १४.
४. आ० हि० सा० इ० पृ० १५९.

"सेवासदन" के प्रकाशन ने यह बात सिद्ध कर दी। "सेवासदन" का जो आशातीत आदर हुआ, उससे प्रेमचन्द को विश्वास हो गया कि वह शैली, जिसे लेकर वे अपने समस्त उर्दू पाठकों तक पहुँच सकते हैं, हिन्दी पाठकों के लिए भी एकदम बोधगम्य है। उदार सामाजिक कलाकार होने के नाते समाज के विभिन्न पक्षों को उन्होंने अपनी तत्पर आलोचक दृष्टि से देखा और सामान्य जनता के स्वर में उसे व्यक्त कर दिया। "सेवासदन" के साथ प्रेमचन्द जनता की भाषा में, जनता के कलाकार के रूप में सामने आये।

भाषा के महत्व से प्रेमचन्द प्रारंभ से परिचित थे। अपने प्रारंभिक उपन्यास "वरदान" में उन्होंने नायिका को "भाषा" सीखते दिखाया है। भाषा के प्रश्न पर प्रेमचन्द ने विस्तार से सोचा है और ऐतिहासिक विवेचन के द्वारा अपना दृष्टिकोण सामने रखा है। वे लिखते हैं—"आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और इसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। पर वह है एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है। हाँ, लिखने में फर्क बढ़ जाता है।"[1] यह पन्द्रह-सोलह करोड़ की संख्या सन् १८९१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार है और उसका हवाला ग्रियर्सन ने अपनी "लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया" में दिया है।" सन् १९३० तक जब भाषा सम्बन्धी लेख प्रेमचन्द ने लिखा था, निश्चय ही यह संख्या बढ़ गई होगी।

"यह भाषा", प्रेमचन्द बताते हैं, "दिल्ली प्रदेश की भाषा है, उसी तरह जैसे ब्रज-भाषा, अवधी, मथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाती हैं और सभी साहित्यिक भाषाएँ रह चुकी हैं। बोली का परिमार्जित रूप ही भाषा है। हिन्दी के विकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी साहित्यिक भाषा थी और प्रायः उन सभी प्रदेशों में, जहाँ आज हिंदी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था......

"हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानों को है। मुसलमानों ने ही दिल्ली प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमराव और सामंत जिन प्रांतों में गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन में गुजरा।"[2]

"खड़ी बोली के निर्माता—प्रेमचन्द" नामक अपने एक लेख में इन पंक्तियों के लेखक ने लिखा है—"अपभ्रंश के बाद भाषा के पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी रूप—अवध और ब्रज तथा दिल्ली और मेरठ के अपने-अपने सीमित क्षेत्र की बोलियाँ थीं। इनमें से पूर्वी हिन्दी क्षेत्र ही भक्तिकाल और रीतिकाल के भक्त और श्रृंगारी कवियों की विहार-स्थली रहा और इसीलिए भक्ति और रीतिकाल का समस्त साहित्य हम ब्रज या अवधी में पाते हैं। यों ऐसे कवि, जो पश्चिम के संपर्क में आए, अपने को पश्चिमी हिन्दी के प्रभाव से नहीं बचा सके। अमीर खुसरो, कबीर, रहीम की रचनाएँ उदाहरणस्वरूप हैं। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ब्रज और अवध की अपेक्षा दिल्ली और आगरा का महत्व बढ़ा, जिससे पश्चिमी हिन्दी ने खड़ी बोली के रूप में अधिकाधिक प्रचार पाया। कालांतर में अंग्रेजों के आगमन के साथ

---

१. कु० वि० पृ ६४.
२. कु० वि० पृ ६४-६५.

शासन की आवश्यकताओं तथा व्यापारिक आदान-प्रदान के क्रम में मेरठ और दिल्ली की बोली बिहार और बंगाल तक फैलकर प्रायः समस्त उत्तर भारत की प्रमुख बोली बन गई।"

इस प्रकार यह भाषा पिछली शताब्दी के प्रारंभ में देश के दूर-दूर के हिस्सों में फैली।

आम जनता की इस भाषा, हिन्दी या हिन्दुस्तानी का विकास अपने स्वाभाविक रास्ते से हो रहा था कि "फोर्ट विलियम की करामात आड़े आ गई।" प्रेमचन्द कहते हैं—"यह सारी करामात फोर्ट विलियम कालेज की है, जिसने एक ही जबान के दो रूप मान लिए। उसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनों जबानों में काफी फर्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते, लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की जबान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिए, उसने हमारी कौमी जिन्दगी के दो टुकड़े कर दिये।"[१]

प्रेमचन्द इस बात को जान गये थे कि "राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है।"[२] प्रेमचन्द इस बात को भी जान गये थे कि जुबानों के संघर्ष के द्वारा विदेशी शासक, देश को अनन्त काल तक लड़ाते रहकर अपने शासन के स्थायित्व के लिए षड्यन्त्र कर रहे हैं। क्या यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि आज से अनेक वर्षों पूर्व जब ऐसे कोई खतरे की संभावना भी नहीं थी, प्रेमचन्द ने देश में एकता के अभाव के ख़तरे की ओर इशारा किया था। वे कहते हैं—"इस समय राजनैतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अंगों और तत्वों में कोई ऐसा पारस्परिक संबंध नहीं है, जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंग्रेजी राज्य उठ जाय, तो इन तत्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत संभव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा संघटन उत्पन्न हो जाय, जिसका एक दूसरे के साथ कोई संबंध ही न हो और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय, जो अंग्रेजों के यहाँ आने से पहले थी।[३] तब यह तफ़रीफ़ जाकर रुकेगी कहाँ। उसकी तो कोई इति नहीं। सूबा सूबे के लिए, जिला जिले के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सक्सेना सक्सेना के लिए—इतनी दीवारों और कोठरियों के अन्दर कौमियत कै दिन साँस ले सकेगी।"[४]

तभी प्रेमचन्द ने एक ऐसी भाषा की जरूरत महसूस की थी, जो राष्ट्र के विभिन्न तत्वों के बीच, एकता कायम कर सके, जो एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो, जो देश के एक सिरे से दूसरे तक बोली और समझी जाय[५] और प्रेमचंद के मन में कोई सन्देह नहीं था कि "केवल एक ही भाषा ऐसी है, जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है।

---

१. कु० वि० पृ३ ७१.
२. वही पृष्ठ ९१.
३. वही पृष्ठ ९०-९१.
४. वही पृष्ठ ७७.
५. वही पृष्ठ ९१.

परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी और अभी तक यह बात राष्ट्रीय रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन सा स्वरूप ऐसा है, जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी आसानी से हो सकता है।"[१] वे जानते थे कि "वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है, जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है, जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है।"[२] उन्होंने एक ऐसी मनोरंजक स्थिति की कल्पना की है कि जिसमें "यदि यह दोनों-भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें।"[३] इस प्रसंग में उन्होंने अंग्रेजीदाँ लोगों का अच्छा खाका खींचा है, जिनके यहाँ खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे गये हैं, जो अंग्रेजी बोलते और समझते हैं। उनके बारे में प्रेमचन्द का कहना है कि—"वह इतनी बलन्दी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रहते हैं। लेकिन हम सब तो (सामान्य जनता के लोग) हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है।" "इन्टेलिजेन्सिया में जो कुछ शक्ति और प्रभाव है, वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में रह सकते हैं, खादिम की सूरत में, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मनसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज उनकी है, उसमें जनसमूह की आवाज की गहराई, गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह (स्वयं) अपने प्रतिनिधि हैं—जनता के प्रतिनिधि नहीं।"[४] कुछ हेर-फेर के साथ कही बात शुद्ध हिन्दी और बे-मिलावट उर्दू के समर्थकों के साथ है, जो शब्दों को लेकर लड़ने से थकते नहीं हैं। प्रेमचन्द जानते थे कि "हमारी राष्ट्रभाषा तो वही हो सकती है, जिसका आधार सर्वसामान्य बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज में समझ सकें।"[५] और जब प्रेमचन्द ने कहा कि पन्द्रह से सोलह करोड़ भारतवासी हिन्दुस्तानी बोलते हैं, तो उनका इशारा हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी में से इस तीसरे रूप के लिए था, जो हिन्दी और उर्दू के सरल शब्दों के मेल से बनी है और जिसे हिन्दी और उर्दू जाननेवालों के सिवा असंख्य अन्य लोग समझते हैं।

प्रेमचन्द जानते थे कि हिन्दुस्तानी को दी गई मान्यता से केवल राजनैतिक भला ही न होगा, किन्तु उन्हें विश्वास था कि राष्ट्रीय पुनस्संगठन और पुर्ननिर्माण तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए अभिव्यक्ति के ऐसे माध्यम की आवश्यकता है। वे हिन्दुस्तानी को दी गई मान्यता को इसी दृष्टिकोण से अनिवार्य समझते थे, क्योंकि हिन्दुस्तानी में पारस्परिक संपर्क की दीर्घ परम्परा है और हिन्दुस्तानी ही भारतीय विभिन्नत्व में अभिन्नत्व की स्थापना कर सकेगी।

---

१. कु० वि० पृष्ठ ९१.
२. कु० वि० पृष्ठ ९३.
३. कु० वि० पृष्ठ ९३.
४. कु० वि० पृष्ठ ६८-६९.
५. कु० वि पृष्ठ ९३.

इस अडिग आस्था के साथ प्रेमचन्द ने तुलसी की तरह "संसकीरत" को छोड़कर "भाखा" को अपनाया और उसके प्रसार-प्रचार के लिए एक मिशनरी की तरह काम किया। प्रेमचन्द उर्दू, फारसी के सफल लेखक थे। उनके समय में उर्दू-फारसी अभिजात लोगों की भाषा मानी जाती थी, फिर भी हिन्दी-हिन्दुस्तानी के लिए उनका आग्रह इस बात का सूचक है कि उनकी साहित्य-रचना अत्यन्त महान् उद्देश्य को लेकर हुई थी। इस प्रसंग में हरिभाऊ उपाध्याय ने एक घटना का ज़िक्र इस प्रकार किया है—

"मुझे याद है जब प्रेमचन्द जी ने हिन्दी लिखना शुरू किया, तो वे उर्दू की नकल किया करते थे। जब मैं 'सरस्वती' में काम करता था, उनकी एक कहानी की हस्तलिपि मैंने देखी थी, जिसमें एक वाक्य था—'यह आपका बड़ा आधिक्य है।' उनका यह मतलब था, यह आपकी बड़ी ज्यादती है। यह पढ़कर मुझे बड़ी हँसी आई थी।[१] लेकिन इसी प्रकार अथक अभ्यास से प्रेमचन्द ने जो भाषा और शैली प्रदान की है, वह अद्भुत है। उनका यह अभ्यास जनता से उनके सम्पर्क द्वारा ही सफल हुआ है, अन्यथा इस दिशा में प्रयत्न-विलास और भी होते रहे हैं।

प्रेमचन्द ने अपना साहित्य हिन्दुस्तानी भाषा में लिखा और दोनों लिपियों में प्रस्तुत किया।

हिन्दी और उर्दू के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के प्रेमचन्द पहले और महान् कलाकार ठहरते हैं।

४. साहित्याभिव्यक्ति का स्वरूप : कहानी और उपन्यास

साहित्य-रचना के प्रारंभिक दिनों में जिस प्रकार विभिन्न शलियों को लेकर प्रेमचन्द प्रयोग कर रहे थे, उसी प्रकार साहित्याभिव्यक्ति के विभिन्न अंगों में उन्होंने प्रयोग किये थे। सन् १८९३ में उन्होंने मामू के प्रसंग को लेकर प्रहसन लिखा, सन् १८९४ में "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" एक नाटक लिखा। पहला उपन्यास "इसरारे मुहब्बत" (उर्दू बेगम !) के नाम से सन् १८९८ में लिखा और लगभग उसी समय "रूठी रानी" नाम से ऐतिहासिक उपन्यास भी। फिर तो छोटे-बड़े उपन्यास लिखने का क्रम चल पड़ा। कहानियाँ उन्होंने सन् १९०७ के आसपास लिखीं, जिनमें सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार की थीं। आगे चलकर कुछ नाटक और जीवनियाँ भी लिखीं। कुछ नाटकों-उपन्यासों के अनुवाद किये, बच्चों के लिए जीवनियाँ, कहानियाँ, कथाएँ लिखीं और विचारपूर्ण निबन्ध लिखे। किन्तु उनकी कृतियों का बड़ा भाग उपन्यासों और कहानियों के रूप में है।

इसलिए कहानी और उपन्यास के शिल्प-विधान पर प्रेमचन्द ने विस्तार से लिखा है। नाटक के सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पणियाँ ही मिलती हैं। डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखे एक पत्र में ऐसी टिप्पणी है—

"मैंने गम्भीरता से नाटक लिखने की चेष्टा नहीं की। मैंने एक या दो ऐसी कथाएँ चुनी थीं, जिनके सम्बन्ध में मेरा ऐसा विचार था कि उनका उपयोग नाटकों में अच्छा हो सकता है। रंगमंच के अभाव में नाटक अपना महत्व खो बैठता है। भारतवर्ष में—विशेषकर

---

१. प्रे० अ० पृष्ठ ८०२.

हिन्दी और उर्दू में—रंगमंच नहीं है। यदि रंगमंच है भी, तो वह पारसी रंगमंच का ही भग्नावशेष है, जिससे कि मैं सदैव घबराता हूँ। फिर मैंने नाट्य-कला और रंगमंच-कौशल का ज्ञान प्राप्त नहीं किया। इस प्रकार मेरे नाटक केवल पठनीय नाटक ही हैं। प्रश्न यह उठता है कि मैंने उपन्यास को, जिसमें पात्रों के चरित्र के विकास की अधिक गुंजाइश है, छोड़कर नाटक क्यों लिखे ? इसका उत्तर यही है कि मैंने अपने विचारों के व्यवितकरण (व्यक्तीकरण) का साधन बनाने के लिए उपन्यास को ही तरजीह दी है। आज भी मैं एक या दो नाटक लिखने की सोचता हूँ।"[1]

इसमें नाटक अधिक न लिख सकने के कारणों पर तो प्रकाश मिलता है कि रंगमंच का अभाव है, मुझे नाट्य-कला और रंगमंच-कौशल का ज्ञान नहीं है, इसमें पात्रों के चरित्र के विकास की अधिक गुंजाइश नहीं, लेकिन इस संबंध में कोई संकेत नहीं मिलता कि नाटक क्यों लिखे और आज भी एक या दो नाटक लिखने की क्यों सोचता हूँ। इतना भर कहा गया है कि मैंने एक या दो ऐसी कथाएँ चुनी थीं, जिनके संबंध में मेरा विचार था कि उनका उपयोग नाटकों में अच्छा हो सकता है। लेकिन इस चुनाव का क्या आधार था, कथाओं में ऐसी क्या खास बात हो जाने से उनका उपयोग नाटकों में अच्छा हो सकता है, इस संबंध में कोई भी जिक्र नहीं है। संभवतः उनका इशारा नाटकीयतापूर्ण एक मूल घटना की ओर हो। एक स्थान पर वे कहते हैं—

"आख्यायिका केवल एक घटना है। अन्य बातें सब उसी घटना के अंतर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है।"[2] एक अन्य स्थान पर प्रेमचन्द ने उपन्यास को कथा और नाटक के बीच की वस्तु कहा है।[3]

प्रेमचन्द के साहित्य-विकास को देखें तो जान पड़ेगा कि उनके सामने अनुकरण के प्रेरणा के लिए आदर्श चन्द्रकान्ता, तिलिस्मी होशरूबा, रेनाल्ड की लन्दन-रहस्य, आजाद कथा जैसी पुस्तकें थीं। निश्चय ही कहानी और उपन्यास दोनों में कथा-रस की अनिवार्यता का महत्व प्रेमचन्द ने इन्हीं समर्थ कथाकारों से पाया होगा। प्रेमचन्द ने कहानी के संबंध में लिखते समय सृष्टि के प्रारंभ से ली जाने वाली कथा की परंपरा का निर्देश किया है। "कहानियों का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा।"[4] बाल जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने और मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये, पर वह कहानियाँ अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे।[5] इन कथाओं का प्रमुख लक्षण वैचित्र्य है। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम अपने बाप-दादा की भाँति ही आज भी प्रसन्न होते हैं।[6] मानव जीवन में

---

१. प्रे० वि० पृष्ठ १७३.
२. कु० वि० पृष्ठ २४.
३. वही पृष्ठ ३०.
४. वही पृष्ठ ३५.
५. वही पृष्ठ ३५.
६. वही पृष्ठ ३५.

दो प्रेरणाएँ सदैव से मौजूद रही हैं। दूसरे की सुनना और अपनी कहना–जिज्ञासा और अभिव्यक्ति। साहित्य के मूल में संभवतः इन्हीं प्रवृत्तियों का स्थान है। सभ्यता के प्रभात में जिज्ञासा और अभिव्यक्ति के साथ अद्‌भुत, विलक्षण, अलौकिक का मेल हो गया होगा और तब से कथा के साथ अलौकिक अद्‌भुत का तत्व अविच्छिन्न रूप से जुड़कर उसकी स्वाभाविकता बन गया है। सम्पादक 'जमाना' ने इस संबंध में प्रेमचन्द के विचार बताने के लिए एक घटना का उल्लेख किया है—

"मुकर्मी अब्दुल्ला आसफ अली खाँ साहब ने सन् १९१८ में लिखा था, "प्रेमचन्द से मेरी तरफ से कह दीजिएगा कि मैं उनके तरजे-तहरीर का बड़ा मद्दाह हूँ। लेकिन उन्हें ऐसे किस्से और नावल लिखने चाहिए, जिनसे कौमी जज़बा की नश्वो-नमा में मदद मिले। फौकल आदत वाकयात से पाक हों।" इसका जवाब उन्होंने यह दिया—"मिस्टर अब्दुल्ला की राय पर अमल करूँगा। (अमल किया था और कर रहे थे) हालाँकि सुपरनेचुरल एलीमेन्ट आदमी की जिन्दगी में शामिल है।"[१] इसीलिए प्रेमचन्द कहते हैं कि, "हमारा ख्याल है कि जनरुचि जितनी आसानी से अलिफ-लैला की कथाओं का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती, क्योंकि इनमें कथा-रस और वैचित्र्य का अभाव है।[२] प्रेमचन्द साहित्य में अद्‌भुत की—विलक्षण की—उपेक्षा कहीं नहीं मिलती। "प्रेमाश्रम" में प्रभाशंकर के दोनों छोटे बच्चों की कथा और "कायाकल्प" में रानी देवप्रिया की कथा इसके उदाहरण हैं।

लेकिन सृष्टि के विकास के साथ मानव-मन की जिज्ञासा और अभिव्यक्ति की वृत्तियाँ भी निरन्तर विकसित और परिष्कृत होती गईं। परिणामतः बुद्धि के सहयोग से, ज्ञान के नित नये आविष्कारों से विलक्षण और अद्‌भुत का आकर्षण कम होता गया और यथार्थ का दावा बढ़ता गया। आज का युग घोर यथार्थ का युग है, बुद्धि का युग है, तर्क का युग है।

इसलिए वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक-विश्लेपण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। प्रेमचन्द कहते हैं—"अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"[३]

कहानी के प्रभाव-विज्ञान को प्रेमचन्द ने विस्तार से समझाया है। वे कहते हैं—

"यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन में नहीं होते—जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं,

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ ३९.

२. कु० वि० पृष्ठ ३४.

३. कु० वि० पृष्ठ २९.

जिन पर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें श्मशान में या कब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं।"

शायद इसका कारण यह भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता, जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है।[१] अपनी जड़ता के कारण (पर्याप्त संवेदनशीलता के अभाव में) मनुष्य अपने आसपास के लोगों के सुख-दुःख के साथ अपने मन को मिला नहीं सकता। जड़ता आत्मीयता स्थापित होने में बाधक होती है। मनुष्य अपने ही रहस्यों में घिरा हुआ रहता है। इसलिए दूसरे के निकट आ सकना उसके लिए आसान नहीं होता। लेकिन कथा में जहाँ उसके रहस्यों के भीतर झाँकने को मिल गया कि पाठक उसे अपना मान लेते हैं। प्रेमचन्द कहते हैं कि जीवन के यथार्थ और साहित्य या कला के यथार्थ में अन्तर है और उनके माप-दंड भी एक दूसरे से भिन्न हैं— जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है, जब यह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है। उसके सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम, कोई संबंध नहीं ज्ञात होता—कम-से-कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण संपूर्णतः हमारे सामने आ जाता है और जहाँ वह हमारी मानवी बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दंड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है, तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई मर नहीं सकता, जब तक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हरएक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा।[२] विश्वसनीयता एक ऐसा अनिवार्य गुण है जिसके बिना कथा मन को छू नहीं सकेगी। उपेन्द्रनाथ अश्क की एक कहानी पर इसलाह करते हुए वे कहते हैं—"मौजूदा हालत में किस्सा (कन्विंसिंग) विश्वास पैदा करनेवाला नहीं है।[३]

कथा यथार्थ नहीं होती, काल्पनिक होती है, लेकिन यह काल्पनिकता अपनी विश्वसनीयता के कारण यथार्थ का भ्रम पैदा करती है। इस काल्पनिकता में एक और तत्व है और वह है "सत्य"। "कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है",[४] कहते हुए प्रेमचन्द उसका आशय स्पष्ट करते हैं कि "इतिहास में (और यथार्थ जीवन में भी) आदि से अंत तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहंकार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी और आप सोचने लगेंगे—मनुष्य कितना अमानुष है। थोड़े से स्वार्थ के लिए भाई, भाई की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता

१. कु० वि० पृष्ठ २८-२९.
२. कु० वि० पृष्ठ २९.
३. आ० प्रे० पृष्ठ ५०.
४. कु० वि० पृष्ठ २७.

है। उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है आनन्द नहीं और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती, वह सुन्दर नहीं हो सकती और जो सुन्दर नहीं हो सकती, वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है, वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है, लेकिन उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना और इसलिए वह सत्य है।"[१]

आदर्श और यथार्थ के प्रश्न पर प्रेमचन्द ने जगह-जगह विचार किया है। वे आदर्शवादी हैं, वे साहित्य में आनन्द के हामी हैं, वे "सत्यं" को यथार्थ का पर्याय नहीं मानते, लेकिन वे यथार्थ को साहित्य का अनिवार्य अंग मानते हैं। वे साहित्य में जीवन के यथार्थ से परिचय भी चाहते हैं और जीवन के यथार्थ से नजात भी। दोनों को साथ-साथ साधने के फेर में अपने प्रारंभिक साहित्य में वे कहीं-कहीं कलाकार के दरजे से उतरकर उपदेशक रह गये हैं।

ऊपर के उद्धरण में भी प्रेमचन्द ने नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण अख्तियार कर लिया है। वे महज़ मनोवैज्ञानिकता के हामी नहीं हैं। वे आदर्शवादिता का पल्ला सहज नहीं छोड़ पाते, इसलिए यहाँ भी, इस स्पष्टीकरण में वे आदर्शवादी नजर आते हैं। वे कहते हैं--

"यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फायदा ही क्या? वह तो अपनी आँख से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिए, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद का ही समर्थक है। हमें भी आदर्श की ही मर्यादा का पालन करना चाहिए।[३] आदर्शवादी प्रेमचन्द दो बातों को मानकर चलते हैं—एक है प्राकृतिक कोप या दण्ड (नेमिसिस) और दूसरा यह कि संस्कृति का स्वर्ण-युग अतीत में था, जिसे भविष्य में लाना होगा। उनका साहित्य, सन् १९३० के पूर्व का सारा, ऐसा ही है--बाद में आदर्शवादी प्रेमचन्द घोर यथार्थ की ओर झुक गये थे। तब भी आदर्शों में उनकी आस्था कम नहीं हुई थी। लेकिन चारों ओर फैली हुई विषमताओं को देखकर समाज में उन आदर्शों की कल्पना करने का फिर साहस उन्हें नहीं हो पाया।

कहानी प्रेमचन्द ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न जाये, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हों।[४] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं--

"वह (कहानी) अब केवल एक प्रसंग की, आत्मा की, एक झलक का सजीव हृदयस्पर्शी

---

१. कु० वि० पृष्ठ २६.
२. कु० वि० पृष्ठ २६.
३. कु० वि० पृष्ठ ३१.
४. कु० वि० पृष्ठ ३१.

चित्रण है।[1] केन्द्रीभूत अशेष आकर्षण, मौलिकता या नवीनता, भावोत्कर्षता, जो किसी सत्य के आधार पर हो (इसलिए इसे बंगाली कहानी की भावुकता से भिन्न मानना चाहिए) और ऐसी अत्यधिक समस्त शैली, जो सब प्रकार के अनावश्यक का त्याग और तिरस्कार करे, प्रेमचन्द के अनुसार कहानी के ये अनिवार्य तत्व हैं। स्वयं प्रेमचन्द कहते हैं--

"वहाँ तो (आख्यायिका में) एक शब्द एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य (केन्द्रीय भाव) को स्पष्ट न करता हो।"[2] कहानी के आकस्मिक और अशेष आकर्षण को समझाते हुए वे कहते हैं--

"कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।"[3]

कहानी की उत्तमता प्रेमचन्द उसमें निहित मनोवैज्ञानिक सत्य से मानते हैं। जितनी ही अधिक मनोवैज्ञानिकता कहानी में होगी, उतनी ही अधिक वह अपनी स्वाभाविकता से मन को आकृष्ट करेगी। साधु-पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता छिपा होता है--यह मनोवैज्ञानिक सत्य है......विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक तैयार हो आता है, उसकी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं--यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।[4] यह अकारण ही नहीं जान पड़ता कि मनोवैज्ञानिक सत्यों के उदाहरण देते समय प्रेमचन्द ऐसे ही उदाहरण देते हैं जिनमें असत् पर सत् की विजय प्रत्यक्ष या परोक्ष घोषित होती हो। मनोविज्ञान को प्रेमचन्द ने भी नीतिशास्त्र के रास्ते पाया है, उनकी कहानियों का अधिकांश इस बात का सबूत है। इस प्रकार का नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान का मेल साहित्य की कलात्मकता के लिए घातक भी हो सकता है, क्योंकि कलाकार यदि जरा भी असावधान हुआ कि कला उपदेश बनकर रह जायगी। प्रेमचन्द की अधिकांश सफल कहानियाँ वे ही हैं, जिनमें वे नीति और मनोविज्ञान को कलात्मक ढंग से मिला पाये हैं।

मनोवैज्ञानिकता के सिवा उत्तम कहानी के लिए प्रेमचन्द कुछ और भी बातें बताते हैं--

"एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है--हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। (फिर) किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का उत्तम

---

१. कु० वि० पृष्ठ ३२.
२. वही पृष्ठ २४.
३. वही पृष्ठ २५.
४. वही पृष्ठ ३२.

साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है।[१]

द्वन्द्व का उदाहरण देते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं––

"सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले? कितना भीषण द्वन्द्व है। पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने दूसरे भाई की संपत्ति छल-कपट से छीन ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं।"[२] प्रेमचन्द अपनी कहानी में इस मनुष्य के दावे को एक घड़ी भर के लिए भी आँखों से ओझल नहीं कर पाये हैं। उनकी कहानियों में मनुष्य अपने सकल देवत्व में सामने आता है। जहाँ कहीं ऐसा प्रत्यक्ष नहीं मिलता, वहाँ प्रेमचन्द कहीं अधिक आवेश के साथ, क्षोभ के साथ उसके परोक्ष अस्तित्व की याद दिलाते हैं।

इस सत्य को निस्संकोच भाव से स्वीकार करके कि उपन्यासों ही की तरह आख्या-यिका की कला भी हमने पश्चिम से ली है, कम-से-कम इसका आज का विकसित रूप तो पश्चिम का है ही,[३] प्रेमचन्द उन कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हैं, जिनमें हमारे यहाँ उपन्यास का विकास संभव हुआ। अनेक कारणों से हमारे जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया, साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाँध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव काव्य, नाटक, कथा किसी में भी हम आगे कदम न बढ़ा सके........(नयेपन की चाह हमारे यहाँ उठी ही नहीं या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई) पश्चिम प्रगति करता रहा––उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हर एक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, बेड़ियों से मुक्त हो जाने की छाप लगी हुई है, साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी।[४]

उपन्यास और आख्यायिका के आदिरूप हम कादम्बरी, महाभारत, उपनिषद् और बौद्ध जातक जैसे ग्रन्थों में देखते हैं। कहा जाता है कि इनका निरंतर विकास कठोर मर्यादाओं के बन्धनों के कारण बन्द-सा हो गया। मध्ययुगीन काव्यों में मिलने वाली कथाओं में हम आज के गल्प-उपन्यासों के विकास की टूटी हुई कड़ी को खोजते हैं, लेकिन आज के गल्प-उपन्यासों में उनके अति-पूर्वजों के कोई भी तत्व ढूंढ़े से भी न मिलेंगे। तभी प्रेमचन्द यह स्वीकार करके चलते हैं कि ये कलाएँ हमने पश्चिम से ली हैं और यद्यपि इनका शिल्प-विधान अपने लिए प्रेमचन्द ने निरन्तर प्रयोगों द्वारा विकसित किया है, इन पर अपने विचार प्रकट करते समय उन्हें अंग्रेजी आलोचकों का आधार लेकर चलना पड़ा है। उपन्यास सम्बन्धी

---

१. कु० वि० पृष्ठ ३२.

२. वही पृष्ठ ३२.

३. वही पृष्ठ २९.

४. वही पृष्ठ २९-३०

तत्व निर्देश में अंग्रेजी साहित्य-मर्मज्ञों का प्रभाव यत्र-तत्र दीख पड़ता है। प्रेमचन्द ने उपेन्द्रनाथ अश्क को इसलाह करते हुए एक पुस्तक का निर्देश किया है। वे लिखते हैं--

"पढ़ने के लिए लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की कोई किताब ले लो। स्कूली कोर्स की किताब नहीं। अभी एक किताब निकली है, (आस्पेक्ट्स आफ दि नावल) इस विषय पर अच्छी किताब है।"[१] ई० एम० फारस्टर की 'आस्पेक्ट्स आफ दि नावल' नावल के शिल्प-विधान को कलाकार के दृष्टिकोण से देखने का अद्भुत प्रयास है। निश्चय ही इस पुस्तक ने प्रेमचन्द को भी प्रभावित किया होगा।

आख्यायिका और उपन्यास का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं कि "उनमें आकार के अतिरिक्त और भी अन्तर है और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है, आख्यायिका केवल एक घटना है--अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखाएँ, चाहे जितने चरित्र खींचें, पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं......उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो, अपना ज़ोर दिखाइए, राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफ़िल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए (भाषा सरस होनी चाहिए), कोई दूषण नहीं।"[२] प्रेमचन्द की यह धारणा उनके प्रत्येक उपन्यास में प्रतिफलित मिलती है और जगह-जगह उन्होंने कलम की शक्ति का प्रदर्शन किया है। जहाँ वह उपन्यास की मूल कथा के साथ एकात्म हो गई है, वहाँ सचमुच दूषण नहीं है, लेकिन सरस भाषा (और शैली) लेकर प्रेमचन्द यह लोभ कहीं-कहीं संवरण नहीं भी कर पाये हैं कि कलम का ज़ोर दिखाने का मौका मिले और वे संयत रह जायँ। यह ठीक है कि ऐसे मौके केवल लेखनी-विलास नहीं जान पड़ते, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उपन्यास का उद्देश्य साधते चलते हैं, लेकिन इस प्रकार के अंशों से उपन्यास का आन्तरिक संगठन कुछ ढीला पड़ जाता है।

प्रेमचन्द उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझते हैं--मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल-तत्व है......चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता, अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।[३] लेकिन इस चरित्र-चित्रण के साथ एक प्रश्न उठता है--क्या उपन्यासकार चरित्रों के अध्ययन करके उन्हें (यथातथ्य) रख दे, उनमें अपनी तरफ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करे या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी स्वीकार करे। प्रेमचन्द के इस उठाये हुए प्रश्न के पीछे आदर्श और यथार्थ की समस्या है। इस समस्या का विश्लेषण करके प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यास उच्चकोटि के वह समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो।[४] उसे प्रेमचन्द ने

---

१. आ० प्रे० अं० पृष्ठ ५०.

२. कु० वि० पृष्ठ २४.

३. कु० वि० पृष्ठ ४१.

४. कु० वि० पृष्ठ ४४.

आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की संज्ञा दी है। प्रेमचन्द प्रवृत्त्या आदर्शवादी हैं। जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे चरित्रों में परिवर्तन करना चाहते हैं, वह आदर्शवादिता है और वे यह मानकर चलते हैं कि आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए।[१] आदर्श और यथार्थ के बीच सही समन्वय न होने से आ जाने वाले खतरों को प्रेमचन्द पहले ही बता देते हैं। शुद्ध यथार्थवाद वे कभी नहीं चाहते। वे ऐसा आदर्शवाद भी नहीं चाहते कि जहाँ चरित्र सिद्धान्तों की मूर्तिमात्र हों, जिनमें जीवन न हो और स्पष्ट करते हैं कि "चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ-न-कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती, बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं।"[२]

चरित्रों में आदर्श और यथार्थ के मेल के सिवा प्रेमचन्द एक और शर्त चरित्र-चित्रण के लिए रखते हैं। "साहित्य सत् हो, इस मनोरथ सिद्ध करने के लिए जरूरत है कि उसके चरित्र (पाज़िटिव) हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फंसें, बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें।"[३]

चरित्रों के चित्रण के लिए आदर्श और यथार्थ दोनों की जरूरत है। यहाँ तक तो बात ठीक है, लेकिन इसके आगे यह शर्त लगा देना कि चरित्र पाज़िटिव हों, विरोधात्मक कथन जान पड़ता है। प्रेमचन्द का आग्रह आदर्श और पाज़िटिव पर जितना है, उतना जीवन की यथार्थता में कहीं मिलता नहीं, इसलिए प्रेमचन्द के अनेक पात्र यथार्थ होते हुए भी अपनी सामर्थ्य से परे आदर्शवादिता दिखाने के कारण या तो विश्वसनीयता जाग्रत नहीं करते या कम-से-कम प्रभावित नहीं करते, प्रेमचन्द का आदर्शवादी मन भले ही कहे—ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर अधिक प्रभाव पड़ता है।[४]

उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र मात्र हो, लेकिन वाल्टर बीसेन्ट के साथ प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि "उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी कदर कम नहीं। उसका संबंध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका (के) देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभावों के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका मुख्य विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।"[५]

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मानव के मनोभावों के दो पक्ष होते हैं—ऐकान्तिक या व्यक्तिगत और समाज-सापेक्ष। उपन्यासकार अपनी रुचि के अनुसार अपने उपन्यासों को व्यक्तित्व-विश्लेषक या सामाजिक बनाता है। सामाजिक उपन्यास में देश काल

---

१. कु० वि० पृष्ठ ४४.
२. कु० वि० पृष्ठ ४४.
३. वही पृष्ठ ४५
४. वही पृष्ठ ४५.
५. वही पृष्ठ ५४.

में आबद्ध समाज के स्वरूप को उपन्यास में उतारा जाता है। सामाजिक समस्याओं को उसमें उठाया जाता है। सुविधा के लिए हम एक के लेखक को मनोवैज्ञानिक और दूसरे को सामाजिक कलाकार कह सकते हैं। शरत्चन्द मनोवैज्ञानिक कलाकार हैं, प्रेमचन्द सामाजिक।

उपन्यासकार के लिए विषय की कोई कैद नहीं है। "अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं, अगर आपमें कवित्व शक्ति है, तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व, आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है।[1] लेकिन कैद नहीं है, यही क्या कुछ कम छोटी कैद है। प्रेमचन्द कहते हैं--

"उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है।"[2] जहाँ चलने के लिए निर्बाध स्वच्छन्द भूमि का प्रसार है, वहीं भटक जाने का डर है, वहीं आशंका रहती है कि गंतव्य बिसर न जाय और कलाकार राह के आकर्षण-विकर्षणों में उलझ न जाय। यद्यपि अपनी कहानियों में प्रेमचन्द अनावश्यक के मोह में कहीं नहीं पड़े, अपने उपन्यासों में वे अपने आप पर नियंत्रण कहीं-कहीं नहीं भी रख पाये हैं।

उपन्यास की स्वच्छन्द विषय भूमि में सबसे बड़ी पथ-भ्रान्ति यह है कि उपन्यासकार मानव चरित्रों के चित्रकार के ऊँचे पद से गिरकर किसी सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक मत के प्रचार में लग जाता है। आज के इस बुद्धिवादी युग में क्या यह संभव है कि उपन्यासकार अपने आसपास के संसार से अछूता रह जाय, उस पर युग की धारणाओं और उसके विचारों की छाप न पड़े। प्रेमचन्द यह जानते हैं। वे कहते हैं, "यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े।"[3] वे इस प्रकार से प्रभावित होने को अच्छा ही समझते हैं। "जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।"[4] इसलिए प्रेमचन्द सुझाव देते हैं।

"क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे? ....(इसके लिए) उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों। उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।"[5]

यद्यपि प्रेमचन्द ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे मानव-चरित्र का चित्र माना

---

१. कु० वि० पृ३ ५४.
२. वही पृ३ ५४.
३. वही पृ३ ४५.
४. वही पृ३ ४६.
५. वही पृ३ ४६.

है, लेकिन जान पड़ता है कि उपन्यासों के रचयिता और आलोचक होने के नाते वे इस परिभाषा से सहमत हैं कि उपन्यास उपन्यासकार के आसपास के जीवन का प्रतिफलन है और यह प्रतिफलन उपन्यासकार मानव-चरित्रों के चित्रण द्वारा साधता है। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यास साक्षी हैं कि उनकी रचना केवल चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से नहीं हुई है, उपन्यासकार ने अपने चारों ओर के जीवन को ही किसी न किसी रूप में अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। उपन्यासकार के चारों ओर से तात्पर्य केवल उसकी भौतिक सीमाएँ नहीं हैं, किन्तु उसके मनोजगत से सम्बद्ध सामग्री से लेना चाहिए। आज का उपन्यासकार जीवन को उसकी बाह्य सत्ता में नहीं देखता, उसकी आन्तरिक हलचलों के रूप में परखता है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि––

"रंगभूमि का बीजांकुर हमें एक अन्धे भिखारी से मिला, जो हमारे गाँव में रहता था,"[१] या "मैंने सोफिया का चरित्र मिसेज़ एनेबेसेन्ट से लिया है, यह सच है।"[२] डा० मदान का कहना है कि ऐसा जान पड़ता है कि 'कर्मभूमि' के नायक अमरकान्त की प्रेरणा का स्रोत पण्डित पंत ही हैं। सम्भव है और भी चरित्रों की प्रेरणा उन्हें यहाँ-वहाँ से मिली हो। प्रेमचन्द की यह बात पकड़कर बैठनेवाले कि उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है, प्रेमचन्द के उन कथनों का हवाला देते हैं, जहाँ उन्होंने अपने प्रेरणा-उद्‌गमों का संकेत किया है, लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि केवल पात्रों की प्रेरणा से, उनका चरित्र-चित्रण करने के लिए प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास लिखे हैं। (तब उनकी परिभाषा में अव्याप्ति का दोष माना जायगा, क्योंकि उनके उपन्यास युग-जीवन को उसकी समस्याओं और सपनों को चित्रित करते हैं।) यह ठीक है कि उनका प्रमुख पात्र यथार्थ जीवन के किसी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है, और अपने ऐसे प्रमुख पात्र को वे बड़ी लगन से सँवारते हैं, लेकिन उन्होंने न तो केवल पात्र के लिए उपन्यास लिखे हैं और न उन जैसा समर्थ उपन्यासकार लिखता है।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है।[३] इस सृजन-शक्ति को प्रेमचन्द कल्पना शक्ति संज्ञा भी देते हैं। सफल उपन्यासकार इस शक्ति के उपयोग से उचित परिस्थिति, घटना या द्वन्द्व को इतनी सूक्ष्मता और स्वाभाविकता से चित्रित करता है कि वह विश्वसनीय रूप में पाठक के सामने आ जाती है। वे कहते हैं––

"अगर उसमें (उपन्यासकार में) यह शक्ति मौजूद है, तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर उस शक्ति की कमी है, (तो) उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं, जिनमें मानव चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक सूक्ष्म और प्रभाव डालनेवाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है, लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर सकते।"[४]

---

१. कु० वि० पृष्ठ ४७.
२. प्रे० क० कु० पृष्ठ २४२.
३. कु० वि० पृष्ठ ५४.
४. कु० वि० पृष्ठ ५५.

कल्पना के साथ-साथ उपन्यास की सफलता के लिए प्रभावोत्पादक और सजीव रचना-शैली चाहिए[1] और गहरे भावों को स्पर्श करने का मसाला चाहिए।[2] गहरे भावों के बिना, जीवन के भीतर गहरी पैठ के बिना उपन्यासकार मनोरंजन भले कर ले, मर्म-स्पर्श नहीं कर सकता और बिना सही शैली के अच्छी से अच्छी बात बेअसर रह जाती है।

प्रेमचन्द उपन्यास में वार्तालाप अधिक चाहते हैं, लेखक की कलम से लिखा गया कम।[3] इस संबंध में वे कहते हैं---

"वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य को जो किसी चरित्र के मुँह से निकले---उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए। बातचीत को स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना जरूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है, मानो लेखक खुद लिख रहा हो।[4] यहाँ प्रेमचन्द उपन्यास को भी नाटक की तरह आब्जेक्टिव देखना चाहते हैं, ऐसा जिसमें कलाकार नेपथ्य में रहकर, प्राम्प्ट भले करता रहे, चाहे तो किसी पात्र के रूप में सामने आ जाय, लेकिन अलग खड़े होकर व्याख्याकार की हैसियत में आ जाय, यह उन्हें गवारा नहीं है और वे जो कहते हैं कि उपन्यास, कथा और नाटक के बीच की वस्तु है, वह शायद इसी प्रसंग में कथा कहने में कथाकार सामने रहता है। नाटक में कथाकार नेपथ्य में चला जाता है। उपन्यास में उसकी स्थिति कहीं बीच की होती है। कुछ वह खुद कहता है, लेकिन बहुत उसके पात्र कह लेते हैं।

उपन्यास के आदर्श के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है कि---

"जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे (और ऐसे उपन्यास की रचना भी सभी उपन्यासकार नहीं कर सकते---लेखक) उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है।[5] जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं---जो जीवन में बद्दू बनकर नहीं बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है, और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने जिन्दगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी जिन्दगी मखमली गद्दों पर ही नहीं गुजरी, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है, जिसमें प्रकाश, जीवन और आनन्द-प्रदान की सामर्थ्य होगी।[6]

इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने साहित्याभिव्यक्ति के स्वरूप पर विस्तार से सोचा है और अपने आपके ऊपर अनेक कैद लगा ली है। यद्यपि वे कहते हैं कि "आजाद रौ आदमी हूँ, मसलेहतों का गुलाम नहीं।[7] लेकिन सही है कि साहित्य संबंधी कुछ पूर्व निर्मित धारणाएँ एक अर्से तक उन्हें पकड़े रही हैं।

---

१. वही पृष्ठ ५५.
२. वही पृष्ठ ५७.
३. वही पृष्ठ ५९.
४. वही पृष्ठ ५९-६०.
५. वही पृष्ठ ६०.
६. वही पृष्ठ ६०-६१.
७. प्रे० अं० पृष्ठ ९१४.

भाग ३

प्रेमचन्द साहित्य की भूमिका

(१) युग का आर्थिक ढाँचा

(क) सामन्ती सभ्यता का अन्त

प्रेमचन्द को समझने के लिए उनके युग के यथार्थ स्वरूप की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। हमने प्रारम्भ में ही लिखा है कि यह वह समय था, जब भारत की ग्राम-व्यवस्था विशृंखल हो चुकी थी, और उसका आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा बदल रहा था।

प्रेमचन्द का युग वह युग था, जब देश में अंग्रेजी शासन दृढ़ हो चुका था। प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता युद्ध के बाद सामन्तशाही देश से जा रही थी और एक ओर पूँजीवाद तथा दूसरी ओर नौकरशाही साम्राज्यवाद के रथ पर चढ़कर आ चुके थे। इस स्थिति-परिवर्तन को हम ज़रा विस्तार से देखेंगे।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय समाज का ढाँचा गाँवों की इकाई पर स्थित था जो सारे देश भर में फैले हुए थे और जिनके बीच-बीच में कहीं-कहीं कोई नगर मिल जाते थे। भारतीय आर्थिक व्यवस्था कृषि-निर्भर थी, इसलिए गाँवों की संख्या गणनातीत थी। शहर या तो राजनैतिक महत्व के कारण थे या धार्मिक अथवा व्यावसायिक।

भारतीय गाँवों की व्यवस्था के सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स ने विस्तार से लिखा है--

"ये छोटे-छोटे और बहुत पुरातन गाँव.........भूमि के संयुक्त अधिकार, खेती और हस्तकौशल के समन्वय और श्रम के अपरिवर्तित विभाजन पर आधारित थे........ सौ से लेकर हजारों एकड़ भूमि में एक-एक गाँव की स्थिति होती थी और इनमें से प्रत्येक एक पूर्ण इकाई था, जहाँ अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की सामग्री उपजा ली जाती थी। यह समस्त सामग्री ग्राम-समाज के स्वतः उपयोग की होती थी और कभी विक्रेय (कामोडिटी) का रूप नहीं ले पाती थी.........अतिरिक्त उपज ही विक्रेय हो सकती थी, लेकिन वह भी तब तक नहीं, जब तक उसका एक निश्चित अंश कर या लगान के रूप में राजा तक नहीं पहुँच गया है।

"साधारण से साधारण गाँव में संयुक्त कृषि होती थी और धान्य का आपस में बंटवारा हो जाता था। साथ-साथ प्रत्येक परिवार में सहायक उद्योग के रूप में कातने-बुनने का काम होता था।

"गाँव में पंच सर्वेसर्वा होता था, जो न्यायाधीश, आरक्षक और लगान वसूली का काम करता था, पटवारी जमीन संबंधी लेखा-जोखा रखता था, एक अन्य कर्मचारी अपराधियों

को न्याय के सामने उपस्थित करता था, गाँव में से जानेवाले राहगीरों की रक्षा करता था और उन्हें अगले गाँव तक कुशलतापूर्वक पहुँचा देता था, चौकीदार पड़ोसी गाँवों से अपने गाँव की सीमाओं की रक्षा करता था, जिलाधीक्षक गाँव के तालाब से सिंचाई के लिए पानी देता था, ब्राह्मण धार्मिक कृत्य कराता था, शिक्षक पेड़ तले लड़कों को लिखना-पढ़ना सिखाता था, ज्योतिषी बोनी, कटाई और कृषि सम्बन्धी अन्य मुहूर्तों अथवा कुदिनों की सूचना देता था, लुहार और बढ़ई कृषि के औजार बनाते और सुधारते थे, कुम्हार गाँव के लिए मिट्टी के बर्तन बनाता था, नाई, धोबी, सुनार रहते थे और एक कवि रहता था, जो कहीं सुनार और कहीं शिक्षक होता था। ये एक दर्जन व्यक्ति गाँव पर निर्भर रहते थे। अगर जनसंख्या बढ़ी, तो अनधिकृत ज़मीन पर नया गाँव बस जाता था, जो सब प्रकार पुराने गाँव की तरह होता था। गाँव के उद्योगियों का कार्य वंशगत होता। इससे यह फायदा तो जरूर था कि उचित समय पर आवश्यक सामग्री की प्राप्ति सुलभ होती थी, लेकिन इससे उद्योगों को विकास का अवसर नहीं मिलता था। उद्योगी को अपनी कुशलता बढ़ाने के लिए उत्साह नहीं रहता था।

"ग्राम-व्यवस्था के उत्पादन-संगठन की यह सरलता ऐसी थी कि जो अपने जैसे ढंग के और गाँव पैदा कर लेने की क्षमता रखती हो और जो नष्ट होकर फिर उसी जगह पर उसी नाम से पुनर्जीवित हो सकती थी। एशियाई समाज की अपरिवर्तनशीलता का रहस्य इसी सरलता में है और यह अपरिवर्तनशीलता, उस युग के लिए निस्सन्देह आश्चर्यकारक है, जब राज्यवंशों और राज्यों का निरन्तर उदय और अन्त एक साधारण नियम था।"[१]

वर्ण-व्यवस्था गाँव का अलिखित कानून था और व्यक्ति अपने समाज में वर्ण परिवार और पंचायत के अधीन रहता था। व्यक्ति प्रधान नहीं था, समाज प्रधान था। व्यक्ति पर परिवार का शासन था और सम्बन्ध पारिवारिक थे, जिनका संचालन-नियंत्रण ग्राम-समाज और वर्ण-विधि के द्वारा होता था। व्यक्ति का शासन किसी राज्य-व्यवस्था के आधार पर नहीं होता था, किन्तु गाँव की इस अन्तर्स्थित त्रिमूर्ति के दृढ़ नियंत्रण के द्वारा उसका व्यक्तित्व सुगठित होता था।

राजा (शासक) और गाँव का संबंध इतना ही था कि धान्य का एक निश्चित अंश ग्राम-पंचायत के द्वारा राजा या उसके प्रतिनिधि को सौंप दिया जाता था, अन्यथा ज़मीन ग्राम-पंचायत के अधीन होती थी। वह कभी राजा का स्वत्व नहीं मानी गई। "हिन्दू काल में यही हुआ और मुसलमानी काल में भी इसी व्यवस्था को किंचित परिवर्तनों के साथ स्वीकार किया गया था।" यथार्थ में जो राजनीतिक संघर्ष और युद्ध होते थे, उनका उद्देश्य ग्रामांतर्गत शासन नहीं होता था। किन्तु ग्रामाधिकार मात्र होता था। ग्राम पर स्वत्व, ग्राम से लगान पाने का स्वत्व इनका उद्देश्य होता था। मार्क्स ने लिखा है "समाज का आर्थिक ढांचा राजनैतिक आकाश पर घिरे तूफानी बादलों से अप्रभावित रहता था।"[२]

गाँव का उद्योगी अपने लिए कच्चा माल वहीं प्राप्त कर लेता था जैसे लकड़ी, मिट्टी, चमड़ा, कपास। ये चीजें सभी जगह प्राप्त थीं। लोहा जरूर आयात किया जाता था।

---

१. मार्क्स एंजिल्स : सेलेक्टेड वर्क्स पृ३ ३१७.
२. वही-पृष्ठ ३१७.

ग्राम-जीवन का भौतिक और सांस्कृतिक स्तर निम्न था, जहाँ हजारों वर्ष न परिवर्तन हुए, न विकास। इसलिए समाज का दृष्टिकोण एकांगी और दृष्टि-निक्षेप संकीर्ण होता था। आत्मनिर्भर गाँव में ग्राम से परे किसी विस्तृत चेतना की गुंजाइश नहीं थी। शताब्दियों गाँव का छोटा सा संसार बाहर के संसार से सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक कोई संपर्क नहीं रख पाता था। बैलगाड़ी और आवागमन के अन्य अक्षम साधनों ने गाँव को बाहर की दुनिया से एकदम अलग कर दिया था। गाँव का आदमी या तो मेले या तीर्थ या शादी के लिए गाँव के बाहर जाता था और वह भी बहुत थोड़े समय के लिए।

गाँव के आर्थिक जीवन का आधार प्रारम्भिक प्राचीन औजारों से की गई खेती और हस्तोद्योग था। शताब्दियों यही क्रम चला। श्रम के अनुपात में उपज कम थी, इसलिए न तो गाँव के आदमियों के पास अतिरिक्त धान्य बचता कि उसे व्यावसायिक सामग्री बनाया जा सके, और न विश्राम का समय बचता कि भौतिक और सांस्कृतिक जीवन का स्तर ऊँचा हो सके।

विज्ञान का विकास नहीं था कि औज़ारों में उन्नति हो सके। आर्थिक सम्पर्क के अभाव में गाँव का जीवन बड़ा विपन्न था। बाढ़ या फसल की खराबी से सारे गाँव के अनस्तित्व हो जाने की आशंका रहती थी। इस प्रकृति-जन्य परवशता ने गाँव को अन्ध-विश्वासी, रहस्यात्मक, गुह्य धर्मावलम्बी और प्राकृतिक शक्तियों का पूजक बना दिया था और उनके दृष्टिकोण में पराजय और नैराश्य भर दिया था।

वर्ण-व्यवस्था के कारण व्यक्तिगत प्रेरणा और विकास के लिए अवसर नहीं था। यह विश्वास कि वर्ण-व्यवस्था ईश्वरीय है, गाँव के लोगों को सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में वर्ण-निर्धारित स्थिति स्वीकार करने के लिए विवश करती थी। संपर्कहीन सामाजिक स्थिति, बाढ़ और सूखे के सामने उसके श्रम की नितान्त निष्फलता, वर्ण-व्यवस्था की कठोरता, संयुक्त परिवार प्रथा की आधिकारिता और शैशव से धार्मिक रहस्यात्मक जीवन-दर्शन की अमन्द ध्वनि ने गाँव की मानसिक स्फूर्ति, प्रयोग की प्रेरणा, शोध की प्रवृत्ति और क्रान्त्योन्मुखता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। गाँव की स्थिति घोर अज्ञान के किले की भाँति हो गई, अंधविश्वास और प्रकृत्यावलम्बिता उसकी प्रधान प्रवृत्तियाँ, अनगढ़ औज़ारों और सीमित प्रकृति ज्ञान ने उसके विकास के रास्ते रोक दिये।

राष्ट्रीय चेतना जैसी कोई चीज़ देश में नहीं थी। अशोक या अकबर के समान किसी शासक ने यदि देश का एकीकरण किया भी तो उसका असर गाँव के आन्तरिक जीवन पर नहीं पड़ता था। एकीकरण राष्ट्रीयता का रूप नहीं ले पाता था। राष्ट्रीयता के लिए संयुक्त राजनैतिक और आर्थिक जीवन चाहिए और इन गाँवों में राजनैतिक और आर्थिक चेतना का अभाव था। सांस्कृतिक आधार ग्राम्य-जीवन था।

इन आत्मनिर्भर गाँवों के समुद्र में द्वीपों की तरह कहीं-कहीं कुछ नगर थे, जो तीन प्रकार के थे—धार्मिक महत्व के, राजनैतिक महत्व के और व्यावसायिक महत्व के। धार्मिक महत्व के नगरों के उदाहरण बनारस, प्रयाग, बुद्धगया हैं। यद्यपि बुद्धगया जैसे नगर बौद्ध धर्म के भारत से विलोप होने के बाद उतने महत्वपूर्ण नहीं रह गये किन्तु अन्य इस प्रकार

के नगरों का महत्व १९वीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रहा। राजनैतिक महत्व के नगर राजधानी या शासन-केन्द्र बनने के कारण बस जाते थे और जैसे ही राज-संरक्षण खत्म हुआ कि उनका ह्रास होने लगता था। देवगिरि, बीजापुर, गोलकुण्डा आदि नगर इसी प्रकार के थे। व्यापारिक या व्यावसायिक नगर व्यापारिक मार्गों पर बसे होते थे। मिर्जापुर उदाहरणस्वरूप है। नगर उद्योग-धन्धों के भी केन्द्र होते थे, किन्तु ये उद्योग-धन्धे मुख्यतः कला और विलास की वस्तुओं के उत्पादन तक सीमित रहते थे और इनका चलना राजाओं, सामन्तों और संरक्षकों के संरक्षण पर निर्भर रहता था। जहाँ इनका संरक्षण खत्म हुआ कि नगरों के उद्योग-धन्धे खत्म हुए।

अपने अद्भुत संगठन के कारण गाँव भारतीय आर्थिक व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण अंग थे। नगरों का महत्व इतना नहीं था। लेकिन यद्यपि इन गाँवों में भारतीय संस्कृति की निधि शताब्दियों सुरक्षित रही, इन गाँवों के विकास के दरवाजे बन्द हो गये।

गाँव के प्रतिक्रियात्मक स्वरूप के बारे में मार्क्स ने लिखा है—

"हमें यह न भूल जाना चाहिए कि ये निरापद दिखनेवाले ग्रामीण संगठन शासकीय निरंकुशता के दृढ़ आधार थे। इन्होंने मानव मन को संकीर्ण से संकीर्ण दायरे में बाँध लिया था, जिससे वह अंधविश्वासों का गुलाम, परंपराओं का दास बनकर रह गया और अपनी महानता और ऐतिहासिक क्षमताओं को भूल गया।

"हमें यह न भूलना चाहिए कि इनका बर्बर अहंकार साम्राज्यों की धूल, अनिर्वच अत्याचारों के कृत्य, बड़े नगरों की जनसंख्या का कत्लेआम चुपचाप निहारता रहा, मानों कि ये स्वाभाविक घटनाएँ हों और अगर किसी आक्रमणकारी की नजर पड़ गई तो खुद उसका विवश शिकार बन गया।

"हमें यह न भूलना चाहिए कि इनका निष्क्रिय अस्तित्व गतिहीन, तुच्छ और निरुद्देश था.......और इनमें जातिवाद और दासता के कीड़े पड़ गये थे, जहाँ मनुष्य परिस्थितियों का शासक बनने के बजाय स्वयं बाह्य परिस्थितियों का दास बन जाता था, जहाँ स्वयं विकासशील समाज अपरिवर्तित भाग्यवादिता में सिमिटकर रह गया था।"[1]

भारतीय समाज और अर्थ-व्यवस्था के ऐसे रंगमंच पर अंग्रेजों का आगमन हुआ।

अंग्रेजों का आगमन अब तक से भिन्न प्रकार का आक्रमण था, क्योंकि अंग्रेजी शासन विदेशी पूँजीवाद का प्रतीक था और पिछले आक्रमणकारियों और विजेताओं ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था को अछूता छोड़ दिया था और धीरे-धीरे उसके साथ एकरस हो गये थे। अंग्रेजी विजेताओं ने इस आर्थिक-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया और यहाँ एक विदेशी ताकत ही बनकर रहे। उनका सम्पर्क बाहरी रहा और अलग रहकर ही उसने अपना काम चलाया। "अंग्रेज ऐसे प्रथम विजेता थे जिनकी सभ्यता का स्तर श्रेष्ठतर होने के कारण भारतीय-संस्कृति-सभ्यता के प्रभावों से बचा रह सका। उन्होंने भारतीय आर्थिक व्यवस्था की इकाई, ग्राम-संगठन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। देशीय उद्योगों को निर्मूल कर दिया और

१. मार्क्स एंजिल्स-सेलेक्टेड वर्क्स पृष्ठ ३१७.

भारतीय समाज में जो महान् और उच्च था, उसे ज़मीन में मिला दिया। विध्वंस और विनाश के सिवा उन्होंने कुछ नहीं किया।[1] जिस ढंग से यूरोप में पूँजीवाद के आगमन में विनाशक शक्तियों के साथ सृजनात्मक शक्तियाँ कन्धा मिलाकर चली हैं, वैसा यहाँ नहीं हो पाया।"[2]

देखें, इस विशृंखलित भारतीय समाज का स्वरूप अंग्रेजी शासन में क्या हो गया।

"अंग्रेजी शासन की प्रारंभिक स्थिति में (ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-काल में) भारतवर्ष से सीधी लूट के रूप में अतुल खजाना ले जाया गया। लेकिन भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर इस लूट का असर उतना नहीं हुआ, जितना कम्पनी द्वारा सिंचाई और जन-कार्यों के प्रति उदासीनता के कारण और अत्यधिक असर हुआ, देश में अंग्रेजी भूमि-व्यवस्था के अनुसार भूमि पर व्यक्ति के स्वाधिकार की मान्यता, तथा भूमि-विक्रय और बेदखली के नियम और भारत से विदेश को निर्यात होने वाली चीजों पर भारी चुंगी के कारण। जैसे इतना ही बस नहीं था। सन् १८१३ के बाद अंग्रेज उद्योगपतियों के भारत-आक्रमण ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था की कमर तोड़ दी। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में विस्तार से बताया है कि किस प्रकार भारतीय कपड़े के उद्योग-धन्धे ठप्प हो गये और किस प्रकार अंग्रेजी भाफ और विज्ञान ने सारे भारतवर्ष में कृषि और उद्योगों के मेल की जड़ें काट दीं।[3] मार्क्स कहते हैं—

"अंग्रेजी कपड़ा उद्योग ने भारत पर बड़ा गहरा असर डाला। सन् १८३४–३५ में गवर्नर-जनरल ने स्वयं लिखा है, वाणिज्य के इतिहास में इस दारुणता की तुलना नहीं मिलेगी। हिन्दुस्तान की भूमि जुलाहों और बुनकरों की हड्डियों से बेरंग हुई जा रही है।"[4]

ग्राम-व्यवस्था का आधार कृषि और उद्योगों के मिले-जुले रूप पर था। लेकिन अंग्रेज आगन्तुकों ने भारतीय करघे और चरखे को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और यह घटना एशिया में सबसे बड़ी सामाजिक क्रान्ति बनकर आई और इस क्रान्ति ने प्राचीन औद्योगिक नगर खतम कर दिये, जिससे नगरों के लोग भी आ-आकर गाँवों में बसने लगे और इस प्रकार गाँव का आर्थिक संतुलन खत्म हो गया। कृषि पर बोझ बढ़ता गया और निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। फिर निर्दयतापूर्वक अधिकतम लगान की वसूली और बदले में कृषि के विकास और उन्नति के लिए साधनों की उपलब्धि न होने के कारण कृषि की उन्नति रुक गई। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि पहले उपज का निश्चित हिस्सा लगान के रूप में दिया जाता था, अब निश्चित रकम ली जाने लगी जो अधिक से अधिक होती थी और जिसमें किसी छूट की गुंजाइश नहीं रहती थी। लगान की वसूली बहुत निर्दयतापूर्वक होती थी।

लगान की वसूली के लिए अंग्रेजी आधार पर मालगुजार और जमींदारों की व्यवस्था की गई। इसके अनुसार जमीन पर ग्राम-समाज का अधिकार न रह गया, वह राज्याधिकार के अन्तर्गत हो गई और किसानों को निश्चित लगान पर दी जाने लगी, लेकिन लगान न

---

१. मार्क्स एंजिल्स, सेलेक्टेड वर्क्स पृष्ठ ३२०.
२. वही.
३. वही पृष्ठ ३१५.
४. केपिटल, वाल्यूम १, चेप्टर १५, सेक्शन ५.

दे सकने पर रेहन रखी और बेची जाने लगी। मालगुजार और जमींदार राज्य के दलाल नियुक्त हुए, जिनका काम किसानों से लगान वसूल करके खजाने में जमा करना था। इस प्रकार ज़मीन के स्वत्वाधिकारी से गिरकर किसानों की हालत एक ओर किरायेदार की हो गई, लेकिन दूसरी ओर स्वत्वाधिकार के साथ की रेहन और कर्ज़ जैसी मुसीबतें उसके साथ जुड़ी हुई हैं और इस प्रक्रिया के निरन्तर क्रम ने किसानों को बेदखल करके मज़दूर या गरीब किसान के रूप में परिणत कर दिया है।

गाँव की स्वायत्त-शासन संस्था के आर्थिक कार्य और शासकीय अधिकार खत्म हो गये और अंग्रेज विजेताओं ने यह दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

भारतीय जीवन इस प्रकार विश्रृंखलित हो गया। औद्योगिक-केन्द्र खत्म हो गये तो वहाँ की आबादी गाँव पर बोझ बनने लगी। फिर गाँव के कारीगरों की रोजियाँ खत्म होने से उनके पास कृषि के सिवा और कोई चारा नहीं रह गया। इस प्रकार मजबूरन सारे देश को खेती करने की लाचार हालत में डाल दिया गया। भारतवर्ष मिले-जुले कृषि और उद्योगों के स्तर से गिरकर अंग्रेजी पूँजीवाद के अधीन कृषि-उपनिवेश बनकर रह गया।

इस परिवर्तन के संबंध में मार्क्स ने लिखा है—

"यह बात निस्संशय है कि जो यातना अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को दी, वह इसके पहले की यातनाओं से प्रमुखतः भिन्न और गहरी है.......सारे गृहयुद्ध, आक्रमण, क्रान्तियाँ, विजय, अकाल आदि का प्रभाव केवल ऊपरी था, उन्होंने देश के आन्तरिक संगठन को ज़रा भी प्रभावित नहीं किया। इंग्लैंड ने भारतीय समाज का सारा ढाँचा ही छिन्न-भिन्न कर दिया और अभी उसके पुनर्निर्माण की कोई आशा नहीं दीख पड़ती। अपने पुराने संसार की हानि और किसी नवीन की अप्राप्ति ने उसकी वर्तमान यातना को मानसिक गिरावट से आवृत कर दिया है और अंग्रेजी राज्य के भारतवर्ष को, उसके पुरातन इतिहास और परम्पराओं से वियुक्त कर दिया है।

"लेकिन ग्राम-व्यवस्था के विश्रृंखल और भारतीय समाज के पुरातन आधार के नष्ट होने से हानि नहीं, लाभ ही हुआ। इन प्रतिक्रियात्मक गाँवों की समाप्ति इसलिए आवश्यक थी कि ये प्रगति का पथ रोके हुए थे। अंग्रेजों ने ग्राम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न करके अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए रास्ता साफ किया था, लेकिन उनके इस कार्य से अप्रत्यक्ष रूप में एक सामाजिक क्रान्ति के बीज पड़ गये, जो धीरे-धीरे वृक्ष बन रहे हैं।"

अंग्रेजों के प्रयत्न से हिन्दुस्तान में जो नये तत्व आये, उन्हें मार्क्स इस प्रकार गिनाते हैं—

(१) राजनैतिक एकता : जो मुगलों के जमाने से अधिक और विस्तृत है और जो तार के स्थापित होने के बाद और अधिक दृढ़ और स्थायी होगी।

(२) देशी सेना, जो सन् १८५७ के पहले सुसंगठित थी, बाद में उसके स्थान पर अंग्रेजी सेना को अधिक महत्व मिला।

(३) आज़ाद प्रेस : जो निरन्तर उन्नति और विकास कर रहा है।

(४) जमीन पर व्यक्तिगत स्वत्व की स्थापना।

(५) एक ऐसे नये समाज का प्रारम्भ जो शासकीय जरूरतों को निभा सके और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से विभूषित हो।

(६) जहाज से यूरोप के साथ नियमित और शीघ्रगामी यातायात के साधन।

(७) और इनमें सबसे महत्वपूर्ण काम था रेलों का विकास, रास्तों का विकास, सिंचाई की व्यवस्था।

मार्क्स ने कहा है—

"अंग्रेजी राज्य द्वारा लाये गये नये तत्वों से हिन्दुस्तानी तब तक फायदा न उठायेंगे, जब तक कि स्वयं ग्रेट ब्रिटेन में मजदूर सरकार नहीं आ जाती या हिन्दुस्तानी खुद इतने ताकतवर नहीं हो जाते कि अंग्रेजी-शासन का जुआ कन्धे पर से फेंक सकें।"

(ख) महाजनी सभ्यता–नवागत सभ्यता
(पूँजीवाद–साम्यवाद)

भारतीय ग्राम-व्यवस्था के साथ सामन्ती सभ्यता का अन्त हुआ और पूँजीवाद साम्राज्यवाद की छत्रछाया में विकसित हुआ। पूँजीवाद को प्रेमचन्द ने 'महाजनी सभ्यता' संज्ञा दी है। पूँजीवाद के साथ वर्ग-चेतना आई और मध्यवर्ग अस्तित्व में आया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, या आधुनिक घटना के रूप में मध्य वर्ग एक-रूप समाज स्तर नहीं माना जा सकता है। सामन्ती आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने के साथ कच्चा माल पैदा करने वाले और छोटे उत्पादकों के बीच श्रम-विभाजन की स्थिति आ जाने और उद्योगियों के गाँवों से नगरों में एकत्र होने के कारण मध्यवर्ग की शुरुआत हुई। ये नगर-निवासी, कानूनी रियायतें और अधिकार प्राप्त करने और सामन्ती ज़मीदारों द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों को समाप्त करने के उद्देश्य से एक हो गये। धीरे-धीरे इस बीच की स्थिति के लोग जिनमें बहुरूपता और आर्थिक सामाजिक वैषम्य था, मध्यवर्ग में आ एकत्र हो गये और पुराने विशेषाधिकारयुक्त सामन्तों का ह्रास हो गया।

स्थिति से वर्ग की दिशा में क्रमशः धारणा-परिवर्तन और श्रमिक आदर्शवाद के सुसंबंध निर्धारण के साथ पूँजीवाद अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो गया और पूँजीपति तथा श्रमिक के बीच मध्यवर्ग की स्थिति स्थिर हो गई। इस मध्यवर्ग में उद्योग व्यापारों के मध्यमवर्गी, माल के साधारण उत्पादक, दस्तकार और किसान, छोटे दूकानदार और व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी और वेतनभोगी शामिल हैं।

इस मध्यवर्ग के छोर पर आज़ादपेशा सफल डाक्टर, वकील और जनप्रिय कलाकार लोग हैं। अपनी बेहतर आर्थिक और सामाजिक स्थिति के कारण ये अपने को अभिजात वर्ग के साथ गिनना चाहते हैं। इस आज़ादपेशा स्तर से नीचे जो स्तर है, उसमें बिना रोगियों के डाक्टर, बिना मुवक्किलों के वकील और बिना पाठकों के लेखक हैं।

मध्यवर्ग आकस्मिक क्रान्ति के लिए रोक-थाम का काम करता है। यह परम्पराओं को पकड़े बैठता है। यह परिवर्तन की अपेक्षा स्थित्यंतर में विश्वास करता है। अनेक हलके-हलके स्तरों से बना हुआ यह वर्ग एक ओर अमीरों और दूसरी ओर गरीबों से रसाई बनाये

रखता है। आकस्मिक परिवर्तनों से इसे घृणा होती है और इसमें समझौते की अद्भुत क्षमता रहती है। यह वर्ग सोचता तो है, लेकिन कर नहीं सकता। इसकी बौद्धिक सहानुभूति विरोधी दिशाओं में प्रवाहित होती है और यह अपने जीवन-क्रम से हिलना-डुलना नहीं जानता और इसमें एक विचित्र एकान्त-प्रेम रहता है, जो दम्भ से मिलता-जुलता है। इस वर्ग में आन्तरिक विरोध रहते हैं। किसान प्रोटेक्टिव टेरिफ चाहता है, लेकिन दस्तकार विक्रेय की कम कीमतें चाहता है। उद्योगपति और व्यापारी निर्यात के पक्ष में हैं, लेकिन सरकारी कर्मचारी ऊँचे वेतन माँगते हैं, छोटे दूकानदार और धन्धे करनेवाले कम टैक्स की माँग करते हैं। वेतन और समाज-नीति के सम्बन्ध में वेतनभोगी उनके हितों की चिन्ता करता है, जिन्हें काम मिल जाता है, लेकिन छोटे उद्योगपति काम देने वालों के निश्चित हितों में दिलचस्पी रखता है।

यह वर्ग अनिश्चित ऊँची आय की अपेक्षा निश्चित थोड़ी आय, ताकत के बजाय सामाजिक स्थिति और इन्कलाबी दौर के बजाय स्थिरता पसन्द करता है। विस्तृत नौकरशाही व्यवस्था के कार्यवाहक और अप्रत्यक्ष (डिराइव्ड) आय पानेवाले के रूप में वेतनभोगी दिन-प्रतिदिन की वास्तविक स्थितियों और समाज-संघर्ष के तनावों से दूर रहता है।

पूँजीवादी-व्यवस्था के परिणामस्वरूप वेतनभोगी, सामन्ती जमाने के अवशेषों से भारग्रस्त दस्तकारों के और किसानों से, विचार और दृष्टिकोण में आधुनिक रहते हैं। लेकिन ये वेतनभोगी प्रेरक सामाजिक आदर्शों से अप्रभावित रहते हैं; क्योंकि इनकी आँखों पर साम्राज्यवादी वैभव की चकाचौंध छायी रहती है।

बौद्धिक वर्ग अपने बुद्धिहीन साथियों के साथ दिखावे की हमदर्दी रखता है। यह वर्ग एक ऐसी मानसिक द्वन्द्व की हालत में रहता है, जिसमें वर्तमान नैराश्य और विद्रोहात्मकता, जवानी के दिनों के ऊँचे आदर्शवाद से टकराते रहते हैं और यह निराशा तथा अरक्षा का भाव बौद्धिक संशयवाद और भावात्मक तनाव के रूप में प्रकट होता है। यह वर्ग अपने निश्चित विचार नहीं रखता और हलके-हलके किस्म के समझौतावाद या अव्यवस्थावाद में विश्वास रखता है, लेकिन शर्त यह है कि उसकी स्थिति पर इसका कोई प्रभाव न आ पड़े, अन्यथा जहाँ तक सम्भव हो, वह अपरिवर्तित स्थिति का समर्थक है।

पूँजीवाद और साम्यवाद के विरोधी आदर्शों के बीच की किसी व्यवस्था की अवास्तविक खोज में इस वर्ग ने मध्यपथ का अनुसरण किया है। लेकिन इस प्रसंग में उसकी हालत उस आदमी जैसी हो गई है, जो अपने अत्याचारों से छुटकारा तो चाहता है लेकिन जो भागते समय पकड़कर अपने पुराने स्वामी के सामने डाल दिया जाता है।

"यह वर्ग भले ही परास्तता और मुक़ाबिले के बीच अनिश्चित स्थिति में रहे, लेकिन यह तय है कि पूँजीवाद के विरुद्ध दिखावे का विरोध कोई अर्थ नहीं रखता और एक न एक दिन परिस्थितियों का दबाव उन्हें श्रमिकों के साथ सक्रिय-सहयोग के लिए बाध्य करेगा।"

इस मध्यवर्ग के नियंत्रण में समस्त बौद्धिक सामाजिक जीवन पूँजीवादी-व्यवस्था के घेरे में आ गया और विज्ञान, साहित्य और कला को मजबूर होकर अपनी स्थिति आर्थिक आदर्शों के माध्यम से व्यक्त करनी पड़ी।[1]

---

१. ई० एस० एस० न्यूयार्क पृ० ४०७-४१५ (यत्र तत्र प्रभावित)

प्रेमचन्द पूंजीवादी घेरे में आ गई बौद्धिक और सामाजिक स्थिति को 'महाजनी सभ्यता' के नाम से व्यक्त करते हैं और विस्तार से इसके मिलनेवाले रूपों की चर्चा करते हैं।

वे कहते हैं—

"धन के लोभ ने मानव भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा है। वह देवतास्वरूप है, उसका अन्तःकरण कितना ही काला क्यों न हो। साहित्य, संगीत, कला—सभी धन की देहली पर माथा टेकनेवालों में से हैं। यह हवा इतनी जहरीली हो गई है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डाक्टर और हकीम हैं कि वह बिना लम्बी फीस लिए बात नहीं करता। वकील और बारिस्टर है कि वह मिनटों को अशर्फियों से तौलता है। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जाती है। मौलवी साहिब और पण्डित जी भी पैसे के गुलाम हैं। अखबार उन्हीं का राग अलापता है। इस पैसे ने आदमी के दिलो-दिमाग पर इतना कब्जा जमा लिया है कि उसके राज्य पर किसी ओर से आक्रमण करना कठिन दिखाई देता है। वह दया, स्नेह, सौजन्य और सचाई का पुतला मनुष्य दया ममता शून्य जड़-यंत्र बनकर रह गया है। इस महाजनी सभ्यता ने नये-नये नियम गढ़ लिये हैं। उनमें से एक यह है कि समय ही धन है..........इस सभ्यता का दूसरा सिद्धान्त है, बिज़िनेस इज़ बिज़िनेस—व्यवसाय व्यवसाय है, उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं।"[१]

"परिस्थितियों वश मनुष्य इस सभ्यता के चंगुल में जकड़ा रहा, उसके छूटने की कोई गुंजाइश नहीं थी। अब तक दुनिया के लिए इस सभ्यता की रीति-नीति का अनुसरण करने के सिवा और कोई उपाय न था। उसे झक मारकर उसके आदेशों के सामने सिर झुकाना पड़ता था। महाजन अपने ज़ोम में फूला फिरता था। सारी दुनिया उसके चरणों पर नाक रगड़ रही थी। बादशाह उसका बन्दा, वजीर उसका गुलाम, सन्धि-विग्रह की कुंजी उसके हाथ में। दुनिया उसकी महत्वाकांक्षा के सामने सिर झुकाये हुए, हर मुल्क में उसका बोल-बाला है।"[२]

प्रेमचन्द जानते हैं कि "समाज में आ गये सभी बुरे विचार, भाव और कृत्य दौलत की देन है। पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें। उनकी ओर से तनिक भी विरोध-विद्रोह का भाव दिखाया गया तो सिर कुचलने के लिए पुलिस है, अदालत है, कालापानी है। आप शराब पीकर उसके नशे से नहीं बच सकते। आग लगाकर चाहें कि लपटें न उठें, असम्भव है। पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयाँ लाता है, जिन्होंने दुनिया को नरक बना दिया है। इस पैसे को मिटा दीजिए, सारी बुराइयाँ अपने आप मिट जावेंगी।"[३]

"लेकिन पीयूषपाणि मसीहा की तरह पैसे को मिटानेवाली नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है। परिस्थितियों के दबाव ने मध्यवर्ग को श्रमिकों के साथ

---

१. प्रभात ग्वालियर ६-१०-५२ पृष्ठ ८.

२. प्रभात

३. वही. ग्वालियर ६-१०-५२ पृष्ठ ८.

सक्रिय सहयोग देने के लिए बाध्य कर दिया है। इस नई सभ्यता ने नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। इसका मूल सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का सम्मानित सदस्य हो सकता है और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतिततम प्राणी है।"[१]

"यह नई सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है। वहाँ कोई आदमी अमीरी ढंग से रहे, तो लोगों की ईर्ष्या का पात्र नहीं होता, बल्कि तुच्छ-हेय समझा जाता है। गहनों से लदकर कोई स्त्री सुन्दरी नहीं बनती, घृणा की पात्र बनती है। साधारण जन-समाज से ऊँचा रहन-सहन वहाँ बेहूदगी समझी जाती है। शराब पीकर वहाँ बहका नहीं जा सकता। अधिक मद्यपान वहाँ दोष समझा जाता है, धार्मिक दृष्टि से नहीं शुद्ध, सामाजिक दृष्टि से, क्योंकि शराबखोरी से आदमी में धैर्य और कष्ट-सहन, अध्यवसाय और श्रमशीलता का अन्त हो जाता है।"[२]

आगे चलकर प्रेमचन्द इस आगत नई सभ्यता में स्वाधीनता और धर्म की परिभाषा पर प्रकाश डालते हैं। स्वाधीनता वह नहीं है, जिसमें कोई व्यक्ति जन-साधारण को अपनी महत्वाकांक्षा की तृप्ति का साधन बनाए और तरह-तरह के बहानों से उसकी मेहनत का फायदा उठाये, या सरकारी पद प्राप्त करके मोटी-मोटी रकमें उड़ाए और मूँछों पर ताव देता फिरे। वहाँ ऊँचे से ऊँचे अधिकारी की तनख्वाह भी उतनी ही है, जितनी एक कुशल कारीगर की। वह गगन-चुम्बी प्रासाद में नहीं रहता, तीन-चार कमरों में ही उसे गुज़र करना पड़ता है.......[३] स्वाधीनता का अर्थ है कि जन साधारण को हवादार मकान, पुष्टिकर भोजन, साफ-सुथरे गाँव, मनोरंजन और व्यायाम की सुविधाएँ, बिजली के पंखे और रोशनी, सस्ते और सद्यःसुलभ न्याय की प्राप्ति हो और धर्म की स्वतंत्रता का अर्थ पुरोहितों, पादरियों, मुल्लाओं की मुफ्तखोर जमात के दम्भमय उपदेशों और अंधविश्वासजनित रूढ़ियों का अनुसरण नहीं है, किन्तु लोकसेवा, सहिष्णुता, समाज के लिए व्यक्ति का बलिदान, नेकनीयती शरीर और मन की पवित्रता है।

"निस्सन्देह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मज़दूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता, उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम बढ़ा सके। दूसरे, अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला-बारूद और युद्ध सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराए।"[४]

"इस नई सभ्यता के विरुद्ध पूँजीवाद कमर कसकर खड़ा है। महाजन इस नई लहर से अति उद्विग्न होकर बौखलाया हुआ फिर रहा है और सारी दुनिया के महाजनों की

---

१. प्रभात ग्वालियर ६-१०-५२ पृष्ठ ८.

२. वही.

३. वही.

४. वही.

शामिल आवाज इस नई सभ्यता को कोस रही है। उसे शाप दे रही है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य, धर्म-विश्वास की स्वाधीनता और अपनी अन्तरात्मा के आदर्श पर चलने की आजादी—वह इन सबकी घातक, गला घोंट देने वाली बताई जा रही है। उस पर नये-नये लांछन लगाये जा रहे हैं, नई-नई हुरमतें तलाशी जा रही हैं। वह काले से काले रंग में रँगी जा रही है। उन सभी साधनों से जो पसेवालों के लिए सुलभ हैं, काम लेकर उसके विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है, पर सचाई है, जो इस सारे अन्धकार को चीरकर दुनिया में अपनी ज्योति का उजाला फैला रही है।"[१]

इस महाजनी सभ्यता के अन्त के साथ जो नई सभ्यता इस देश में आ रही है, उसके बारे में प्रेमचन्द ने जो धारणा व्यक्त की है, वह उनके पत्नी के साथ हुए इस कथोपकथन में स्पष्ट है—

वह बोले : रूस वाले यहाँ नहीं आयेंगे, बल्कि रूस वालों की शक्ति हम लोगों में आएगी।

मैं बोली : वह लोग अगर यहाँ आते, तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।

वह बोले : वह लोग यहाँ नहीं आयेंगे। हमीं लोगों में वह शक्ति आयेगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों और मजदूरों का राज होगा। मेरा ख्याल है कि आदमी की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायगी।

मैं बोली : वह कैसे होगा ?

आप बोले : सुनो, वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करके भी भर पेट आराम से रोटियाँ नहीं मिलतीं। रात-दिन कुछ न कुछ फिक्र हमेशा रहती है।

मैं बोली : तो फिक्र हम लोग अपने आप ही करते हैं। मजदूरों का राज्य होने पर क्या हमारी फिक्र से छुट्टी मिल जायगी।

आप बोले : क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारे बीवी-बच्चों को कोई तकलीफ न होगी और इसकी जिम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है, तो हमारा क्या सिर फिर गया है कि हम अपनी जान खपाकर मेहनत करें और आमदनी का कुछ न कुछ हिस्सा काटकर अपने पास जमा करने की कोशिश करें। हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल-बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होने पायेगी, तो ऐसा कौन आदमी है कि आराम से खाना-पहनना नहीं चाहेगा।[२]

3

प्रेमचन्द-साहित्य में इन तीन युगों के चित्रण मिलते हैं। 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियाँ भारतीय ग्राम-व्यवस्था के गौरव को प्रकट करती हैं, 'रंगभूमि' गाँव के छिन्न-भिन्न होकर औद्योगिक सभ्यता के आगमन की सूचना है और 'गोदान' में प्रेमचन्द पूँजीवादी सभ्यता के सारे कलंक को प्रकट करते हैं। 'मंगलसूत्र' साम्यवाद के आगमन की फटी हुई पौ के समान है।

---

१. प्रभात ग्वालियर ६-१०-५६ पृष्ठ ८.
२. प्रे० घ० पृष्ठ १५०.

महाजनी सभ्यता का जो विश्लेषण प्रेमचन्द ने दिया है, वह साम्यवादी लगता है, लेकिन प्रेमचन्द की पकड़ बौद्धिक नहीं भावात्मक है। प्रेमचन्द-साहित्य में और शायद जीवन में भी बौद्धिकता के हामी नहीं हैं, बुद्धि पर भावुकता को तरजीह देते हैं।[१] अगर संज्ञा दी जा सके तो इसे भावात्मक साम्यवाद संज्ञा दी जानी चाहिए। मराठी के साहित्यकार टी० टिकेकर से एक मुलाकात में प्रेमचन्द ने कहा था, "मैं कम्युनिस्ट हूँ! किन्तु मेरा कम्युनिज्म केवल यह ही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें।"[२]

उसी प्रकार साम्यवादी व्यवस्था लाने के लिए प्रेमचन्द भारतीय पद्धति को अपनाना चाहते हैं। इसी मुलाकात में प्रेमचन्द ने अपने लिखने का उद्देश्य समाज-सेवा बताते हुए कहा है, "हाँ, मैंने समाज के भिन्न-भिन्न चित्रों को आदर्श-यथार्थ रूप में रखा है। मैं महात्माजी के चेन्ज आफ हार्ट के सिद्धान्त में विश्वास रखता हूँ। इसलिए ज़मींदारी मिटेगी, यह मानता हूँ। जमीन किसान की होगी।[३] लेकिन यहीं वे एक बात साफ कर देते हैं कि "मैं गाँधीवादी नहीं हूँ, केवल गांधीजी के चेंज आफ हार्ट में विश्वास करता हूँ।"[४]

(ग) गाँधीवाद और साम्यवाद

राजनैतिक समस्याओं को विशदता से लेकर चलनेवाली प्रेमचन्द की कृतियों में 'प्रेमाश्रम' प्रथम है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द गांधीवाद के रास्ते से जा रहे थे। यह बात उन्होंने स्वयं भी स्वीकार की है। वे कहते हैं—

"मैं दुनिया में महात्मा गांधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मज़दूर और काश्तकार सुखी हों। वह हम लोगों को बढ़ाने के लिए आन्दोलन मचा रहे हैं। मैं लिख करके उनको उत्साह दे रहा हूँ। महात्मा गांधी हिन्दू मुसलमानों की एकता चाहते हैं। मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिलाकर के हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।"[५] लेकिन तब भी वे साम्यवाद की महत्ता से अपरिचित नहीं थे। 'प्रेमाश्रम' में तरुण पीढ़ी के किसान के मुँह से उन्होंने कहलवाया है—

"मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों का ही राज है। वह जो चाहते हैं, करते हैं। इसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मज़दूरों की पंचायत राज करती है।"

प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक विश्वासों के संबंध में दो बातें लिखी हैं—एक तो यह कि मैं कम्यूनिस्ट हूँ, किन्तु मेरा कम्यूनिज़्म केवल इतना ही है कि हमारे देश में ज़मींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें, और दूसरी यह कि मैं गांधीवादी नहीं हूँ, केवल गांधीजी के चेंज आव् हार्ट में विश्वास करता हूँ।

---

१. सा० उ० पृष्ठ ७६.

२. विश्व० प्रे० अं० पृष्ठ १२.

३. वही.

४. वही.

५. प्रे० घ० पृष्ठ १२८.

प्रेमचन्द को समझने के लिए संक्षेप में मार्क्स और गांधी के चिन्तनाधार को समझना आवश्यक है।

मार्क्स के अनुसार अर्थ ही जीवन का विधायक है। युग का राजनैतिक और सामाजिक घटनाक्रम तात्कालिक आर्थिक प्रक्रिया से प्रभावित रहता है और सामाजिक और राजनैतिक विकास आर्थिक वर्गों के स्वाभाविक संघर्ष के आधार पर होते हैं। इस संघर्ष की भविष्य-गति का उल्लेख करते हुए मार्क्स गति की विभिन्न स्थितियों में, विभिन्न वर्गों की स्थितियों में क्या परिवर्तन होगा इसकी ओर स्पष्ट संकेत करता है। लेकिन मार्क्स भाग्यवादी नहीं है। उसका कहना है कि मनुष्य आर्थिक परिस्थितियों की अवश्यंभाविता के प्रभावों से बच नहीं सकता, लेकिन यह प्रभाव परोक्ष नहीं होता। मनुष्य की इन प्रभावों के प्रति सक्रिय प्रतिक्रिया होती है, और वे युग की सामान्य आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होने पर भी काफी हद तक अपने वातावरण को बदल सकते हैं। अगर सारी समाज-व्यवस्था उत्पादन के संबंधों से निर्धारित है, तो इन संबंधों में परिवर्तन करके समाज के दोषों को दूर किया जा सकता है। अगर वर्तमान व्यवस्था में पूँजी पर लगान, ब्याज और नफ़े के रूप में व्यक्तिगत अधिकार है, लेकिन जिसके अधिकांश का उत्पादन केवल श्रम के द्वारा संभव है, तो पूँजी के व्यक्तिगत अधिकार को खत्म करके ऐसी उत्पादन और वितरण-व्यवस्था क़ायम की जानी चाहिए, जिसमें व्यक्तिगत लगान, ब्याज और नफ़े की संभावना न हो। अगर पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य गति तीव्र होकर खुद व्यवस्था को कमज़ोर और जर्जर बना दे, तो प्राप्य साधनों के द्वारा क्रमशः पूँजीपतियों को उत्पादन के साधनों से च्युत करके सामाजिक क्रान्ति को स्वाभाविक क्रम और दिशा पर ले जाया जा सकता है।[१] इस प्रकार मार्क्स ने जीवन में आर्थिक नियतिवाद की स्थिति को स्वीकार करके भी नियतिवादिता को कहीं प्रश्रय नहीं दिया है। मार्क्स का कहना है कि समाजवादी कार्यक्रम का धर्म है कि वह श्रमिकों को यह बताये कि अपनी आन्तरिक महत्ता को वास्तविक रूप किस तरह दिया जाना चाहिए और स्वाभाविक आर्थिक संघर्ष को किस प्रकार सुयोजित राजनैतिक संघर्ष का रूप देकर सत्ता हासिल करना चाहिए।[२] यह राजनैतिक संघर्ष क्रान्तिमूलक भी हो सकता है और विकासमूलक भी और संघर्ष का यह स्वरूप विभिन्न देशों की विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर है। मार्क्स ने कहा है—"राजनैतिक सत्ता हासिल करने के साधन देश और काल के अनुसार बदल सकते हैं।"[३] लक्ष्य राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति है, साधन कोई भी हों। मार्क्स के अनुसार समाजवाद की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष अनिवार्य शर्त है।

गांधीवाद यह मानकर चलता है कि मानवी सम्बन्धों की सार्थकता आर्थिक, राजनैतिक और विधिगत साधनों से नहीं, नैतिकता और धर्म से संभव है, और अर्थ नहीं, सत्य मानव जीवन का आधार है। जीवन के हर क्षेत्र में गांधीवाद विज्ञान और भौतिकता का विरोधी है। गांधीजी का चरखा भारतीय जीवन में आ गये औद्योगीकरण के विरुद्ध घर और गाँव की अभेद्यता और आत्मनिर्भरता का प्रतीक है। उनका पंचायत राज औद्योगिक

---

१. आर० पी० टी०-एफ० डब्लू० कोकर पृष्ठ ५२-५३.

२. वही पृष्ठ ५४.

३. वही पृष्ठ ५९.

सभ्यता के, वर्ग-संघर्ष के विरुद्ध पुरातन कृषि सभ्यता की सहकारिता के महत्व के प्रतीक हैं। उनका हरिजन आंदोलन सामाजिक न्याय और समता का प्रतीक है।[१]

गांधीजी के सिद्धान्तों को निम्नलिखित तत्वों के रूप में देखा जा सकता है—

(१) ईश्वर, सत्य, अहिंसा में विश्वास।

(२) 'सादा जीवन उच्च विचार' में विश्वास और दानव यंत्रों के बहिष्कार और चरखे के प्रचलन के द्वारा आत्मनिर्भर गाँवों की स्थापना।

(३) वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त और आर्थिक नियतिवाद में अविश्वास।

इस प्रसंग में अप्टलन क्लोज लिखित 'एशिया का विद्रोह' में लेखक को दिये गये गांधीजी के उत्तर का उद्धरण पर्याप्त होगा—"मैं आपको यह समझाना चाहता हूँ कि पश्चिमवासियों से भी पश्चिमवाद ज्यादा खतरनाक है। मेरा विश्वास है कि पश्चिमवाद एक धोखा है, जो अपने भक्तों को नाश की ओर लिए जा रहा है।.........संस्कृति प्रधान तत्व है, शासन गौण है। हमें ऐसा शासन चाहिए जो हमारी संस्कृति तथा जीवन-व्यवस्था को सर्वोपरि माने, जो हमारे पुरातन हस्तकौशल को बढ़ावा दे, जो हमारे अन्तः-करण को कल-कारखानों की दुर्गन्ध और धुएँ से रूँध न पाये। यह मिथ्या है कि जीवन तभी सुखी समझा जाये, जब नाना वस्तुओं का संचय हो, तरह-तरह के आराम की चीजें हों.........मैं चाहता हूँ कि अंग्रेज कारखाने मिटा दें, रेलें उखाड़ डालें, अंग्रेजी शिक्षा बन्द कर दें।"[२]

इन आधारभूत तत्वों की सम्प्राप्ति के लिए अहिंसा और सत्याग्रह की ग्राह्यता गांधीवाद की अपनी विशेषता है। गांधीवाद लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन्हीं भी साधनों का नहीं, सत्य और अहिंसा का ही प्रयोग मानता है। इन्हीं के द्वारा गांधीवादी सर्वोदय, सबके कल्याण का विश्वास रखते हैं। धीरेन्द्र मजूमदार ने समझाया है "वर्ग विषमता के लिए क्रान्ति की प्रक्रिया क्या हो? दो ही तरीके हो सकते हैं—एक, वर्ग संघर्ष का हिंसात्मक तरीका, दूसरा, वर्ग-परिवर्तन की अहिंसात्मक क्रान्ति............. उन्मूलन की प्रक्रिया हिंसा की प्रक्रिया है.........इसीलिए गांधीजी वर्ग-परिवर्तन की अहिंसक क्रान्ति का आह्वान करते हैं। वे बिना उत्पादन किये गुजारा करने वाले वर्ग को सामाजिक उत्पादन में शामिल होकर उत्पादक वर्ग में विलीन होने के लिए कहते हैं।...."[३]

गांधीजी क्रान्ति को हिंसा के रास्ते से नहीं, हृदय-परिवर्तन के रास्ते से लाने की बात कहते हैं। तभी तो वे चाहते हैं कि जमींदार और पूंजीपति अपने को किसानों-मजदूरों का ट्रस्टी समझें।

इस संक्षिप्त विश्लेषण के आधार पर देखें, प्रेमचन्द कितने समाजवादी और कितने गांधीवादी हैं।

---

१. एच० एस० पृ० ४.

२. सारथी २-१०-५४ पृष्ठ ९

३. नव प्रभात ३-१०-५४ पृष्ठ ५.

प्रेमचन्द का कम्युनिज्म केवल यह ही है कि हमारे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें। कम्युनिज्म के साथ प्रेमचन्द के मन का इतना ही मेल है, इसके आगे नहीं। वे एक शोषणहीन समाज की स्थापना चाहते हैं बस, अन्यथा न आर्थिक नियतिवाद में उन्हें विश्वास है और न ही वे अर्थ को जीवन की मूल प्रेरक ताकत मानते हैं। वे समाज के मार्क्सीय विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते और न समाज-विकास को मार्क्सीय साधन से संभव मानते हैं। उनका लक्ष्य मात्र मार्क्सीय है।

लेकिन यह लक्ष्य तो गांधीजी का भी है। इसलिए प्रेमचन्द-साहित्य में लक्ष्य के दृष्टिकोण से गांधी और मार्क्स दोनों को सम-भाव से स्वीकार किया गया है। साधनों के संबंध में प्रेमचन्द गांधी को आदर्श मानते हैं। उनके चेंज आफ हार्ट में विश्वास करते हैं। यानी यह मानकर चलते हैं कि गांधीजी की तरह वे भी जमींदारों, सेठों को यह बताना चाहते हैं कि वे अपने को किसानों-मज़दूरों का ट्रस्टी समझें। वे वर्गों का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, लेकिन नये समाज के निर्माण में वर्ग-संघर्ष की जरूरत नहीं मानते। यहाँ यह जानना जरूरी है कि प्रेमचन्द के समय में गांधीजी का सर्वोदयवाद व्यावहारिक क्षेत्र में नहीं आ पाया था, तब प्रेमचन्द वर्गों के अस्तित्व को मानते हुए बिना वर्ग-संघर्ष के उनके अनस्तित्व होने की कैसी आशा रखते हैं। 'गोदान' में राय साहब होरी से अपना रोना रोते हुए कहते हैं "लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है। मैं उस दिन का स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ। ईश्वर वह दिन जल्द लाये। वह हमारे उद्धार का दिन होगा। हम परिस्थितियों के शिकार बने हुए हैं। यह परिस्थिति ही हमारा सर्वनाश कर रही है।"[१] जिन परिस्थितियों और लक्षणों का जिक्र प्रेमचन्द ने किया है वे सभी समाज-विरोधी, प्रतिक्रियात्मक भाव, विचार और कर्म हैं जो अपंग, पुरुषार्थहीन, पूँजीशाही वर्ग के साथ उसी प्रकार जुड़ गये हैं, जिस प्रकार गतिहीन डबरे के पानी में हर प्रकार के क्षय के कीटाणु एकत्र हो जाते हैं। परिस्थितियों की इस अनिवार्य गति को प्रेमचन्द मानते हैं। किन्तु मार्क्स भी तो इसी विश्लेषण को लेकर चलता है, जब वह कहता है कि यदि पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य गति ऐसी तीव्र हो जाती है कि परिणामस्वरूप स्वयं पूँजीवाद कमजोर और जर्जर हो जाय तो ....। शायद प्रेमचन्द का विश्लेषण मानवतावादी, नैतिक है, जिसके पीछे संसार-चक्र का वह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि ओल्ड आर्डर चेन्जथ, यील्डिग प्लेस टु न्यू और मार्क्स का आर्थिक। इसलिए प्रेमचन्द का अनुमान है कि पूँजीवाद का घड़ा इतना भर गया है कि जब निश्चय ही फूटेगा और जब यह व्यवस्था खत्म हो जायगी, तो शोषक-शोषित वर्ग रहेंगे ही नहीं। इसलिए ऊपर के उद्धरण में 'तो' के आगे मार्क्स जो यह कहता है कि पूँजीवाद के कमजोर और जर्जर होने के बाद श्रमिक उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लेंगे, तो मार्क्स "एतिहासिक नियतिवाद" को मानकर चलता है और प्रेमचन्द भावात्मक ढंग से उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। परिस्थितियों की अनिवार्यता दोनों मानते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द केवल इतनी ही दूर तक कम्युनिस्ट नहीं हैं कि वे शोषक-वर्ग का अन्त चाहते हैं लेकिन इससे आगे भी अपने ढंग से उसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं, जो मार्क्सवादी देते हैं।

---

१. गोदान पृष्ठ १७.

आगे चलिये। शोषक-शोषित व्यवस्था की समाप्ति के लिए प्रेमचन्द गांधीवादी मत-परिवर्तन वाले सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। गांधीवादी मनःपरिवर्तन केवल निष्क्रिय कोई कल्पना नहीं है। उसमें दृढ़ कर्म का आग्रह है। गांधीजी के अहिंसा सिद्धान्त के तीन पक्ष हैं--परोक्ष विरोध, सविनय अवज्ञा और असहयोग और तीनों के पीछे यह धारणा स्पष्ट है कि अहिंसात्मक ढंग से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी जायँ कि जिन परिस्थितियों में शोषक के लिए अपने मनःपरिवर्तन के सिवा कोई चारा बाकी न रहे। प्रजातांत्रिक तरीके को स्वीकार करके गांधीजी चलते हैं। मार्क्स भी अपने कार्यक्रम का पहिला अंग इसी को मानता है, जब वह प्रजातंत्र की लड़ाई को जीतने की बात कहता है। यदि कोई फर्क है तो इतना ही कि गांधीजी प्रजातन्त्र को धर्म-नीति मानकर चलते हैं और मार्क्स केवल नीति-धर्म। लेकिन इस प्रसंग में मार्क्स और गांधी में कहीं कोई विरोध नहीं है। मार्क्स का कथन है कि श्रमिकों को अपनी शोषित जाति का संगठन करके सत्ता हासिल करना होगा, इतना करके उन्हें शोषण की परिस्थितियाँ समाप्त करने का काम करना होगा। सन् १९४५ में जेल से निकलते ही गांधीजी ने कहा था—"अंग्रेज जा रहे हैं और शायद जैसा हम समझते हैं, उससे जल्द ही जायँगे। अब हमें शोषणहीन समाज कायम करने के लिए सक्रिय कदम उठाना है।"[1] अपने समय में प्रेमचन्द के लिए यह कहना जरा मुश्किल था कि बदली हुई परिस्थितियों का ऊँट किस करवट बैठेगा, लेकिन यह विश्वास उन्हें था कि जिस भी करवट बैठे, शोषित वर्ग का अन्त निश्चित है। यहाँ मार्क्स और गांधी दोनों एक ही जमीन पर खड़े हैं, इसलिए प्रेमचन्द एक को स्वीकार करके परोक्ष भाव से, भले ही भावनात्मक ढंग से दूसरे को भी स्वीकार कर रहे हैं। कह सकते हैं कि वे मार्क्सवादी होकर न केवल शोषक वर्ग को समाप्त करना चाहते हैं, बल्कि उनका तरीका भी मार्क्स की उदार-योजना की सीमा में आ जाता है। कह सकते हैं कि वे मार्क्स की प्रजातांत्रिक योजना के साथ हैं।

एक बात और प्रेमचन्द ने कही है "मैं गांधीवादी नहीं हूँ, केवल गांधीजी के "चेन्ज आफ हार्ट में विश्वास करता हूँ।" "गांधीवादी नहीं हूँ" कहकर उन्होंने गांधीवाद की मूल-भूत धारणाओं से इन्कार किया है। वे अनीश्वरवादी हैं। वे गांधीजी की तरह गाँवों की ओर मुड़ जाने के पक्ष में नहीं हैं। गांधीजी कहते हैं--"वर्तमान सभ्यता का मुख्य चिह्न यंत्र हैं। यांत्रिकता महापाप है।.......बम्बई की मिलों के मजदूर गुलाम बन गये हैं। मिलों में काम करने वाली औरतों की हालत दर्दनाक है।" "रंगभूमि" में प्रेमचन्द भी सूरदास से इस नये वर्ग, मजदूरों के बारे में कहलाते हैं—"वे सारी बस्ती में फैले हुए हैं और रोज उधम मचाते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुई, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न शराबियों का हुल्लड़ रहा। जब तक मजदूर लोग यहाँ काम पर नहीं आ जाते, औरतें घरों से पानी लेने नहीं निकलतीं, रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती।" लेकिन मशीन युग के साथ आ गई इस अनैतिकता से मार्क्स-वादी अपरिचित नहीं हैं। मार्क्स के अभिन्न मित्र एंजिल्स ने बड़ी स्पष्ट तस्वीर देते हुए लिखा है—"आज समाज असंख्यक गरीबों के साथ जैसा व्यवहार कर रहा है, वह खून खौला

---

१. न० प्र० ३-१०-५४ पृष्ठ ५.

देने वाला है। उन्हें शहरों में भेड़ियाधसान के ढंग से खींचा जा रहा है, जहाँ वे गाँवों की हवा से भी गंदी हवा का व्यवहार करते हैं। जहाँ वे रहते हैं, वहाँ हवा-पानी तक का कष्ट है...... एक-एक कमरे में दर्जनों की भीड़ इकट्ठा रहती है जिनमें नीचे सील और ऊपर टपके रहते हैं।........सारांश में सुअरों के रहने के स्थान से ज्यादा गंदे इनके रहने के स्थान रहते हैं..........शराबखोरी और व्यभिचार निर्बाध चलते हैं।" लेकिन जहाँ परिस्थितियों की इन वास्तविकताओं के कारण गांधीजी फिर गाँवों की ओर लौटना चाहते हैं और यहाँ तक कहते हैं, "मैन्चेस्टर के कपड़े के व्यवहार से हम केवल अपना आर्थिक नुकसान करते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के औद्योगीकरण से हम जो पैसा बचायेंगे वह अपने नैतिक कल्याण की कीमत पर.......हम घरों में पैदा हुए कपास की बत्ती बनायेंगे और मिट्टी के दियों का उपयोग करेंगे," वहाँ मार्क्सवादी और उनके साथ प्रेमचन्द परिस्थति की वास्तविकता से मुख नहीं मोड़ पाते। वे औद्योगीकरण को मानव सभ्यता की स्पष्ट मंजिल मानते हैं और जितना ही अधिक यह अनुभव करते हैं, उतना ही अधिक वे सचेष्ट होकर उसके अभिशाप को दूर करने में लग जाते हैं। यद्यपि इस संबंध में प्रेमचन्द ने अपने को खूब स्पष्टता से प्रकट नहीं किया है, लेकिन यह साफ है कि औद्योगीकरण के प्रति उनका विरोधात्मक रुख 'रंगभूमि' के बाद फिर कभी प्रकट नहीं हुआ। हाँ, 'गोदान' में खन्ना की मिल जलाकर प्रेमचन्द ने यह जरूर बतलाना चाहा है कि मानवता की मूल वृत्तियों पर औद्योगीकरण ने परदा डाल दिया है, मानवोचित गुणों से धन की कीमत बड़ी बना दी है, लेकिन वे औद्योगीकरण और पूँजीवाद के कार्यकारण सम्बन्ध को नजर-अंदाज करते चलते हैं।

गांधीजी आर्थिक नियतिवाद में विश्वास नहीं करते। प्रेमचन्द भी अर्थ को जीवन-गति का संचालक नहीं मानते। लेकिन वे गांधीजी के विपरीत वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को मानते हैं और उनके समस्त साहित्य में इस संघर्ष का अस्तित्व जोरों से स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार प्रेमचन्द अपने को जितना कम्यूनिस्ट समझते हैं, उससे अधिक कम्यूनिस्ट और जितना गांधीवादी मानते हैं, उससे कम गांधीवादी हैं। या यों कह ही लीजिए कि प्रेमचन्द का आदि गांधीवाद है और अन्त साम्यवाद।

(२) सामाजिक और राजनैतिक

नये हिन्दुस्तान की हलचलों को समझने के लिए सन् १८५७ के बाद की घटनाओं को उनके विभिन्न स्वरूपों में देखना होगा।

सन् १८५७ में प्रथम स्वतंत्रता-आन्दोलन हुआ। सन् १८८५ में कांग्रेस का जन्म हुआ। पहला आन्दोलन ठीक अर्थ में राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता. क्योंकि इसमें शामिल होन वाले लोगों में राष्ट्रीय-ऐक्य की चेतना का अभाव था और इन सामन्ती नेताओं का मूल उद्देश्य नकारात्मक था—विदेशियों का निष्कासन। सन् १८८५ तक जनता का असन्तोष बढ़ चुका था। "उद्योगपतियों को अंग्रेजों द्वारा भारत का सम्पूर्ण अधिकार अपने निर्बाध उद्योग विकास के कार्यक्रम को पूरा करने में बाधक जान पड़ा। शिक्षितवर्ग को अंग्रेजी शासन-तन्त्र की सर्वोच्च नियुक्तियों को अंग्रेजों के लिए सुरक्षित रखने में इन स्थानों के लिए अपनी उचित महत्वाकांक्षा के मार्ग में बाधा जान पड़ी। धरती के बेटे, किसानों को नई ज़मीन और

लगान व्यवस्था अपने निरन्तर विपन्न होने का कारण मालूम हुई और सर्वहारा प्रोलेतेरियत वर्ग को जान पड़ा कि अंग्रेजी शासन ऐसा विदेशी अप्रजातान्त्रिक तन्त्र है, जो उसे वर्ग संघर्ष को विकसित करके अपनी जीवन और श्रम की परिस्थितियों को सुधारने से रोकती है।

"इसके आगे, समस्त भारतीय जनता को जान पड़ा कि अंग्रेजी विदेशी शासन उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास को अवरुद्ध रखना चाहती है।"[१]

इस असन्तोष को तनिक विस्तार से समझना आवश्यक है।

हम यह देख चुके हैं कि अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय जीवन का आधार ग्राम-इकाई था। ग्राम सब प्रकार आत्मनिर्भर थे। ग्रामीण कृषि और हस्त-उद्योग उनका आर्थिक जीवन था, पंचायत न्याय और शासन के लिए उत्तरदायी थी। जाति-व्यवस्था हिन्दू जाति का वह लौह गढ़ था, जिसके भीतर बैठकर इस जाति ने बाहरी, विदेशी, विधर्मी आक्रमणों का सफलता पूर्वक मुकाबिला किया।

गाँव यथार्थतः शासन की स्वतन्त्र इकाई थे। केन्द्रीय सत्ता से उनका सम्बन्ध इतना ही था कि केन्द्र के प्रतिनिधि को गाँव की ओर से लगान के रूप में फसल का निश्चित भाग दे दिया जाता था।

गाँव का सामाजिक स्तर संकीर्ण और सांस्कृतिक स्तर निम्न था। गाँव के लोग इस प्रकार शताब्दियों एक ही जड़, अन्धविश्वासी, संकीर्ण, अपरिर्वतित सामाजिक और बौद्धिक स्थिति में रहे। समस्त भारतीय जनता एक से अंधविश्वासों में जकड़ी हुई, एक से देवी देवताओं को मनाती हुई, एक सी संकीर्ण जातीय और ग्राम-चेतना के प्रभाव में, सीमित और स्थानीय दारुण ग्राम जीवन में आवद्ध थी, और ये गाँव आर्थिक प्रगति, सामाजिक प्रतिक्रिया और सांस्कृतिक अज्ञान के गढ़ थे।[२]

ऐसे देश में अंग्रेजों का आगमन एक महत्वपूर्ण घटना की भाँति हुआ। अब तक के आक्रमणकारी भारतीय सभ्यता के स्तर तक नहीं पहुँच सके थे इसलिए वे भारतीय जीवन को परिर्वातित नहीं कर पाये, बल्कि भारतीय जीवन के समुद्र में खो गये। अंग्रेजों की सभ्यता-संस्कृति का स्तर भारतीयों से उच्चतर था इसलिए वे उसे बड़ी दूर तक प्रभावित कर पाये, यहाँ तक कि उनके प्रभाव में शताब्दियों से चली आई हुई ग्राम-व्यवस्था विशृंखल हो गई।

अंग्रेजों की भारतीय विजय के बारे में मार्क्स ने कहा है, "इंग्लैंड को भारतवर्ष में दुहरे उद्देश्य को पूरा करना है। एक संहारक, दूसरा निर्माणक। पुरातन एशियाई समाज का मूलोच्छेदन और पश्चिमी समाज के भौतिक आधार को स्थापना।"[३]

अंग्रेजों के देश ने अपने यहाँ सामन्तवाद का अन्त कर दिया था और उसके स्थान पर आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था कायम कर ली थी और सामन्ती अर्थ-व्यवस्था पर आधारित अपने देश की सामन्ती अनेकता के स्थान पर पूँजीवाद के माध्यम से राष्ट्रीय-एकता स्थापित कर ली

१. पृष्ठ २७१-२७२.–S. B. I. N.

२. एस० बी० आई० एन० पृ३ १२.

३. एम० ई० सेलेक्टेड वर्क्स- पृष्ठ ३२०.

थी। पूँजीवादी राष्ट्र सामन्ती लोगों से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक सक्षम रहता है। पूँजीवाद का आधार उत्पादन के बेहतर तरीके होते हैं, इसलिए पूँजीवादी राष्ट्र सामन्ती लोगों से अधिक अर्थ सबल होता है। पूँजीवादी राष्ट्र सामन्ती लोगों से अधिक देशभक्त और राष्ट्रीय होता है क्योंकि वह एक ही राजनैतिक सत्ता और एक ही अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत रहता है।[1]

निश्चय ही अंग्रेजों की भारत विजय की दुहरी सार्थकता है। यह एक पूँजीवादी आधुनिक राष्ट्र की सामन्ती-व्यवस्था पर विजय है, इसलिए अंग्रेजों के आगमन के साथ भारतीय सामन्ती प्रथा धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गई। उसके स्थान पर पूँजीवादी व्यवस्था आ गई। कहा जा सकता है कि भारतीय आर्थिक अनेकता के स्थान पर पूँजीवादी आर्थिक एकता का आगमन अंग्रेजी शासन का प्रगतिशील कदम था। लेकिन जितनी दूर तक यह रूपान्तर अंग्रेजी व्यावसायिक औद्योगिक और आर्थिक स्वार्थों के अधीन था, उतनी दूर तक यह भारतीय आर्थिक विकास की स्वतन्त्र और निर्बाध गति में बाधक हुआ।[2] इसलिए अपनी दुहरी मिशन की पूर्ति में अंग्रेजी पूँजीवाद आधी दूर तक तो सफल हुआ, आधे रास्ते में वह रोड़ा बनकर खड़ा हो गया और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की कहानी इस रोड़े को रास्ते से अलग करने की कहानी है। यह रोड़ा सहज और स्वतंत्र विकास के रास्ते में अनेक ढंग से आया, जिसके कारण भारतीय औद्योगीकरण में रुकावटें पड़ीं, कृषि अंग्रेजी फैक्टरियों के लिए कच्चा माल पैदा करने तक सीमित रह गई और भारतवर्ष कच्चा माल पैदा करने वाला अंग्रेजी उपनिवेश और अंग्रेजी उद्योगों के लिए बाज़ार बन कर रह गया।[3]

भारतीय सभ्यता का आधार ग्राम-व्यवस्था थी, इसलिए अंग्रेजी पूँजीवाद गाँव के रास्ते इस देश में दाखिल हुआ, और अंग्रेजी विजय के साथ देश में ग्राम-क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। अब तक ज़मीन गाँव की होती थी, किसान उसे जोतते थे। अब ज़मीन पर व्यक्तिगत, यानी या तो जोतने वाले किसान का या जमींदार का अधिकार हो गया और फसल के अंश के रूप में लगान देने की पुरानी व्यवस्था के स्थान पर निश्चित रकम के द्वारा लगान चुकाने की व्यवस्था आ गई। नतीजा यह हुआ कि जहाँ अब तक खेती का उद्देश्य ग्राम आवश्यकताओं की पूर्ति था, वहाँ अब उसके स्थान पर विक्रय के उद्देश्य से खेती होने लगी। गाँव के आत्मनिर्भर आत्म-तुष्ट जीवन में रुपया-आना-पाई का प्रवेश हो गया। बंधुत्व और सहकारिता के स्थान पर स्पर्द्धा का आगमन हुआ। कृषि अब ठीक व्यवसाय के रूप में परिणत हो गई।

ज़मीदार और ऐसे अन्य दलालों का वर्ग कायम करने में अंग्रेजी शासन का उद्देश्य केवल शासकीय सुविधा नहीं थी। ये जमींदार इस देश में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाने और सुरक्षित रखने के लिए गढ़ के समान थे। उन्हें अंग्रेजी सरकार ने जन्म दिया था, इसलिए इनके स्वार्थ अंग्रेजी शासन के अस्तित्व के साथ जुड़े हुए थे। इसलिए इस वर्ग को, अपने हित में राष्ट्रीय चेतना के प्रति प्रतिक्रियात्मक बना रहना आवश्यक था। लार्ड लिटन ने स्पष्ट

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ २४.

२. वही पृष्ठ २५.

३. वही.

शब्दों में कहा था, "हिन्दुस्तानी समाज की ये अनुदार ताकतें, जिनमें जमींदार शामिल हैं भारत में अंग्रेजी शासन के सबसे बड़े समर्थक हैं।"[१]

गाँव का जीवन विश्रृंखल होने लगा। आन्तरिक सहकारिता गई, बाहरी सहायता, जो अब तक गाँव को सामूहिक रूप में चरागाह और जंगल के अमूल्य उपयोग के रूप में प्राप्त थी, अब खत्म हो गई। जो दृढ़ बन्धन गाँव को ऐक्य के सूत्र में बाँधे हुए थे, अब न रहे और भारतीय समाज का परम्परागत ढाँचा छिन्न-भिन्न हो गया। सामन्ती व्यवस्था गई, पूँजीवादी व्यवस्था आ गई।

इस पूँजीवादी व्यवस्था ने जहाँ गाँव को उसके संकीर्ण सीमित दायरे से मुक्त किया, वहाँ यह आशा थी कि इस नई व्यवस्था में भारतीय राष्ट्रीय भावना के साथ भारतीय सम्पन्नता भी आयेगी। लेकिन यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि भारतीय "पुनर्जागरण" का यह सूत्रपात जिन अंग्रेजी हाथों की प्रेरणा से हुआ, वे अपना खुद का भी स्वार्थ लेकर यहाँ आये थे। इसलिए भारतीय समाज अंग्रेजी पूँजीवादी व्यवस्था का अनुचर बना और भारतीय कृषि अंग्रेजी उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध करने का साधन। मार्क्स ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए साफ लिखा है—

"हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति लाने में इंग्लैंड के अपने हीनतम स्वार्थ निहित थे और इन स्वार्थों की पूर्ति करने में उसने निकृष्टतम साधनों का उपयोग किया था।"[२]

ज़मीन की नई व्यवस्था में खेत खरीदे, बेचे और रेहन रखे जाने लगे, चरागाहें और जंगल सरकार के हो गये। लगान की नई व्यवस्था ने किसानों को निरंतर अधिकाधिक कर्जदार बना दिया। गाँव के हस्तोद्योगों के ह्रास के बाद ज़मीन और खेती की ओर ये बेकार हस्तोद्योगी दौड़े। जमीन पर बोझा बढ़ा, फलस्वरूप जमीन अधिकाधिक छोटे टुकड़ों में बँटने लगी और कृषिकारों की आय घटने लगी। किसान गरीब होने लगे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दलालों के शोषण ने इसमें मदद की। गरीबी के कारण वे लगान देने में असमर्थ हो गये और रोज की आवश्यकता की चीजें सरकारी चुंगी के कारण बढ़ी हुई कीमतों पर खरीदने के लिए मज़बूर होने के कारण वे साहूकारों से कर्ज लेने दौड़े और साहूकारों ने परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाया। कड़े ब्याज की दर के कारण किसान निरन्तर अधिकाधिक कर्जदार होता गया और एक दिन कर्ज न पटा सकने के कारण बेदखल कर दिया गया। जमीन खेत जोतने वाले किसान के हाथों से मालगुजार, जमींदार और साहूकारों के हाथों में पहुँच गई। धीरे-धीरे एक वर्ग जमीन पर काम करने वाले किसानों का हो गया और दूसरा जमीन से लगान वसूल करने वाले जमींदार-साहूकारों का। किसानों की समस्या का एक और पहलू था, जिसका उदाहरण चम्पारन के नील की खेती पर काम करने वाले मज़दूर थे। इनकी हालत गुलामों से बदतर होती थी। इन्हें पेशगी रुपया दे दिया जाता था और उसके ब्याज के बदले उनसे खेती पर काम लिया जाता था। रकम के रूप में उन्हें कुछ नहीं मिल पाता था, इसलिए ऋण चुका सकने का प्रश्न उठता ही नहीं था। न केवल आजीवन किन्तु

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ १५९.

२. मार्क्स एंजिल्स, सेलेक्टेड वर्क्स पृष्ठ ९०.

पीढ़ी दर पीढ़ी ये गुलाम रोटी के बदले खेतों में काम करते थे। मरने वाला हर किसान अपने बेटे को कर्ज और गुलामी की विरासत सौंपकर मरता था।

इस स्थिति के संबंध में कहा जाने लगा कि---

'जब तक ज़मीन की पुनर्व्यवस्था, कृषि-सहकारिता और वैज्ञानिक खेती के द्वारा गाँव की आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किये जाते, क्षेत्रहीन किसान की समस्या और अधिक दारुण होती जायगी और इस वर्ग की प्रवृत्ति शहरों के औद्योगिक सर्वहारा वर्ग से अपने को जोड़ लेने की होगी। यह सामाजिक उथल-पुथल की सूचना होगी।'[१]

भारतीय-कृषि के राष्ट्रीय स्वरूप धारण करने के बाद उसकी समस्याएँ भी राष्ट्रीय हो गईं और राजनैतिक दलों ने अपने-अपने ढंग से किसानों के प्रश्न पर विचार करना प्रारंभ कर दिया।

इसी प्रकार उद्योगी अंग्रेजों के अधीन होने के बाद, जहाँ एक ओर भारतवर्ष के गृह उद्योगों पर असर पड़ा, वहाँ भारतीय औद्योगीकरण की उन्नति भी निर्बाध नहीं हो पाई। चूँकि भारतीय गृह उद्योगों का नाश विदेशी उद्योगों के द्वारा सम्भव हुआ, देश के हस्तोद्योगियों के सामने किन्हीं उद्योगों के रूप में जीवन-निर्वाह का साधन नहीं रह गया। उन्हें विवश होकर खेतिहर-मजदूर बनना पड़ता और नतीजा यह हुआ कि नई व्यवस्था में जहाँ दूसरे देशों ने उद्योग और कृषि के बीच एक संतुलित आर्थिक रचना पा ली थी, इस देश में उद्योगों का विकास हो नहीं पाया और जमीन पर भार बढ़ता गया। इसका कारण है ब्रिटिश उद्योगपति इस देश में उद्योगों को बढ़ावा देकर अपने लिए स्पर्द्धा की परिस्थितियाँ पैदा नहीं करना चाहते थे। दूसरी ओर कृषि प्रधान रखकर वे इस देश की खेती को अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल मात्र पैदा करने का साधन बनाये रखना चाहते थे।

भारतीय समाज में आमूल परिवर्तन हो जाने के बाद समाज में एकदम नये स्तरों का आविर्भाव हुआ। गाँव के क्षेत्रों में मुख्यत: ये स्तर मिलते हैं—

(१) अंग्रेजों के द्वारा पैदा किया गया जमींदार वर्ग,
(२) इन ज़मींदारों के अधीन किसान,
(३) किसान-मालिकों के उच्च, मध्य और निम्न वर्ग,
(४) कृषक मज़दूर,
(५) दूकानदार,
(६) साहूकार।

शहर के क्षेत्र में मुख्यत: ये स्तर मिलते हैं—

(७) उद्योगपति, व्यवसायी और साहूकार किस्म के आधुनिक पूंजीपति,
(८) आधुनिक मज़दूर,
(९) छोटे-छोटे सौदागर और दूकानदार,

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ ५९.

(१०) पेशेवर लोग, जिनसे शिक्षित मध्यवर्ग बना है।[1]

इनमें से मध्यवर्ग और प्रोलेटेरियत सर्वहारा वर्ग नये युग की उपज है। इसलिए इनके बारे में कुछ जानना आवश्यक होगा।

नये समाज की जरूरतों के आधार पर मध्यवर्ग का जन्म हुआ और अंग्रेजी संस्कृति और शिक्षा के साये में इसका पालन-पोषण हुआ। आर्थिक दृष्टि से इनका ज्ञान और इनकी दक्षता विक्रेय सामग्री है, सामाजिक दृष्टि से ये पूंजीवादी-व्यवस्था के अविभाज्य अंग हैं। इसके सिवा यह पेशेवर जाति आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न है[2] और इनकी शिक्षा-दीक्षा समाज के बड़े क्षेत्र को अपने-अपने ढंग से प्रभावित करती है। इस वर्ग ने आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय चेतना को बड़ा बल दिया है, यथार्थतः भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में अधिकांश मध्यवर्गी चेतना का हाथ है।

सर्वहारा वर्ग का जन्म आधुनिक उद्योगों के साथ हुआ और देश के औद्योगिक विकास के साथ इनकी संख्या और ताकत बढ़ती गई।

यह मजदूर वर्ग, गाँव के अपने किसान भाइयों से ज्यादा साहसी, संगठित और आत्म-निर्भर है लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि ये मजदूर देश के समस्त महत्वपूर्ण कार्यों में लगे हुए हैं। उनके काम आधुनिक समाज की सामाजिक और आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इसलिए मज़दूर वर्ग के संगठन, समाज में अपनी माँगों के प्रति अधिक-से-अधिक ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं। यद्यपि पिछड़ेपन, जाति-सम्प्रदाय के विभाजन से उनके संगठनों को क्षति पहुँची है, फिर भी ये दिन पर दिन अपनी ताकत बढ़ा रहे हैं।

भारतवर्ष में आई राष्ट्रीय चेतना को आधुनिक शिक्षा ने निस्संदेह पुष्ट किया है, लेकिन अंग्रेजों के साथ आई आधुनिक शिक्षा के अनेक अंश भारतीय जीवन-विकास के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुए।

आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ अंग्रेजों ने राजनैतिक शासकीय और आर्थिक जरूरतों की पूर्ति के लिए किया था। डलहौजी के बाद जब देश का अधिकांश भू-भाग अंग्रेजी शासन के अंतर्गत आ गया और उसके साथ अंग्रेजी उद्योगों व्यवसायों का देश में प्रवेश हो गया तब देश के शासन-तन्त्र को चलाने के लिए पढ़े-लिखे लोगों की जरूरत पड़ी। शासन-तन्त्र के शीर्ष स्थानों पर अंग्रेज नियुक्त हुए और क्लर्की भारतीय शिक्षितों को सौंपी गई। अंग्रेजी शिक्षा प्रधानतः क्लर्क पैदा करने की मशीन बन गई।

इसके सिवा अंग्रेजों का दावा था कि उनकी संस्कृति श्रेष्ठतर है और यह उनका नैतिक अधिकार है कि वे एक असभ्य पिछड़े हुए देश को सुसंस्कृत बनाएँ। आधुनिक शिक्षा इसलिए भारतवर्ष को अंग्रेजी साँचे में ढालने का कार्यक्रम लेकर शुरू की गई थी।

एक और बात है। यह शिक्षा औद्योगिक और वैज्ञानिक ढंग की नहीं थी। अंग्रेज इस प्रकार की शिक्षा के द्वारा भारतीयों को उद्योग-विज्ञान से परिचित करके अपने औद्योगिक और आर्थिक स्वार्थों पर कुठाराघात नहीं करना चाहते थे।

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ १५३.

२. वही पृष्ठ १५७.

इन असुविधाओं के बीच भी राजा राममोहन राय जैसे लोग और आर्य समाज जैसे संगठनों ने भारतीयों को उचित ढंग से शिक्षित करने में कुछ उठा नहीं रखा।

कांग्रेस के जन्म के साथ प्रारम्भ होने वाले देश के राजनैतिक और सामाजिक इतिहास को जानने के लिए, पिछली शताब्दी में चले विभिन्न सुधार-आन्दोलनों को जानना जरूरी है।

ग्राम-समाज के विशृंखल होने के बाद नये आधुनिक समाज की स्थापना के साथ और उसके अस्तित्व के लिए यह जरूरी हो गया कि शासन-व्यवस्था को नये युग की परिस्थितियों में ढालने के लिए उसमें उचित संशोधन किये जायँ। इसीलिए राष्ट्रीय चेतना को बल देते हुए विभिन्न सुधार आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जो सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में पुनर्निर्माण का कार्यक्रम लेकर सामने आये।

सामाजिक क्षेत्र में जाति-सुधार (वर्ण-व्यवस्था विरोधी) या जाति-भंग, नारी को समानाधिकार, बाल-विवाह विरोध, विधवा-विवाह समर्थन और सामाजिक वैषम्य-विरोध के रूप में आन्दोलन प्रारंभ हुए।

धार्मिक क्षेत्र में अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा, बहुदेवतावाद और वंशगत महन्तवाद या मठवाद के विरुद्ध आन्दोलन किये गये।

इन समाज-सुधारों को ज़रा विस्तार से देखें। नये भारतीय समाज की समस्याएँ चतुर्मुखी थीं। यह बराबर अनुभव किया जाता था कि जिस जातिवर्ण-व्यवस्था ने शताब्दियों तक भारतीय जन-जीवन को बाहरी प्रभावों से बचाये रखा, वह नई परिस्थितियों में न केवल अनुपयोगी सिद्ध हो रही थी, बल्कि प्रगतिपथ की बाधा भी बन रही थी। इसी प्रकार नये ज्ञान के प्रकाश में लोगों ने अनुभव करना शुरू किया कि अछूत के प्रति होने वाले अत्यन्त अमानवीय व्यवहार का अन्त होना चाहिए। नारी भी, जो युगों से अभिशप्त होकर पुरुष की दासी बनकर रह गई थी, अब जैसे उठकर पुरुष से अपने अधिकार या कम-से-कम अपने प्रति न्याय की माँग करने लगी थी। इसी प्रकार वे धार्मिक संस्थाएँ, धार्मिक विचार और विश्वास जो सदियों तक भारतीय जीवन का संचालन-नियंत्रण करते रहे थे, बुद्धिवाद के आगमन के साथ आलोचना के विषय बन गये, और यह आवश्यकता जान पड़ने लग गई कि यदि इन संस्थाओं को जीवन-स्फूर्ति का साधन बनाना है, तो इनके पुनरध्ययन के द्वारा इनमें एकत्र हो गई प्रतिक्रियात्मकताओं को दूर किया जाना चाहिए।

समाज सुधारकों ने यह बराबर अनुभव किया कि जहाँ नये ज्ञान और बुद्धिवाद के आधार पर अनेक परम्परागत संस्थाओं और रूढ़ियों का समर्थन नहीं किया जा सकता, वहाँ समय स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करता जा रहा है, जिनमें परम्परा-पालन व्यावहारिक भी नहीं रह गया है।

समाज-सुधारकों की लड़ाई तीन विभिन्न मोर्चों पर थी। उन्हें परम्परा-प्रेमियों के निहित स्वार्थों से लड़ना था, उन्हें समाज में फैले अज्ञान और अंधविश्वास से लड़ना था और एक सीमा तक शासन के प्रत्यक्ष-परोक्ष उन प्रतिरोधों से लड़ना था, जो शासन इसलिए पैदा करता था कि उसे ऐसा करना अपने स्वार्थों के अनुकूल जान पड़ता था।

इसीलिए समाज-सुधार की प्रवृत्तियाँ भी त्रिमुखी थीं। एक ओर समाज सुधार करने-

वाली संस्थाएँ बन रही थीं, जैसे ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज। दूसरी ओर समाज के नेता—जैसे स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द एवं बंगाल और महाराष्ट्र के अनेक जन-सेवी जनता में प्रचार कर रहे थे। तीसरी ओर राजनैतिक क्षेत्र के नेता इन विभिन्न समस्याओं को विभिन्न रूपों में शासन के सामने रखकर शासकीय स्तर पर उनके सुधार में प्रयत्नशील थे। पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण और इस शताब्दी के प्रारंभ में हम इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाते हैं। इस प्रसंग में कुछ और बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि स्वयं परिस्थितियाँ प्रगति के अनुकूल वातावरण बना रही थीं। औद्योगिक क्रान्ति के साथ जैसे-जैसे ग्राम-समाज छिन्न-भिन्न होता गया, वैसे-वैसे जातिवाद, वर्णवाद के बंधन शिथिल होते गये, जैसे-जैसे शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, लोग अपने अंध-विश्वासों और रूढ़ियों के घेरे से मुक्त होने लगे, जैसे-जैसे राजनैतिक चेतना आने लगी, वैसे-वैसे वे अनेक समाज-विरोधी भावनाएँ दूर होने लगीं, जो आदमी और आदमी के बीच दूरी बनाए रखती हैं और जो नारी को पुरुष की क्रीत-दासी मानती हैं। इसी प्रकार आर्थिक समस्याओं के जीवन में अधिकाधिक प्रवेश के साथ जहाँ धार्मिकता का आग्रह कम होता गया, वहाँ मानवता के रूप में धर्म के मूल-तत्वों के प्रति लोगों का आग्रह भी बढ़ता गया।

इस प्रकार परिस्थितियों और प्रयत्नों ने मिलकर पिछली शताब्दी के अंत और इस शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय सामाजिक जीवन को एकदम नई आस्थाओं के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया।

इन आन्दोलनों के मूल में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामाजिक समानता के भाव थे, जो राष्ट्रीय चेतना को बल प्रदान करते हैं।[१]

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेज सरकार ने स्वयं सुधारों की ओर दिलचस्पी दिखाई थी और दास-प्रथा, सती-प्रथा और बाल-हत्या बन्द करने के लिए कानून बनाये थे। आगे चलकर अंग्रेज शासकों की दिलचस्पी कम हो गई और यह काम केवल समाज-सुधारकों को प्रचार द्वारा करना पड़ा।

इन समाज सुधारकों ने मध्ययुगीन जर्जर समाज व्यवस्था की विभिन्न मूलभूत धारणाओं पर प्रहार किया। ये धारणाएँ निम्नलिखित हैं—

१. आन्तरिक प्रेरणा के बजाय बाह्य शक्ति पर निर्भरता,
२. वंश और जन्म के आधार पर मनुष्य और मनुष्य में काल्पनिक भेद,
३. नियतिवाद

इन धारणाओं के फलस्वरूप नारी को पुरुष के अधीन और निम्नवर्ण को उच्चवर्ण के आधीन मान लिया गया था। फल यह हुआ था कि मनुष्य का स्वाभाविक गौरव इन भेद-विभेदों के बीच समाप्त हो गया।

समाज सुधारकों के विभिन्न दलों ने, जिनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज शामिल हैं, अपने-अपने ढंग से समाज को नया बना डालने का संकल्प किया। जातिवाद

---

१. एस० बी० आई० एन०—पृ. २११

और अस्पृश्यता के खिलाफ इन संस्थाओं ने ज़ोरदार आन्दोलन छेड़ा था। नारी जागरण और शिक्षा प्रचार के लिए भी इन्होंने प्रयत्न किये।

हिन्दू और मुसलमानों में जागृति पैदा करने के लिए अनेक संस्थाएँ सामने आई थीं और इनका आधार धार्मिक था। हिन्दुओं में ब्रह्म समाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज तथा मुसलमानों में अहमदिया आन्दोलन और अलीगढ़ आन्दोलन उल्लेखनीय हैं। यद्यपि प्रारंभ में इन आन्दोलनों ने प्रगति का स्वर दृढ़ किया, तथापि आगे चलकर इनमें से अधिकांश प्रतिक्रियात्मक बनकर रह गये। यहाँ तक कि आगे चलकर हिन्दू और मुसलमानों के अलग-अलग दल, अपने अपने क्षेत्रों में सुधार का काम करने के बजाय पारस्परिक विरोधों को उत्तेजना देने लगे। इस 'षड्यंत्र'' में स्वयं अंग्रेजी-सत्ता शामिल हो गई, जिसने राष्ट्रीय चेतना को निर्बल बनाकर अपना प्रभुत्व स्थायी रखने के उद्देश्य से, विभिन्न जातियों-उपजातियों को अलग-अलग रखने का कार्यक्रम बनाया और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व, निर्वाचन रक्षितता और प्रान्तों का पुर्नविभाजन जैसे प्रतिक्रियात्मक तरीकों का उपयोग किया।

साम्प्रदायिकता की भावना, अंग्रेजी शासन के अंतर्गत समाज की आर्थिक व्यवस्था, विभिन्न जातियों के कम-ज्यादा आर्थिक और सांस्कृतिक विकास, अंग्रेजी शासन की कूटनीतिज्ञता और दोनों सम्प्रदाय के निहित स्वार्थों के परिणामस्वरूप आई।[१]

इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि पर भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के विकास-क्रम को अधिक स्पष्ट समझा जा सकेगा।

सन् १८५७ का विद्रोह भारतीय मन के असन्तोष की पहली अभिव्यक्ति है। उसकी असफलता ने अंग्रेजों को चौकन्ना भी कर दिया और उनकी ताकत का लोहा मानने के लिए विद्रोहियों को मजबूर कर दिया। सन् १८५७ के विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने अपने शासन की नीति बदल दी।

सन् १८५७ तक अंग्रेजों का उद्देश्य देशी राज्यों को समाप्त करके सारे देश को अंग्रेजी शासन की सीमा के भीतर ले आना था। अब उन्होंने अपना तरीका बदल दिया और जो राज्य अब तक अधिकृत नहीं हो पाये थे, उन्हें स्वतंत्र रहने दिया गया। इस नई नीति के द्वारा अंग्रेजों ने ऐसे मित्रों की पंक्ति कायम कर लीं, जो अंग्रेजी शासन के सच्चे हिमायती बने रहे। इस प्रकार जिस अंग्रेजी सत्ता ने अपने देश में सामन्तवाद खत्म कर दिया था, इस देश में सामन्तों की समर्थक बन बैठी।[२]

इन देशी राज्यों के संबंध में कार्ल मार्क्स ने लिखा है—

"जिन परिस्थितियों में इन देशी राज्यों को अपनी दिखावटी स्वतंत्रता बनाये रखने दिया जाता है, वे निरन्तर क्षय की परिस्थितियाँ हैं, जिनमें सुधार की कोई भी गुंजाइश नहीं है। आन्तरिक दुर्बलता उनके अस्तित्व-विधान की शर्त है........देशी राज्य आज की घृणित अंग्रेजी व्यवस्था के गढ़ हैं और भारतीय, विकास के रास्ते में सबसे बड़े रोड़े हैं।"[३]

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ ३४१.

२. वही पृष्ठ २७६.

३. वही पृष्ठ २७६.

लेकिन इनको जीवित रखने में अंग्रेजी शासन का हित था जैसा कि लार्ड लिटन और टेम्पल ने लिखा है---

अंग्रेजी राज्य की हमदर्दी अब आगे शक्तिसम्पन्न देशी अभिजात्य वर्ग की आकांक्षाओं, अनुभूतियों और स्वार्थों के साथ संलग्न रहेगी ।

मुझे बाद बाद में (१८८० के आस-पास) लगा कि भारतीय अभिजात्य वर्ग को अंग्रेजी राज की छत्रछाया में संगठित और विकसित किया जाना चाहिए ।[1]

सन् १८८५ तक भारतीयों का असन्तोष इतना बढ़ गया था कि भड़क सकता था। यथार्थतः वहाबी विद्रोह और मराठा षडयंत्र इस असन्तोष के उग्ररूप धारण कर लेने के उदाहरण हैं। इस असंतोष को भड़कने न देकर शांतिपूर्ण तरीकों की ओर उन्मुख करने के उद्देश्य से इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की गई थी । ह्यूम ने, जो कांग्रेस के संस्थापक माने जाते हैं, स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि "पश्चिमी विचार, शिक्षा, आविष्कार और उनके प्रयोगों ने जो उथल-पुथल मचा दी थी और जो निरंतर उग्रतर होती जा रही थी, उसे शांतिपूर्ण तरीकों की ओर ले जाकर शिथिल करने की बड़ी आवश्यकता थी ।"[2]

कांग्रेस का प्रारंभिक नेतृत्व उदार नेताओं के हाथ में था, जो अपने लिए प्रेरणा पश्चिम और ब्रिटेन से प्राप्त करते थे और उनकी कृपा पर निर्भर रहते थे। क्रान्ति इन उदारों के कार्यक्रम में नहीं थी, वैधानिक तरीकों पर इनकी निर्भरता थी। यह कुर्सीनशीनों की नेतागिरी थी, जिनका जनता से संपर्क न था, जो उच्च शिक्षित वर्ग के लोग थे और जिनका उद्देश्य अंग्रेजों से कुछ अधिक उदारता की माँग रखना था। इतिहास साक्षी है कि उदारों की नेतागिरी ने जो माँगें पेश कीं, उनमें से अधिकांश के प्रति अंग्रेजी शासन का रुख एकदम विराग का रहा।

फलस्वरूप असन्तोष बढ़ता गया। उदारों द्वारा फैलाया गया भ्रम छंटने लगा कि अंग्रेज उदार हैं और कृपा करेंगे। फलस्वरूप उग्र नेतृत्व का आविर्भाव हुआ। इस उग्र नेतृत्व के पीछे कारणस्वरूप अंग्रेजों की अनुदारता, विगत शताब्दी में सारे देश पर छा जाने वाला महाकाल, लार्ड कर्जन की निरंकुश योजनाएँ, बढ़ती हुई बेकारी आदि थे।

उग्र दलीय नेता, लाला लाजपत राय के इस विश्वास को लेकर चले थे कि ईश्वर से की गई तुम्हारी प्रार्थना इस अर्थ में उपयोगी सिद्ध हो सकती है कि वह तुम्हारी स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्ति की इच्छा को और अधिक तीव्र कर दे। शासकों से की गई प्रार्थना का इतना ही उपयोग है कि वे तुम्हें यह प्रमाणित कर देंगे कि जहाँ दो देशों के स्वार्थों की टक्कर है, वहाँ आदमी की न्याय-बुद्धि को प्रभावित कर सकना असम्भव है।[3]

यह वह समय था जिसमें प्रेमचन्द ने अपना (अप्राप्य) उपन्यास श्यामा (!) लिखा था, जिसमें अंग्रेजी शासन की घोर बुराई की गई थी और साथ ही "सोजे वतन" क्रम की कहानियाँ लिखी थीं, जिसका दण्ड प्रेमचन्द को भोगना पड़ा था।

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ २७७.

२. वही पृष्ठ २८२.

३. वही पृष्ठ २९१.

उग्रदलीय लोगों के साथ भारतीय असन्तोष, कुर्सी और कमरे से उतरकर जनमंच पर आ गया। लाला लाजपतराय ने कहा है—

"हम राजभवन से अपना मुंह फेरकर लोगों की झोपड़ियों की ओर देखना चाहते हैं। जहाँ तक सरकार से अपील करने का प्रश्न है, हम अपने मुँह बंद रखना चाहते हैं, लेकिन हम एक नई ही अपील लेकर जनता के सामने मुँह खोलना चाहते हैं।"[१] तिलक इस असंतोष के जनक थे, और उदारों तथा गरमदल वालों के अलग-अलग रास्ते सन् १९०७ की सूरत कांग्रेस के साथ बनने लगे थे।

कांग्रेस का इतिहास उसे अधिक-से-अधिक जनता की जमात बनाने के प्रयत्नों का नाम है और कांग्रेस इस दिशा में प्रयत्नशील रही है कि विभिन्न विचारों, हितों का समुचित प्रतिनिधित्व वह करे। सन् १९१६ में इसीलिए लखनऊ-समझौते के अंतर्गत हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संबंध स्थापित हुए और मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस ने कंधे से कंधा मिलाकर काम करने का निश्चय किया।

जैसे-जैसे कांग्रेस अधिक जनवादी होती गई, उदारों से उसका मेल कम बैठने लगा। सन् १९१८ में, उदारों ने अपना अलग लिबरल फेडरेशन कायम कर लिया। वे कांग्रेस से अलग हो गये।

कांग्रेस से अलग होने का तत्काल कारण मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों को लेकर उनका कांग्रेस से मतभेद था।

एक ओर लुके-छिपे हिंसात्मक कार्य भी चलते रहे, दूसरी ओर कांग्रेस अधिकाधिक जनता के बीच आती गई। इसी बीच जलियाँवाला बाग की घटना ने सारे देश को हिला दिया।

ऐसे समय में तिलक का अवसान हो गया। राजनैतिक मंच पर गांधीजी का आगमन हुआ। गांधीजी के साथ कांग्रेस में जन-आंदोलन का युग आया।

गांधीजी के साथ प्रेमचन्द के जीवन का भी नया अध्याय प्रारंभ हुआ। प्रेमचन्द का मन इस नये अध्याय के लिए तैयार हो चुका था। "प्रेमाश्रम" लिखा जा रहा था और गांधीजी के प्रभाव में प्रेमचन्द ने अपनी पन्द्रह-बीस साल की जमी नौकरी से इस्तीफा दे दिया था।

इस्तीफे में प्रेमचन्द ने क्या लिखा था या इस्तीफा देते समय उनकी मनोदशा क्या थी, इसका अनुमान हंसराज "रहबर" ने उनकी एक कहानी "लाल फ़ीता" से लगाया है। यह कहानी प्रेमचन्द ने अपने इस्तीफा देने के ज़माने में लिखी थी और 'ज़माना' के जुलाई १९२१ के अंक में छपी थी। "लाल फ़ीता" का नायक इन शब्दों के साथ अपनी सरकारी नौकरी से इस्तीफा देता है—

"श्रीमान् जी, मेरा विश्वास है कि राजनैतिक व्यवस्था ईश्वरीय इच्छा का प्रत्यक्ष रूप है और उसके कानून भी दया, सत्य और न्याय पर कायम हैं। मैंने पन्द्रह साल तक सरकार की सेवा की और अपने सामर्थ्यानुसार अपने कर्तव्य का दयानतदारी से पालन किया। सम्भव है, किसी समय अफसर मुझसे खुश न रहे हों, क्योंकि मैंने व्यक्तिगत आदेशों को कभी अपना कर्तव्य

---

१. एस० बी० आई० एन० पृष्ठ २९१.

नहीं समझा। जब कभी कानून और अफसर के हुक्म में विरोध हुआ मैंने कानून का पथ ग्रहण किया। मैं सदा नौकरी को देश-सेवा का माध्यम समझता रहा, लेकिन सरकुलर नं०......में जो आदेश दिये गये हैं, वे मेरी आत्मा और उसूल के विरुद्ध हैं और मेरे विचार में उनमें असत्य का इतना दखल है कि मैं उनका पालन करने में असमर्थ हूँ। वे आदेश, प्रजा की स्वतंत्रता के शत्रु और राजनीतिक जाग्रति के लिये घातक हैं।

"इस स्थिति में सरकार से संबंध स्थापित रखना देश और राष्ट्र के लिए हानिकर है। अन्य अधिकारों के अतिरिक्त प्रजा को राजनैतिक संघर्ष का अधिकार भी प्राप्त है और चूंकि सरकार इस अधिकार को कुचलने में तत्पर है, इसलिए मैं हिन्दुस्तानी होने के नाते यह सेवा-पालन करने में असमर्थ हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शीघ्र अतिशीघ्र इस पद से मुक्त किया जावे।"[1]

गांधीजी के प्रभाव में प्रेमचन्द ने नौकरी छोड़ी, लेकिन गांधी जी का अन्ध-अनुगमन वे कभी न कर सके। नहीं तो 'प्रेमाश्रम' में असहयोग और सत्याग्रह के संबंध में वे यह न कहते कि सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया है और न सन् १९२३ में जब गांधी का प्रभाव जनता पर स्पष्ट परिलक्षित होने लगा था, वे इस अनिश्चय के स्वर में अपने राजनैतिक समर्थन के बारे में, मुंशी दयानारायण निगम को लिखते हुए कहते हैं कि—

"आपने मुझसे पूछा था कि मैं किस पार्टी के साथ हूँ। मैं किसी पार्टी में नहीं हूँ। इसलिए कि इस वक्त दोनों (स्वराज्य पार्टी और नोचेंजर) में कोई पार्टी असली काम नहीं कर रही है। मैं उस आने वाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो अवाम अलनास की सियासी तालीम को अपना दस्तूरुल अमल बनायेगी।"[2]

प्रेमचन्द इस प्रश्न पर कभी भावुक नहीं हुए। बराबर गम्भीरता से सोचते रहे हैं और सदैव प्रगतिशीलता के साथ अपने को जोड़ते रहे हैं। अहमदाबाद कांग्रेस के समय उनका झुकाव गर्मदल की ओर था। मुंशी दयानारायण निगम बताते हैं कि वह तिलक के माननेवाले थे। मैं गोखले और सर फ़ीरोजशाह का पक्ष लेता था। हर वक्त बहस छिड़ी रहती थी, मगर दोनों अपनी जगह स्थिर रहे।[3] इसी तरह मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार के संबंध में वे समझौतावादी नहीं हो पाये।

सन् १९१९-२० में उन्होंने एक पत्र में साफ लिखा है—

"मैं रिफार्म स्कीम या एक्ट के मुताल्लक मिस्टर चिन्तामणि वगैरह से मुतफ़िक नहीं हूँ। मेरे ख्याल में भुअतदिल पार्टी इस वक्त जरूरत से ज्यादा मगरूर और नाजां है। हालांकि अगर इसलाहों में कोई खूबी है तो बस यह कि तालीमयाफ्ता जमाआत को कुछ असामियाँ ज्यादा मिल जायेंगी और जिस तरह यह जमात वकील बनकर रियाया का खून पी रही है, उसी तरह यह आइंदा हाकिम बनकर रिआया का गला काटेगी। इसके सिवाय और कोई

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ ८८.

२. वही पृष्ठ ८८.

३. वही पृष्ठ १४७.

जदीद अख्तियार नहीं दिया गया है। जो अख्तियारात दिये गये हैं, उनमें भी इतनी शर्तें लगा दी हैं कि उनका देना, न देना बराबर है।'[1]

प्रेमचन्द सदा प्रगतिशील ढंग से सोचते रहे और इस सोचने में उन्होंने भावुकता के साथ कभी समझौता नहीं किया। जहाँ उन्हें लगा कि देश की किसी पार्टी या किन्हीं पार्टियों ने प्रगतिशीलता बरतकर जनता की आवाज को बुलन्द किया है, वे उसके समर्थक निर्भयता के साथ हो गये, अन्यथा वे बड़े से बड़े नेता की आलोचना करने से नहीं चूके।

भारतीय जन आन्दोलन का दूसरा दौर १९३०–३१ का आंदोलन था, जो नमक सत्याग्रह का आधार लेकर चला था। इनके बीच की अवधि में स्वराज्य पार्टी का प्रभुत्व हुआ। लेकिन १९२३ के बाद न कांग्रेस, न स्वराज्य पार्टी किसी के साथ प्रेमचन्द की आन्तरिक सहानुभूति रही। इसी अवधि में दो एकदम विरोधी राजनैतिक-धाराएँ भारतीय जमीन पर प्रकट हुई––एक साम्प्रदायिकता की धारा और दूसरी समाजवादी-साम्यवादी विचारधारा। साम्प्रदायिकता के संबंध में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"हिन्दू और मुसलिम साम्प्रदायिकता, वस्तुतः सच्ची साम्प्रदायिकता भी नहीं हैं। किन्तु साम्प्रदायिकता का चेहरा लगाये हुए राजनैतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया हैं।"[2] समाजवाद-साम्यवाद के विचार भारतीय हवा में फैलने लगे थे। यद्यपि उनका गहरा प्रभाव कहीं देखने में नहीं आता था फिर भी किसानों-मजदूरों के बीच उनके कार्यक्रम बराबर चल रहे थे।

अक्सर कहा जाता है कि तीसरी दशाब्दि के अन्त में होने वाली उन हड़तालों के प्रति प्रेमचन्द ने कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई, जो बम्बई के मिल मजदूरों और रेल के मजदूरों ने की थीं और जिन्होंने अपने प्रति सारे देश का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। प्रेमचन्द-साहित्य में निस्सन्देह इनका जिक्र नहीं मिलता। यह तो निश्चित है कि इन घटनाओं से प्रेमचन्द प्रभावित हुए होंगे, लेकिन जिक्र न करने का कारण शायद यही हो कि वे अपनी राजनैतिक विचारधारा में जनवादी होने पर भी, विकासवादी कार्यक्रमों के प्रसंग में गांधी के नेतृत्व पर विश्वास करते थे और शायद साम्यवाद के साथ हिंसा जुड़ी रहने के कारण उसके प्रयोगों का समर्थन खुलेआम न कर पाते थे।

लेकिन नमक-सत्याग्रह के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण एकदम क्रान्तिकारी था। मुंशी दयानारायण निगम ने लिखा है—

"प्रेमचन्द नाबराबरी की लड़ाई में समझौते के ख्याल से मुश्तबाह रहते थे। उनका ख्याल था कि कड़ी जद्दोजहद के बग़ैर कुछ हासिल न होगा। वह इसके लिए अवाम को जल्द-से-जल्द तैयार करने की तरफ थे। उनका ख्याल था कि हुकूमत से सख्त टक्कर लिए बग़ैर काम न चलेगा और वे इसके लिए नुकसानात बर्दाश्त करने के लिए भी तैयार थे। अंग्रेजी हुक्काम से उन्हें आमतौर से बदज़नी थी। बिलाखिर वह सरकारी मुलाज़मत तरक करके बाजाब्ता नान काप्रेटर हो गये। एक खत का जिसमें गांधीजी के तहरीके नमक को कबूल अज़ वक्त कहा गया था, वह निहायत गर्मजोशी से जवाब देते हैं—

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ १४८.
२. डिस्कव्हरी आफ इण्डिया.

"जिस तरह मौत हमेशा कब्ल अजवक्त होती है, साहूकार का तकाजा कब्ल अजवक्त होता है, उसी तरह ऐसे सारे काम, जिनमें हमें माली या वक्ती नुकसान का अन्देशा हो, कब्ल अज वक्त मालूम होते हैं। इस तहरीक की कबूलियत ही बता रही है कि वह कब्ल अजवक्त नहीं है।"[1]

नमक सत्याग्रह के बाद गांधी-इरविन पैक्ट हुआ। तब तक देश में समाजवादी पार्टी बन चुकी थी जो कांग्रेस के अन्दर रह कर अपनी विचारधारा प्रकट किया करती थी। गांधी-इरविन पैक्ट का वामपक्षियों ने समर्थन नहीं किया, यहाँ तक कि जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र बोस इससे सहमत नहीं हो सके। प्रेमचन्द ने जिस जोश के साथ नमक-सत्याग्रह का समर्थन किया था, उसे जरूर गांधी-इरविन पैक्ट से धक्का लगा होगा। मुझे तो इस समय की लिखी उनकी कृति 'कर्मभूमि' में इस समझौतावाद की प्रतिक्रिया बड़ी स्पष्ट नजर आई है। मुझे उसमें बड़ा गहरा व्यंग मिला है। "गोदान" भी इसी मनोदशा में लिखा उपन्यास है, जिसमें वे होरी की मृत्यु के साथ धीरज और शान्ति से सहन की अपनी बात को एकबारगी खत्म कर देना चाहते हैं।

"मंगलसूत्र" इस विद्रोह का प्रतीक है। सन् १९३५ के बाद भारतवर्ष की राजनीति ने फिर नया रुख बदला। नये गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के अंतर्गत कांग्रेस और देश की अन्य पार्टियों ने भी वैधानिक कार्यक्रम अपनाने का निश्चय किया और चुनावों का वातावरण बनने लगा। केवल साम्यवादी दल का नारा था, "इन चुनाव की सरगर्मियों को साम्राज्य विरोधी मोर्चे के रूप में परिणत करो।" प्रेमचन्द अगर जीवित होते, तो इस बदली हुई राजनीति में उनका समर्थन किसके साथ रहता यह कहना कठिन है, किन्तु 'मंगलसूत्र' इस बात का सबूत है, प्रेमचन्द का मन इन सारी समस्याओं की तह में पहुँच गया था और वे अब उस जड़ को निर्मूल करने की बात सोच रहे थे, जिसके किए बिना नये समाज की रचना सम्भव नहीं है।

(३) साहित्यिक पृष्ठभूमि। अ—उर्दू आ—हिन्दी

प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये थे। उर्दू ही उनके ज्ञानार्जन का प्रारंभिक माध्यम था और उर्दू उपन्यासकारों के प्रभाव को उन्होंने मुक्तकंठ से स्वीकार भी किया है। प्रेमचन्द की साहित्य-रचना को सही समझने के लिए प्राक्-प्रेमचन्द उर्दू उपन्यास साहित्य का प्रवृत्यात्मक अध्ययन आवश्यक है।

उर्दू कथा फोर्ट विलियम कालेज और बाद में नवल किशोर प्रेस के संरक्षण में पनपी। प्रारंभिक कृतियाँ "दास्ताने-मीर-हमजा किरन" (तिलिस्मीए-होशरुबा इसी वृहद्ग्रंथ का एक अंश है) और मीर तकी के 'बोस्तान-ए-ख्याल' जैसी रोमैंटिक कथा-धाराओं के उर्दू अनुवाद के रूप में मिलती हैं। इन कृतियों के संबंध में कहा जाता है कि इनमें न तो मानवी भाव हैं, न चरित्र विकास, न कथा-वस्तु। इनमें अति-साहसी नायकों के दानवों, जादूगरों, डायनों के साथ संघर्षों की कहानी है, जिन संघर्षों में से ये नायक सफलतापूर्वक अपनी प्रेमिका को प्राप्त

---

१. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ १४८.

करके सुरक्षित वापिस निकल आते हैं। मौलिक लिखी गई रज्जब अली सुरूर की "फ़सानये अजायब भी इसी प्रकार की कृति है।

नज़ीर अहमद उर्दू उपन्यास को कल्पना के लोक से उतारकर जीवन की भूमि पर ले आये। उनके अनेक उपन्यास नीति की बुनियाद पर सामाजिक और धार्मिक विषयों पर उपदेशात्मक ढंग से लिखे गये हैं। नज़ीर अहमद ने तात्कालिक समाज के रीति-व्यवहारों को सुसंगठित कथा-वस्तु के द्वारा चित्रित किया है। उन्होंने इस्लामी सोसाइटी और खासकर मुसलमानों के खानदान की अन्दरूनी तसवीर ऐसी बेलाग खींची है कि आँखों के सामने, नक्शा फिर जाता है। रोजमर्रे के मामूली वाक़यात जो सुबह और शाम अपनी आँखों के सामने, घरों के अन्दर बाहर वाक़ा होते रहते हैं, उनका खूबी से बयान करना मौलाना पर खतम है।[1] मौलाना नज़ीर अहमद ने मुस्लिम नारी जीवन के परम्परागत आदर्शों की बड़ी स्वाभाविक झाँकी पेश की है।

सन् १८७७ में "अवध-पंच" के प्रारंभ के साथ, उर्दू उपन्यास ने नया जीवन पाया। "अवध-पंच" के महत्व को डा० राम बाबू सक्सेना ने इन शब्दों में लिखा है—

इसके साथ गद्य में परिहास और विनोद आये। इसमें नाटकों का बीज रूप-मिलता है। इसने उर्दू भाषा को कृत्रिमता और पारम्परिकता से मुक्त किया और स्वाभाविकता और प्रवाह को विकसित किया, उपन्यास के विकास और प्रचार में मदद पहुँचाई और उर्दू भाषा का शुद्धीकरण किया...यह समाचार पत्र नहीं, विचार पत्र था, जिसमें शासित प्रजा के अधिकारों की हिमायत और देशी राजाओं की भर्त्सना की जाती थी। यह प्रगति और प्रतिक्रिया का अजीब मेल था। नवजात कांग्रेस का यह समर्थन करता था, हिन्दू-मुसलिम एकता के पक्ष में था। इलबर्ट बिल और इन्कम टैक्स बिल को लेकर इसने जनता के समर्थन में आवाज उठाई थी। यह सर सैयद का मुखालिफ था और नारी-शिक्षा, पाश्चात्य-शिक्षा और परदा-निवारण का विरोधी था.........लखनऊ के सामाजिक जीवन की कुशल तसवीरों ने उपन्यास के विकास में बड़ी मदद पहुँचाई।[2] "अवध-पंच" मण्डल में से सज्जाद हुसैन मौलिक उपन्यासों और ज्वालाप्रसाद बर्क बंकिमचंद के अनुवादों के लिए उल्लेखनीय हैं।

रतननाथ दर सरशार के साथ उर्दू उपन्यास का नया युग प्रारंभ होता है। सरशार अनेक उपन्यासों के रचयिता थे, किन्तु उनका गौरव और यश "फसानये आजाद" के कारण है, जिसे स्वयं प्रेमचन्द ने आजाद-कथा के नाम से अनूदित किया था। जिस प्रकार कहते हैं कि, 'चन्द्रकान्ता' और 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी सीखी, उसी प्रकार सरशार की आजाद-कथा ने बहुसंख्यक लोगों को उर्दू की ओर आकृष्ट किया। इस महाग्रंथ में कथा बहुत साधारण है, अनाकर्षक, किन्तु इसमें शैली का आकर्षण है। कथा असंगठित और असम्बद्ध है किन्तु चित्रण और कथोपकथन का आनन्द कहीं मंद नहीं पड़ता।

"फसान ए आजाद" की नाजुक कथा पर आश्रित हजारों घटनाओं की रंगीन मेले जैसी भीड़भाड़ के बारे में कहा गया है—अगर आप इस भीड़भाड़ में दाखिल हुए, तो आपको हर घड़ी ख्याल रखना होगा कि पीछे आने वाले धक्कों से आप बचे रहें और कहीं आपकी

१. ता० अ० उ० पृष्ठ ३३६.

२. H. U. L पृष्ठ ३२१-३२२.

घड़ी चोरी न चली जाय या जेब न काट ली जाय। मुहर्रम, चेहल्लुम और ऐश बाग मेले के वर्णनों में आपको बटेर लड़ानेवाले, पतंगबाज, अफीमची, अजीब वेशभूषा वाले नवाब, पीले चेहरों वाले चोबदार, फिटन और लैंडो में बैठी हुई रक्कासाएँ, जो हाथी पर बैठे हुए किसी अद्‌भुत पोशाक वाले बूढ़े बद्दू से आँखें मिला रही हैं, भिखारियों की भीड़ जो हर गाड़ी के पीछे दौड़ती, जिनमें से कुछ दुआएँ और कुछ बद-दुवाएँ देते हैं, फटेहाल प्रेमी और आडम्बरपूर्ण घुमक्कड़, सुन्दर और बदसूरत औरतें, कोई अपने गुम हो गए बच्चे के लिए चिल्लाती हुई, कोई अपने यार से झगड़ती हुई, कोई नवाब साहब के मुसाहिब से इश्क लड़ाती हुई, पुलिसमैन, चोर, चुंगी का दारोगा, रेल बाबू और ठाकुर साहिब, जो पास के गाँव से मेला देखने आए हुए हैं, लालाजी जो अपनी फारसी की जुबाँ-दराजी पानवाले पर झाड़े चले जा रहे हैं, मुँह में सिगरेट लगाये अंग्रेजनुमा ग्रेजुएट, फैज टोपी लगाए मुसलमान और बंगाली जिनकी ढीली-ढाली धोती उड़ कर भीड़ का तिरस्कार-सी करती है। इस भारी भीड़ से आपका परिचय होता है, हजारों आवाजें आपके कान के परदे फाड़ डालती हैं।......और आपके चारों ओर शोरगुल और धुक्कम-धक्का करती हुई बड़ी भीड़ चली जा रही है। लेकिन खूबसूरती यह है कि हर चरित्र अपनी एकदम व्यक्तिगत विशेषताओं से साथ बोलता चालता है।[1]

इस महाग्रंथ और सरशार के सभी उपन्यासों में लखनऊ के सामाजिक जीवन की बड़ी सही और सूक्ष्म तसवीर मिलती है। एजाज हुसैन ने सरशार के बारे में कहा है—"इस किताब में लखनऊ की मिटी हुई तहजीब और गिरी हुई हालत को दिखा कर इसलाह की कोशिश की है।"[2] और सरशार के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता कि सरशार ने लोगों की रुझान देखकर ऐनवक्त पर नावेलनवीसी को ज्यादा फरोग दिया। पुराना तरीका बईदअजकाल बातों और असरवास को छोड़कर रोजमर्रा के वाकयात और ऐसे असखास को लिया जो आए दिन पेशेनजर रहते हैं।"[3]

सरशार की शैली व्यंग्यात्मक है। कहा गया है कि "समाज में एक ऐसी भी स्टेज आती है कि जब बुराई को जनमंच पर नंगा खड़ा करके उसके विरोध के बजाय उसका व्यंग्य और परिहास करके उसके कारण मन में ग्लानि का भाव उत्पन्न कर देना अधिक प्रभावक होता है। एक अच्छा व्यंग्य बुराई को मार सकता है जब कि उपदेशों में कभी-कभी वह क्षमता नहीं रहती।" डाक्टर रामबाबू सक्सेना इस व्यंगात्मक शैली का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—"सरशार जब पुजारी, उपदेशक, नीतिवादी, जातिवादी और पुराने रईसों से मिलते हैं और उनकी उपदेशभरी बातें, ऊँचे-ऊँचे ख्याल और आलोचनात्मक विचार सुनते हैं, तो न उनसे तर्क करते हैं और न लड़ते हैं। वह महज उनका मजाक उड़ाते हैं। इससे भले ही समझदार लोगों को बुरा लगे, लेकिन देखनेवाली जनता की भीड़ मजा लेती है और मजे-मजे व्यंगकार की बात से पराजित हो जाती है। इसके बाद एक बार जो व्यंगकार के साथ हंस चुके हैं, वे उपदेशक की पुरानी नीतियों के साथ रो नहीं सकते।"[4]

---

१. एच० यू० एल० पृष्ठ ३२९.
२. ता० आ० उ० पृष्ठ ३७७.
३. ता० आ० उ० पृष्ठ ३७७.
४. एच० यू० एल० पृष्ठ ३३०-३३१.

सरशार की एक और विशेषता, उनके कथोपकथन हैं। वे चरित्रों का विकास लम्बे-लम्बे अनाकर्षक वर्णनों द्वारा नहीं करते, किन्तु विशेषताप्रदर्शक चुस्त कथोपकथनों द्वारा करते हैं। उन्हें विभिन्न वर्गों की बोलियों का बड़ा ध्यान था और भाषा पर जैसा उनका अधिकार था, वैसा ही उनकी अभिव्यंजना का चमत्कार था।

अलौकिक अद्भुत के तत्व से बोझिल उर्दू उपन्यास को नजीर अहमद, जीवन के बीच ले आये, लेकिन यदि वे उर्दू उपन्यास पर से एक बोझ उतार पाये तो उन्होंने दूसरा, उपदेशात्मक नीतिवाद का बोझ लाद दिया। रतननाथ सरशार ने ये दोनों बोझ तो उतार फेंके ही, उपन्यास को मनोरंजन के माध्यम से सुधार के लिए प्रयुक्त किया।

सरशार के बाद अब्दुल हकीम शरर एक और महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं, जिन्होंने उर्दू उपन्यासों के विकास में योग-दान दिया है। शरर उर्दू में ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रवर्तक माने जाते हैं, जिनमें उन्होंने मुसलिम-इतिहास को चित्रित करके मुसलिम जनता में उत्साह और जोश पैदा किया है।

मिर्जा मुहम्मद हादी रुसवा उर्दू साहित्य में अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास "उमराव जान अदा" के कारण अमर हैं। यह पुस्तक लखनऊ की एक रक्कासा की आत्मकहानी है, जिसमें लखनऊ के १९वीं शताब्दी के मध्यकाल के समाज और जीवन के रेखाचित्र हैं। ये चित्र अतिशयोक्ति और कल्पना से मुक्त वास्तव की हूबहू तसवीर हैं। इस उपन्यास में कथावस्तु सुसंगठित, घटनाएँ विकासशील और चरित्र-चित्रण प्रभावपूर्ण है। पाठक की दिलचस्पी कहीं भंग नहीं होती। वास्तविक जीवन की पृष्ठभूमि पर सोद्देश्य, उपन्यासों के सकल तत्वों से युक्त यह उपन्यास उर्दू के सामाजिक उपन्यासों में अलग स्थान रखता है। मिर्जा रुसवा ने अपनी कला के संबंध में खुद लिखा है—"हमारे नावेल न ट्रेजेडी हैं न कामेडी हैं, न हमारे हीरो तलवार से कत्ल करते हैं और न उनमें से किसी ने खुदक़शी की है। न दिल हिज्र हुआ है न वस्ल। हमारे नावेलों को, मौजूदा जमाने की तवारीख समझना चाहिए।"

हकीम मुहम्मद अली के उपन्यास कुछ मौलिक और कुछ अनूदित हैं। इस उपन्यासकार के बारे में डा० रामबाबू सक्सेना ने लिखा है कि—"हकीम मुहम्मद अली यद्यपि अधिकांश उपन्यासकारों से श्रेष्ठ हैं, फिर भी प्रथम श्रेणी का उपन्यासकार उन्हें नहीं माना जा सकता। उनमें समय की, आत्मा की पकड़ नहीं है, समाज का चित्रण नहीं मिलता और न मानव मन के अन्तर्भावों के कुशल ज्ञान का प्रभाव हैं। उनमें नीरसता और उपदेशात्मक वृत्ति है।"

ये उपन्यासकार प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती हैं और इन सबके ग्रंथों के पढ़ने का उल्लेख प्रेमचन्द ने किया है। निश्चय ही जब प्रेमचन्द साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए होंगे, उनके सामने इन सभी की शैलियों के विभिन्न स्वरूप थे और इनसे उन्होंने लाभ उठाया है। प्रेमचन्द की दृष्टि समाजापेक्षी प्रारंभ से ही रही है। यदि उन्होंने व्यक्ति को भी देखा है, तो समाज में व्यक्त उसके किसी प्रसंग के माध्यम से ही। फिर यह प्रसंग भी इस प्रकार का कि जो संस्कारों के, उसकी नैतिकता के या सहज मानवीयता के विपरीत हो। ऐसे प्रसंग का चित्रण करते समय प्रेमचन्द ने उपदेशात्मकता का नहीं, व्यंगात्मकता का आश्रय लिया है। यह निष्कर्ष उनकी पहिली ही कृति के संबंध में, उनकी अपनी स्वीकारोक्ति से मिलता है। अपने मामा के

प्रणय-प्रसंग पर उन्होंने एक प्रहसन लिखा है, जिसमें चमारों के द्वारा की गई उन मामाजी की मरम्मत का जिक्र है। इस वर्णन में कौन-सा ढंग अख्तियार किया गया होगा, इसे तो कोई नहीं जानता लेकिन उसका आभास प्रेमचन्द के इस कथन से मिलता है, "इस दुर्घटना की खबर उड़ते-उड़ते हमारे यहाँ भी पहुँची। मैंने भी उसका खूब आनन्द उठाया। पिटते समय उनकी रूपरेखा कैसी रही होगी, इसकी कल्पना करके मुझे खूब हँसी आई......आखिर एक दिन मैंने यह सारी दुर्घटना एक नाटक (प्रहसन) के रूप में लिख डाली और अपने मित्रों को सुनाई। सबके सब खूब हँसे।"[१]

उपन्यास-लेखन की जो परंपराएँ उनके सामने थीं, उनमें सबसे अधिक लोकप्रिय रतननाथ सरशार की थी, जिन्होंने उपन्यास को कल्पनालोक से उतारा, उसे जीवन के यथार्थ से परिचित कराया। यद्यपि यह काम इनके पहिले शरर कर चुके थे, लेकिन उनकी उपदेशात्मकता उन्हें सरस और प्रिय न बना सकी थी। व्यंग की साहित्यिक क्षमता प्रेमचन्द ने सरशार में ही देखी थी और स्वयं उसका पहला प्रयोग मामूवाले प्रहसन में उन्होंने किया था। "सेवासदन" में इस व्यंग-शैली के स्पष्ट दर्शन वहाँ होते हैं, जहाँ सुमन अपने प्रेमियों से विदा लेती है। यों पात्र-संकुलता और पात्र-वैचित्र्य का, जो फिसान-ए-आजाद के प्राण हैं, प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में प्रयोग किया है। चरित्र की मूल रेखायें वर्णित करके चरित्र-विकास और प्रस्फुटन को सरशार की तरह प्रेमचन्द ने भी कथोपकथन के द्वारा पूरा किया है। उन्होंने कहा भी है—"वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए।"[२] महज अपूर्व वर्णन शैली के आधार पर साहित्य जन-प्रियता हासिल कर पाता है, यह प्रेमचन्द सरशार की कृतियों में देख रहे थे, इसलिए शैली-परिष्कार का प्रेमचंद ने निरन्तर प्रयत्न किया है। भाषा की पात्रानुरूपता, सरलता, चुस्ती और मुहावरों की सज्जा प्रेमचन्द ने सप्रयोग और सप्रयत्न हासिल की है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव 'रुसवा' का था, जिनके लिए साहित्य-रचना युग-दर्शन के अर्थ थी। यों तो युग-दर्शन 'शरर' और 'सरशार' दोनों में मिलता है। लेकिन 'रुसवा' में युग-चित्रण अधिक कलात्मक और गम्भीरतासम्पन्न होकर प्रकट हुआ है। वेश्या-जीवन पर लिखे 'रुसवा' के उपन्यास ने प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' के लिए शायद बीजांकुर का काम किया हो।

इनके सिवा और भी जो ग्रन्थ प्रेमचन्द ने पढ़े होंगे, उनका परोक्ष प्रभाव प्रेमचन्द पर मिलता है। बंकिमचन्द्र, रवीन्द्र और शरत् को प्रेमचन्द ने अनुवादों के माध्यम से पढ़ा था। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के प्रयत्न प्रेमचन्द ने जरूर किये हैं। "रूठी रानी" उनका एक ऐसा प्रयोग ही है। रवीन्द्रनाथ और शरत् में उन्हें पुरुषार्थ (मेस्क्युलिनिटी) नहीं मिला। वे साहित्य में (जीवन में भी) फमिनिटी के कायल नहीं हो पाये। यद्यपि उनका खुद का दृष्टिकोण भावुकतापूर्ण है, फिर भी वे साहित्य को सामाजिक उद्देश्य देकर, पुरुषार्थी बनाने के पक्ष में प्रारंभ से रहे होंगे।

प्रेमचन्द हिन्दी में सन् १९१३ के बाद आये, जब उर्दू में वे कोई पन्द्रह वर्षों की साहि-

---

१. कफन पृष्ठ ५२.

२. कु० वि० पृष्ठ ५९.

त्यिक साधना कर चुके थे, इसलिए हिन्दी की परम्पराओं ने उन्हें विशेष प्रभावित किया होगा, ऐसा नहीं जान पड़ता।

जिस समय प्रेमचन्द हिन्दी में आये, उस समय हिन्दी-साहित्य में उपन्यास या तो तिलस्मी होशरूबा या फिसानए अजायब के ढंग की परम्परा में से गुजर रहा था। एक दो लेखक ऐसे जरूर थे, जिनका साहित्य शरत् के ढंग का माना जा सकता है। हिन्दी औपन्यासिकों की प्रारंभिक-त्रयी देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी के पूर्व कुछ लेखक हिन्दी-उपन्यास को यथार्थ की ओर मोड़ने के प्रयत्न में लगे हुए थे।

बालकृष्ण भट्ट ने दो उपन्यास लिखे हैं—'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान।' बालकृष्ण भट्ट के सम्बन्ध में डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा है—उपन्यास कला के विकास में इस कृति (सौ अजान एक सुजान) का विशेष स्थान है। यथार्थ चित्रण की ओर इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा भावों के अनुकूल गढ़ी गई है। नौकर, दासी, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में, पढ़े-लिखे बाबू लोगों की भाषा में अंग्रेजी का पुट रहता है—"मैं आप लोगों के प्रयोजन को सेकेण्ड करता हूँ" इत्यादि। कहीं-कहीं पात्र नाटकों की भाँति स्वतः और प्रकाश्य दोनों प्रकार से बातचीत करते हैं। भट्टजी ने अपने उपन्यास को देशकाल की सीमाओं में मज़बूती से बाँधा है। उन्होंने पृष्ठभूमि के चित्रण के लिए अवध का भौगोलिक वर्णन आवश्यक समझा है...... भट्टजी कोरे किताबी-विद्वान नहीं थे। स्त्रियों के सूप फटकारने और हाथ नचाकर वाग्वाण बरसाने को उन्होंने उतने ही ध्यान से सुना था, जितने ध्यान से 'मेघदूत' पढ़ा था......चरित्र-चित्रण में वे विशेष आकृष्ट थे......व्यंगपूर्ण चित्रण में वे प्रेमचन्द की याद दिलाते हैं, जैसे बुद्ध दास जैन का चित्र—"पानी चार बार छानकर पीता था, पर दूसरे की थाती समूची निगल जाता था, डकार तक न आती थी।"[1] 'सौ अजान एक सुजान' की कहानी परीक्षा-गुरु के ढंग की ही है।

श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें अमीर लड़के के कुसंगति में पतन और सच्चे मित्र द्वारा उद्धार की कहानी है। 'परीक्षा-गुरु' का महत्त्व उसकी यथार्थवादी कहानी और पाश्चात्य शैली से प्रभावित रचना-पद्धति के कारण है।

राधाकृष्णदास की "निस्सहाय हिन्दू" का कथानक समाज के विस्तृत क्षेत्र में से लिया गया है। शिल्प-विधान की दृष्टि से इस ग्रंथ में कुछ भी नवीन नहीं है, किन्तु यद्यपि इसमें जातीयता का पुट है, यह समाज की सामान्य समस्याओं की ओर संकेत करता है। "मदन नामक एक नेता को व्याख्यान देते हुए दिखाया जाता है, वे भारतवासियों के आलस्य का वर्णन करते हैं और उन पर जो अधिक टैक्स लगा हुआ है, उस पर अफ़सोस प्रकट करते हैं। साथ ही गन्दी नालियों और कोठरी के टाटों के वर्णन की ओर उनकी जो प्रवृत्ति थी वह भारतीय उपन्यास-साहित्य में पहला प्रयत्न था।"[2] डा० रामविलास शर्मा ने कहा है—"निस्सन्देह राधाकृष्ण दास में एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीजरूप में विद्यमान थी। यदि उसे

१. भा० यु०
२. भा० यु०,

विकास का अधिक अवसर मिलता, तो प्रेमचन्द का मार्ग और भी सरल और परिष्कृत हो जाता।"[1]

देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यास अभी उसी स्थिति में थे, जिसमें नज़ीर अहमद के पहले के उर्दू उपन्यास थे। यहाँ तक कि प्रेमचन्द ने लिखा है कि स्व० बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होश-रुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है। जहाँ उर्दू के ये उपन्यास महज़ अय्यारी तक ही सीमित रहे, हिन्दी-उपन्यास जासूसी के क्षेत्र में पहुँच गये थे। नज़ीर अहमद ने जिस प्रकार उर्दू के उपन्यास को अवास्तव के देश से यथार्थ की ज़मीन पर ला खड़ा किया, उसी प्रकार किशोरीलाल गोस्वामी ने हिन्दी-उपन्यासों को कल्पना के घेरे से बाहर निकाला। यद्यपि श्री-निवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास ने इस दिशा में प्रयत्न प्रारंभ कर दिए थे, लेकिन रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—और लोगों ने भी उपन्यास लिखे हैं, पर वह वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीज लिखते-लिखते वह उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहाँ पर घर करके बैठ गये। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गये। किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी में सामाजिक उपन्यासों के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके उपन्यासों में यद्यपि घटनाओं का घटाटोप उस समय के प्रचलन के अनुसार बहुत अधिक है और इसके कारण न तो चरित्र-विकास सफलतापूर्वक हो पाया है और न उपन्यासकार का सामाजिक उद्देश्य प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकट हो पाया है, फिर भी गोस्वामी के उपन्यासों की भरमार ने अपने समय के पाठकों पर छा जाने का उपक्रम अवश्य किया होगा।

हिन्दी-उपन्यासों के विकास-क्रम में ईश्वरी प्रसाद शर्मा, ब्रजनन्दन सहाय और मन्नन द्विवेदी के नाम उल्लेखनीय हैं। ईश्वरी प्रसाद शर्मा और ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यासों में रोमांटिक, भावात्मक कथाएँ मिलती हैं, जो यत्र-तत्र दूसरे उपन्यासकारों की कृतियों से प्रभा-वित भी रहती हैं। हम पहले लिख आये हैं कि मन्नन द्विवेदी से प्रेमचन्द का परिचय था। इनके सम्पर्क में प्रेमचन्द ने हिन्दी-गद्य-साहित्य और हिन्दी भाषा के संबंध में जानकारी प्राप्त की होगी। मन्नन द्विवेदी स्वयं उपन्यासकार थे और हिन्दी भाषा के प्रचलित प्रयोगों के पक्ष-पाती थे। उनके उपन्यास प्रचलित उपन्यासों से इस अर्थ में भिन्न थे कि उन्होंने "उपदेश-उपन्यासों के पश्चात् प्रयोगात्मक चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखे, जिनका कथानक सामयिक सामग्री और उपादानों से लिया गया था।"[2] लेकिन मन्नन द्विवेदी के उपन्यास, 'कल्याणी' और 'रामलाल' की एक और विशेषता, उनकी सरल भाषा है। मन्नन द्विवेदी हिन्दी के सरल रूप को व्यवहार में लाते थे, और संस्कृतगर्भित भाषा के ऐसे विरोधी थे कि अपने उपन्यास 'रामलाल' में उन्होंने बनारस के ऐसे पत्रों की खिल्ली उड़ाई है, जो संस्कृतगर्भित भाषा लिखते थे। एक ब्राह्मण बालिका के गुप्त हो जाने का समाचार बनारस के पत्रों में उन्होंने इस प्रकार लिख-वाया है—"एक अनाथिनी ब्राह्मण बालिका की अचानक गुप्त हो जाने की किंवदन्ती नाना रूप से स्थान-स्थान में पावस के विद्युत सदृश प्रबल वेग से प्रसारित हो रही है। सम्यक् विचार

१. भा० यु०.
२. आ० हि० वि० पृष्ठ ३१०-३११.

बिना, विश्वासपात्र सूत्र से परिचय प्राप्त किये बिना, किसी समाचार को ब्रह्म-वाक्य न मान लेना इस पत्र की चिर परिचित नीति है। सुतराम् इसी नियमानुसार प्रचुर धन व्यय करके निज माननीय सम्वाददाता द्वारा हंसवत् सत्यासत्य निर्णय करके साम्प्रत सम्मति प्रदान कर रहे हैं।''[1]

प्रेमचन्द ने जब हिन्दी पढ़ना प्रारंभ किया होगा, चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति और किशोरीलाल गोस्वामी के बहुसंख्यक उपन्यास उनकी नज़रों से जरूर गुजरे होंगे। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास ऐतिहासिक भी हैं और सामाजिक भी। उनके सामाजिक उपन्यासों में 'स्वर्गीय कुसुम' या 'कुसुम कुमारी' अधिक लोकप्रिय हुआ है। 'कुसुम कुमारी' और प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' में अद्भुत कथा-साम्य नजर आता है। ''कुसुम कुमारी तीन वर्ष की अवस्था में देवदासी बनाकर पण्डे द्वारा किसी वेश्या को बेच दी जाती है। कार्तिक पूर्णिमा के मेले में नाव टूटने पर कुसुम कुमारी बह निकलती है और एक बसन्तकुमार नामक युवक उसे पानी से निकालकर उसकी प्राण-रक्षा करता है। वह छुपकर अपने जन्मस्थान आगरा में रहती है और वहीं पर उसकी छोटी बहन गुलाब का विवाह बसन्तकुमार से होता है। विवाह होने पर कुसुम कुमारी की छोटी बहिन देवदासी प्रथा के उन्मूलन की कसम लेती है। एक दिन कुसुम कुमारी गुलाब के व्यंग से दुखी होकर आत्महत्या करने का प्रयत्न करती है परन्तु गुलाब अपनी बहिन को पहिचान कर उसे ऐसा करने से रोक देती है, और इस प्रकार दोनों का प्रसन्नतापूर्वक मिलन होता है।'' गोस्वामी के इस उपन्यास में देवदासी प्रथा की सामाजिक कुरीति के विरुद्ध लेखक ने कुछ लिखने का प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु वह कुछ अधिक प्रभावशाली नहीं बन पाया। सामाजिक कुरीति का थोड़ा-सा यथार्थवादी चित्रण इस उपन्यास में अवश्य मिलता है। निर्दोष होने पर भी वेश्या के यहाँ रहने के कारण बेचारी कुसुम कुमारी को समाज से मुख छिपाकर जीवन व्यतीत करना होता है। बसन्त को प्रेम करने पर भी वह सामाजिक प्रथाओं के अभिशाप से मुक्त होने के लिए उसका दूसरा विवाह कराती है......कुसुम के जीवन में त्याग और तपस्या का सुन्दर समन्वय उपन्यासकार ने उपस्थित किया है।[2] इस कथा-सार में कुसुम की जगह सुमन, गुलाब की जगह शान्ता और बसन्त की जगह सदन रखकर पढ़ें, तो एकदम 'सेवा-सदन' का कथा-सार जान पड़ेगा। क्या सम्भव नहीं है कि 'सेवा-सदन' की कथा-प्रेरणा प्रेमचन्द को 'कुसुम कुमारी' से और उसकी मूल समस्या की प्रेरणा रुसवा के 'उमराव जान अदा' से मिली हो।

'सेवा-सदन' में एक गौण प्रभाव वाशिंग्टन इर्विंग की ''दी लीजेण्ड आव स्लीपी हालो'' का भी मिलता है। इस कथा में ब्रांम बौन्स के नैश-शौर्य का जो चित्रण मिलता है, उसे पढ़कर 'सेवा-सदन' के उस दृश्य की याद आ जाती है, जिसमें सदन अपने गाँव से पिता-माता के पास से भागकर शहर अपने चाचा के पास जा रहा है। रास्ते में जो अद्भुत अनुभव सदन को होते हैं, ठीक वही ब्राम बौन्स के हैं। इस प्रकार का साम्य संभव है। जिस समय प्रेमचन्द अध्यापन में लगे हुए थे, उसी समय ''सेवा सदन'' भी लिखा जा रहा था। मैट्रिक के पाठ्य-ग्रंथों में वाशिंग्टन इर्विंग की यह पुस्तक भी थी और इसकी कथा से प्रेमचन्द परिचित थे।

---

१. आ० सा० वि पृष्ठ १५८-५९.
२. हिन्दी उपन्यास पृष्ठ १८-१९

लेकिन इस या ऐसे आधार पर प्रेमचन्द पर "चौर्यारोप" अनुचित है। मौलिक तो कोई भी चीज नहीं है, मौलिकता तो केवल देखने के ढंग में होती है। शेक्सपीयर के अनेक नाटकों के उद्गम की खोज हो चुकी है, लेकिन इससे शेक्सपीयर की मौलिकता पर कोई आँच नहीं आती। प्रेमचन्द की मौलिकता को संशयालु दृष्टि से देखनेवालों ने यह नहीं सोचा कि प्रेमचन्द ने हर कहीं से अपनी कथा के लिए प्रेरणा लेकर उस कथा को नवीन और सार्थक बना दिया है। न तो हिन्दी की 'कुसुम कुमारी' और न उर्दू की 'उमराव जान अदा' दोनों ही में कथा को वह सामाजिक सार्थकता मिल पाई है, जो 'सेवा-सदन' की कथा को प्रेमचन्द ने प्रदान कर दी है। प्रेमचन्द कथा कहते-कहते एकदम चुपके-चुपके पाठक को ले जाकर एक गम्भीर समस्या के सामने खड़ा कर देते हैं। अपने सीमित अध्ययन के आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि प्रेमचन्द ऐसे पहले कलाकार हैं, जिन्होंने युगों-युगों से अभिशप्त नारी को धूल से उठाकर, पुचकार कर, उसे उसकी क्षमताओं से परिचित कराया है। पुरुष की निम्नगा प्रवृत्तियों की शिकार नारी 'सेवा-सदन' में स्फूर्ति के साथ जागकर प्रेम, सेवा और समर्पण का अर्घ्य पुरुष के सामने रखकर उसे कर्म-क्षेत्र में जाने के लिए तिलक देती है। किसी के खेत के मिट्टी-लोहे को उठाकर अपनी प्रतिभा के पारस से अगर प्रेमचन्द सोना बना देते हैं, तो यह कहना कि यह सोना अमुक खेत का है, बड़ी हास्यास्पद बात होगी।

आगे चलकर "रंगभूमि" पर थेकरे के "वेनिटी फेयर", 'कायाकल्प' के एक पात्र पर राइडर हैगर्ड की "शी" और उनकी प्रसिद्ध कहानी "कफन" पर हार्डी के "फार फ्राम मैडिंग क्राउड" के एक प्रसिद्ध दृश्य का असर बताया जा सकता है। लेकिन इन आरोपों की जाँच करते वक्त यह देखना जरूरी है कि प्रेमचन्द ने जो कुछ जहाँ से लिया है, उसे अपना बनाकर लिया है या नहीं और क्या प्रेमचंद में आकर दूसरों की यह सामग्री एकदम नये अर्थ को धारण कर लेती है या नहीं।

हिन्दी में प्रेमचन्द सीधे नहीं आये, उर्दू के माध्यम से आये। उर्दू का उपन्यास अपने समकालीन हिन्दी-उपन्यास से स्पष्ट ही अधिक विकसित था। वह जीवन और समाज के अधिक निकट था, अधिक यथार्थ था। उसमें कथा-संगठन और चरित्र-विकास अधिक सुयोजित और स्पष्ट था और शैली तो उर्दू उपन्यासों ने जो दी, वह एकदम अपूर्व थी। प्रेमचन्द उर्दू की इस सारी परम्परा को लेकर जब हिन्दी में आये, तो 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' या गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास या अधिक से अधिक किशोरीलाल गोस्वामी की रचनाओं को पढ़ने का अभ्यस्त हिन्दी-पाठक चमत्कृत रह गया। उसे पहिली बार लगा कि साहित्य का यह अंग केवल मनोरंजन नहीं करता, ऐसा दर्पण भी आँखों के सामने रख देता है, जिसमें हम अपनी भीतरी कालिमा देखकर चौंक पड़ें।

जो कहा जाता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यासों को एकदम नई मोड़ दी है, वह इसलिए कि प्रेमचन्द उर्दू-परम्परा का अनुकरण कर जिस रास्ते पर आ रहे थे, हिन्दी में अभी उस रास्ते की मानो नींव ही पड़ी थी या अधिक से अधिक वह एक साधारण पगडंडी मात्र थी। प्रेमचन्द ने आकर हिन्दी-उपन्यास का मार्ग प्रशस्त किया।

(४) मनोरचना

प्रेमचन्द निम्न मध्यवित्त वर्ग के व्यक्ति थे और आजीवन या तो परिस्थितियों की विषमतावश या स्वेच्छावश इसी वर्ग में रहे। इसलिए उनकी मनोरचना मध्यवर्गीय है।

मध्यवर्ग स्वभाव से समझौतावादी होता है। यह समझौता दो प्रकार का होता है। एक ओर मध्यम वर्ग विभिन्न वर्गों के बीच मध्यपथ का अनुसरण करना चाहता है, वह अभिजात वर्ग की कृपा पर रहना चाहता है और शोषित वर्ग की क्रान्तिपरक भावनाओं के लिए ब्रेक का काम करता है। दूसरी ओर वह अतीत और भविष्य के बीच समझौता करके वर्तमान में बना बैठा रहना चाहता है। वह परम्पराओं का गुलाम होता है, जो नई चेतना को संशयालु दृष्टि से देखता है। प्रेमचन्द ने शोषकों को ट्रस्टी मानकर चलना चाहा है, शोषितों को धीरज और शान्ति से सहने की सलाह दी है। मध्यवर्गीय मन लेकर उन्होंने समस्याओं को क्रान्ति की दृष्टि से नहीं, विकास की दृष्टि से देखना चाहा है। अपनी जिन्दगी का बड़ा भाग "टिपीकल" मध्यवर्गीय नौकरपेशा के रूप में बिताने के बाद, प्रेमचन्द ने क्रान्ति को ठंडे पानी में शीतल करके सामने रखा है। इसलिए वे सदन, प्रेमशंकर, सूरदास की सृष्टि तो कर पाये, बलराज[१] की एक यौवन की झलक दिखाकर ही रह गये। यहाँ तक कि अपने अन्तिम-प्राय उपन्यास में वे गोबर को नई चेतना की बेचैनी तो दे पाये, लेकिन नये युग की क्रान्ति का वाहक उसे नहीं बना पाये। इस प्रसंग में प्रेमचन्द के डा० इन्द्रनाथ मदान को सन् १९३४ के अन्त में लिखे एक पत्र का उल्लेख समीचीन होगा। "हमारा (साहित्यकारों का) उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है......क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, वह सन्देहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीनकर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ी हो।"[२]

मध्यम वर्गीय समझौतावादी मन लेकर प्रेमचन्द समस्याओं को आमूल तो पहचान पाये, लेकिन परिवर्तन में नहीं, विकास में विश्वास रखने के कारण वे उनका हल देते वक्त पत्तों को आँधी-पानी से बचाने का इन्तजाम तो सोच पाये पर कीड़ा जड़ में निरन्तर लगकर उसे कमजोर कर रहा है, यह बात गम्भीरता से अनुभव करके भी उसे दूर करने का कोई उपाय नहीं बता पाये।

..और एक डग बढ़ने में संशयालु, लेकिन दूर तक अतीत में गहरी नजर से पैठ कर आश्वस्त रहने की मध्यमवर्गीय बात भी प्रेमचन्द में मिलती है। उनकी प्रारंभिक कृतियाँ—कहानी और उपन्यास दोनों में अतीत का उत्कट प्रेम सर्वत्र विद्यमान है। 'पंच परमेश्वर' कहानी और 'रंगभूमि' उपन्यास इसके स्पष्ट प्रभाव हैं। अंत के 'कर्मभूमि' उपन्यास तक में इसके चिह्न मिलते हैं।

लेकिन मध्यवर्गीय मन विकासशील होकर सफल क्रान्ति का वाहक बन जाता है। मध्यमवर्ग के बारे में बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है कि "भले ही यह वर्ग परास्तता और मुकाबले

---

१. प्रेमाश्रम.

२. प्रे० वि० पृष्ठ ३७४.

के बीच अनिश्चय की स्थिति में रहे, लेकिन यह तय है कि पूंजीवाद के विरुद्ध दिखावे का विरोध कोई अर्थ नहीं रखता और एक न एक दिन परिस्थितियों का दबाव उन्हें श्रमिकों के साथ सक्रिय सहयोग के लिए बाध्य करेगा।"[1] प्रेमचन्द का प्रगतिशील मन निरन्तर उसी दशा में बढ़ रहा था। यदि ध्यान से देखें तो 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में यह फर्क मौजूद है। 'प्रेमाश्रम' का उपन्यासकार लगभग वस्तु चित्रक (आब्जेक्टिव्ह) कलाकार है। वह किसान और मजदूरों के संघर्ष को जैसा देखता है, लिख देता है। अगर उसकी सहानुभूति को कहीं खोजें तो वह किसानों के दुःख में दुःखी होकर उदार जमींदारों के सुख में सुखी भी नजर आता है। लेकिन 'गोदान' में आकर वह निर्लिप्त नहीं रह पाता। उसकी सक्रिय सहानुभूति किसानों और मजदूरों के साथ हो जाती है और 'मंगल-सूत्र' में वह क्रान्तिद्रष्टा बनने के उपक्रम में दीख पड़ता है।

इस मामले में प्रेमचन्द निरंतर विकासशील रहे हैं। यदि मन का विकास वे न कर पाते, तो सन् १९३५ में प्रगतिशील लेखक-संघ में शामिल होना उनके लिए मुमकिन न होता। उसकी सदारत स्वीकार करना उनके इस मनोविकास का स्पष्ट प्रमाण है। मौलाना मुहम्मद आकिल एम० ए० ने उस जमाने का एक संस्मरण देते हुए लिखा है, "इस जमाने में गालिबन वे तरक्कीपसन्द मुसन्निकों की अंजुमन के सदर बन चुके थे। कहने लगे कि मैंने सज्जाद जहीर[2] और उनके साथियों से कहा कि भाई, हम बुड्ढे हो गये, लेकिन दिल उन सब बातों को करना चाहता है, जो तुम लोग कहते हो। इसलिए हम भी अपनी नाव तुम्हारे समंदर में डालते हैं। अब वह जिधर भी जाये, फिक्र नहीं है।"[3] इसी तरह अहमद अली एम० ए० ने एक संस्मरण दिया है—"उस दिन, १४ फरवरी १९३५ को हम सब लोग अपने देश में प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन (प्रोग्रेसिव्ह वर्कर्स मूवमेन्ट) का संघटन करने के लिए फिर सज्जाद जहीर साहब के मकान पर इकट्ठे हुए थे। वहाँ मुंशी प्रेमचन्द, मौलाना अब्दुल हक और मु० दयानारायण निगम सरीखे ऐसे बड़े-बड़े लोग मौजूद थे, जिन्होंने साहित्य की उन्नति के लिए बहुत बड़े-बड़े काम किये थे और इसमें नई पीढ़ी वाले कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनके कंधों पर नये और अधिक दृढ़ साहित्य आन्दोलन चलाने का भार आ पड़ा था, और ज्यों-ज्यों दिन बीतते जायेंगे त्यों-त्यों जिनके कन्धों पर यह भार बराबर बढ़ता जायगा। हम सब लोगों ने एकमत होकर प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिशेयन या प्रगतिशील लेखक-संघ स्थापित करना निश्चित किया। मु० दयानारायण निगम को इस संबंध में कुछ निराशा और सन्देह हो रहा था, लेकिन प्रेमचन्द ने उस समय एक बहुत मार्के की बात कही कि प्रगतिशील लेखकों के आन्दोलन के लिए हमारा देश तैयार हो गया है और हम लोग एक बहुत ही शुभ और उपयुक्त अवसर पर इस एसोसियेशन का प्रारंभ कर रहे हैं।"[4] प्रगतिशील लेखक-संघ तो साम्यवादी विचारधारा में विश्वास रखनेवाली जमात है और सन् १९३५ में जब प्रेमचन्द ने यह अनुभव किया कि परिस्थितियाँ ऐसे आन्दोलन के लिए मुआफिक हैं, तो निश्चित है कि उस समय उनके मध्य-वर्गीय मन की प्रक्रिया लहरों में डाँवाँडोल होने वाली नाव की अस्थिरता में से गुजर कर

---

१. ई० एस० एस०.

२. साम्यवादी नेता.

३. प्रे० अ० पृष्ठ ८७०.

४. प्रे० अ० पृष्ठ ८८१.

स्थिर पानी में आ चुकी थी। मध्यमवर्गीय बेचैनी, उसका असंतोष तो था, लेकिन उसका समझौतावाद और नियतिवाद जा चुका था। उसका स्थान क्रान्ति और कर्म ने ले लिया था। अपने आखिरी दिनों में वे समाज के प्रश्नों को लेकर बड़े तीखे हो गये थे। "मंगल-सूत्र" के देवकुमार वे स्वयं ही हैं, और कहते हैं—"हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन देवता उन्हें क्यों कहो? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह, जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं, तो वह अन्धा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं, और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य, ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता तो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिद्रों के बीच उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।[१]

जान पड़ता है कि उन्हें विश्वास हो गया था कि ध्वंस से स्वर्ग मिलेगा, इसलिए उन्हें अब ध्वंस की चिन्ता नहीं थी।[२]

तो प्रेमचन्द जिन्दगी के पूर्वार्ध में गांधीवादी अवश्य थे। लेकिन सन् १९३५ के आसपास वे स्पष्ट रूप से गांधीजी से यह बात कहने की मनःस्थिति में हो गये थे कि "बापू, सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है; यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया है।[३] (प्रेमाश्रम का) मनोहर मर चुका है, कादिर भी मर चुका है, और उनकी समाधि पर (गोदान का) होरी अपनी भूखी हड्डियाँ चचोर रहा है। बापू, इस दम तोड़ते हुए होरी का क्या होगा? और यह लो, होरी ने आखिर दम तोड़ ही दी। बापू, इंसान इतना भला नहीं है, जितना तुम समझते हो। समाज ने सबकी कोमल-वृत्तियाँ सुखा दी हैं। शोषक भेड़ियों की जिह्वा-लोलुपता छोड़ो। वह देखो, (कफन के) माधव गौर घीसू तक अपने घर में सद्यः मरी लाश छोड़कर शराब और पुलाव उड़ा रहे हैं।[४] अब हालत ऐसी ही चलती रही तो सारी इन्सानियत पशुता में बदल जायगी। नहीं बापू, नहीं, हमारा तुम्हारा रास्ता एक नहीं है, तुम देवता हो, लेकिन मैं तो इन्सान हूँ।" और वास्तव में मौत के एक माह पहले लिखे महाजनी-सभ्यता लेख में प्रेमचन्द गांधीवाद से साम्यवाद की ओर पूर्णतः झुके मिलते हैं। महाजनी-सभ्यता निबंध में उन्होंने साफ कहा है—"परन्तु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है। आजीवन गरीबी में दिन काटने के कारण, गरीबों के साथ उनकी सहानुभूति बौद्धिक नहीं, अनुभूति और भावना के आधार पर थी। इसलिए अपने आपके लिए स्वावलम्बन, आत्मविकास और कर्मप्रेरणा का उनके पास अशेष भण्डार था। और समाज के प्रति वे

---

१. मं० सू० पृष्ठ ५९-६०.
२. प्रे० वि० पृष्ठ १७४.
३. प्रेमाश्रम.
४. कफन.

मानवीयता के अलौकिक गुणों से सम्पन्न थे। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को एक पत्र में उन्होंने लिखा है कि, "गरीबी और मुसीबतों का एक इखलाकी पहलू भी होता है। इन्हीं आजमाइशों में इन्सान इन्सान बनता है। उसमें खुद एतमादी पैदा होती है।"[1] यह दूसरी बात है कि देश की निरन्तर द्रवशील परिस्थितियों के बीच प्रेमचन्द मार्क्स का कोई भारतीयकरण करते, लेकिन यह तय है कि "मंगल-सूत्र" का देवकुमार गांधीवादी जमात का सदस्य नहीं, प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन का सदर है।

प्रेमचन्द इन्सान सदैव रहे हैं। जब साहित्य-रचना प्रारंभ की, तब से अंत तक। प्रारंभ में वे गांधीवादी इन्सान थे, अंत में साम्यवादी इन्सान हो गये। दोनों रूपों में भेद, मूल धारणाओं को लेकर नहीं है। भेद है इन्सानियत के तकाजे को पूरा करने के साधनों में। मैक्सिम गोर्की ने ह्यूमेनिज्म या मानवीयता के संबंध में लिखा है—

"क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की मानवीयता उसकी सीधी चोट में है। वह अपने मानव प्रेम को बड़े-बड़े और मधुर शब्दों में व्यक्त नहीं करता। उसका उद्देश्य सारी दुनियाँ के शोषितों को पूँजीवाद के निर्लज्ज खूनी पागल जुये से मुक्त करना है, आदमी को सिखाना है कि वह खरीदी और बेची जाने वाली सामग्री नहीं है, पूँजीशाहियों की विलास और सोना उपजानेवाली प्रतिक्रियावादी फैक्ट्रियों के लिए कच्चा माल नहीं है। पूँजीवाद दुनियाँ को उसी प्रकार विकारग्रस्त करता है, जिस तरह कोई बूढ़ा पागल मर्द नौजवान सेहतमंद औरत को करे, कि जिसे रोगीले कीटाणुओं के सिवा कुछ भी प्रदान न कर पाये। शोषितों की मानवीयता प्रेम-बन्धुत्व के गीत गाने तक सीमित नहीं है। वह हर श्रमिक से अपनी ऐतिहासिक मंजिल की चेतना, उसके शासनाधिकार, डिक्टेटर और शोषक, खूनियों और श्रमिकों के साथ गद्दारी करनेवालों तथा पूँजीशाही के प्रति घृणा की माँग करती है—घृणा उन सबके प्रति, जो कष्टों, अत्याचारों के कारण हैं और उन सबके प्रति जो दूसरों को कष्टों में रखकर जीवित रहना चाहते हैं।"[2] प्रेमचन्द में यह भावना सर्वत्र विद्यमान है। प्रारंभिक कृतियों में जरूर इस घृणा का स्वर खूब तीव्र नहीं हो पाया है। वह तीखा व्यंग्य बनकर प्रकट हुआ है। लेकिन अंतिम कृतियों में प्रेमचन्द पाप के प्रति परोक्ष द्रष्टा—महज केरीकेचरिस्ट—नहीं रह गये हैं। उनके स्वर में घृणा का प्रत्यक्ष सक्रिय भाव मिलता है। इसी घृणा को लेकर हिन्दी के कुछ छिद्रान्वेषी आलोचकों ने "घृणा-प्रचारक प्रेमचन्द" लिखकर अपनी प्रतिक्रियात्मकता का परिचय दिया है।[3]

प्रेमचन्द मूलतः इन्सान थे। इसलिए उनके धरती जैसे असीम मन को कोई बन्धन न तो बाँध पाया, न विभाजित ही कर पाया। इसलिए वे मजहब को कभी महत्व नहीं दे सके। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे यदि अनीश्वरवादी थे, तो अधार्मिक भी थे।

---

१. न० प्र०.

२. पृ॰ २६१-२६२.

३. (अ) अपनी घृणा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं, 'पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचंड घृणा हो, उतनी ही कल्याणकारी होगी। —प्रे० यु० पृ॰ १५०.

(ब) 'महाजनी सभ्यता' में यह घृणा खूब उभरकर बाहर आ गई है।

प्रेमचन्द ने इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है, "मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतकाद नहीं है, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग है। बाज लोगों की तबियत तो मजहबी होती है, बाज लोगों की लामजहबी। मैं मजहबी तबियत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबियत रस्मी मजहब की पाबन्दी को बिलकुल गवारा नहीं करती।"[१] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "मैं एक इन्सान हूँ और जो इन्सानियत रखता हो, इन्सान का काम करता हो, मैं वहीं हूँ और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ।"[२] ऐसा निस्सीम मन लेकर ही प्रेमचन्द हिन्दू-मुसलमान-प्रश्न को अपने उपन्यासों में हल कर पाये। प्रारंभ में गांधीवादी समानता के सिद्धान्त के आधार पर और बाद में इस पर मार्क्सीय वर्ग-चेतना का आरोप करके कि मानव का विभाजन धर्म और वर्ण के आधार पर नहीं है, किन्तु इस आधार पर है कि शोषक कुछ हैं और बहुत से शोषित हैं। इसलिए मनोहर और कादिर की एक जात है और इफ़नअली और रायकमलानन्द की दूसरी।

प्रेमचन्द को अपनी इन्सानियत का इतना भरोसा था और ईश्वरता के प्रति इतना अधिक अविश्वास कि वे कभी आस्तिक नहीं हो पाये।

सामान्यतः प्रेमचन्द इस विश्वास को लेकर चले हैं कि मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच या और परिस्थिति के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है।[३] यदि जमाने के छल-प्रपंच या और परिस्थितियों के असर से मनुष्य अपने को मुक्त कर सके, तो वह अपना देवत्व अक्षुण्ण रख सकता है और यदि जमाने के छल-प्रपंच और अदेवत्व के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है तो इन प्रतिकूल परिस्थितियों के जरा-सा हटते ही उसका देवत्व झाँकने लगता है। प्रेमचन्द इस धारणा को लेकर अपने उपन्यासों में असत् पात्रों को सत् में विकसित करते हैं—सत् को असत् में नहीं, क्योंकि आदर्शोन्मुखता सत् से असत् की ओर जाने में नहीं है, असत् से सत् की ओर जाने में है और प्रेमचन्द निस्सन्देह आदर्शवादी हैं।

मानव मन के भीतर के देवत्व पर प्रेमचन्द का इतना अधिक विश्वास है कि वे बुद्धिवाद पर भावुकता को तरजीह देते हैं। वे एक स्थान पर कहते हैं:—"जब हमें कदम-कदम पर बुद्धि की जरूरत पड़ती है और बुद्धि को ताक पे रखकर हम एक कदम भी आगे नहीं रख सकते......लेकिन जीवन के हरएक व्यापार को अगर बुद्धिवाद की ऐनक लगाकर ही देखें, तो शायद जीवन दूभर हो जाय। भावुकता को सीधे रास्ते पर रखने के लिए बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है, नहीं तो आदमी संकटों में पड़ जाय, इसी तरह बुद्धि पर भी मनोभावों का नियंत्रण रहना जरूरी है, नहीं तो आदमी जानवर हो जाय, राक्षस हो जाय।"[४] ऐसा जान पड़ता है कि वे जीवन में बुद्धि और भावुकता का आनुपातिक मेल बिठाना चाहते हैं। तभी तो कहते हैं "वैराग्यवाद, दुखवाद और निराशावाद—ये सब जीवन-बल को कम करनेवाली चीजें हैं......लेकिन उसी तरह बुद्धिवाद, तर्कवाद और उपयोगितावाद भी

---

१. प्रे० अ० पृष्ठ ७६९-७०.
२. प्रे० अ० पृष्ठ ७६९-७०.
३. कु० वि० पृष्ठ ८६.
४. सा० उ० पृष्ठ ७६.

जीवन को दुर्बल कर देगा, अगर उसे बेलगाम दौड़ने दिया गया।"[1] लेकिन दोनों के मेल में बुद्धि के मिकदार को वे इस तरह व्यक्त करते हैं कि "बिजली की हमें इतनी ही जरूरत है कि मशीन चलती रहे। अगर करेण्ट ज्यादा तेज हो गया तो घातक हो जायगा।"[2] उदाहरण-स्वरूप वे बर्नार्ड शा का हवाला देते हुए कहते हैं, "वह जबान से चाहे कितनी ही बुद्धिवाद की हांक लगायें, मगर भावुकता उनकी पोर-पोर में भरी है।[3] तो बुद्धि भावुकता की मशीन के लिए आवश्यक बिजली की करेंट की तरह है। आगे प्रेमचन्द एक घटना का उल्लेख करते हुए अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हैं—"एक स्त्री को कुछ लम्पटों ने आकर घेर लिया है...उसी वक्त एक मुसाफिर उधर से आ निकलता है। भावुकता कहती है—भगा दो, इन बदमाशों को और इस देवी का उद्धार करो। बुद्धिवाद कहेगा, मैं अकेला इन पांच आदमियों का क्या सामना करूँगा, व्यर्थ में मेरी जान जायगी। लम्पट लोग स्त्री की हत्या न करेंगे, लेकिन मेरा खून ही पी जायेंगे। यहाँ भावुकता ही मानवता है, बुद्धिवाद कायरता है। दुर्बलता है।"[4] किसी तार्किक ने यहां शंका की कि भावुकता यही क्यों कहे कि इस देवी का उद्धार करो। भावुकता उसे उस समय प्राण बचाकर भागने के लिए भी कह सकती है। उत्तर है कि प्रेमचन्द यह मान कर चलते हैं कि स्वस्थ मन की प्रक्रियाएँ सतोन्मुखी ही होंगी और अगर बुद्धिवाद "छल-प्रपंच या परिस्थितियों की" विवशता न सौंप दे, तो मन की भावुकता सदैव सत् की ओर ही दौड़ेगी।

प्रेमचन्द भावुकतावादी हैं, बुद्धिवादी नहीं, यह कथन करते समय यह स्मरण रखना होगा कि प्रेमचन्द एक को स्वीकार करके दूसरे से एकदम इनकार नहीं कर रहे ह। अगर एक ही होते और दूसरे नहीं, तो शायद गांधीवाद और बुद्धिवाद में से भी चुनाव करते। लेकिन गांधीवाद से प्रारम्भ करके मार्क्सवाद पर समाप्त होनेवाले मन का विकास-क्रम बतलाता है कि वे दोनों में कोई सन्तुलन नहीं चाहते हैं।

जैनेन्द्रकुमार प्रेमचन्द के अध्ययन को आत्मापेक्षी और पदार्थापेक्षी दृष्टियों से करने में विरोध का आभास पाते हैं या कम से कम उनके कथन की ध्वनि यह है कि आत्मापेक्षी दृष्टि से तो प्रेमचन्द अपनी साहित्य-सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं, किन्तु पदार्थापेक्षी दृष्टि से शायद उनकी साहित्य-सृष्टि में यह गति और प्रगति नहीं है। यह विरोध-धारणा जरा अस्वाभाविक जान पड़ती है क्योंकि साहित्य-सृष्टि में आत्मापेक्षी और पदार्थापेक्षी एसे दो तत्त्व अलग-अलग नजर आयेंगे कैसे? अगर प्रेमचन्द के मन ने विकास किया है, तो उसकी झलक उनके साहित्य में आयेगी ही। जान पड़ता है कि प्रेमचन्द के मनोविकास को जिस नजर से जैनेन्द्रकुमार ने देखा है, उस नजर से उनका सही परिचय मिलेगा नहीं।[5] प्रेमचन्द का मध्यवर्गीय मन है और मध्यवर्गीय मनोविकास जिस पथ का अनुसरण करता है, वह प्रेमचन्द में बहुत स्वाभाविक ढंग से मिलता है। यह ठीक है कि प्रेमचन्द मध्यवर्ग के होते हुए भी उसकी साधारणता में से एक नहीं हैं। इसलिए उनका मनोविकास सामान्य पथ पर भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की रेखाएँ छोड़ता चला है।

---

१. सा० उ० पृष्ठ ७७
२. सा० उ०
३. वही.
४. वही पृष्ठ ७८.
५. जैनेन्द्रकुमार ने कुछ स्पष्टीकरण इस संबंध में दिया है, वह पृष्ठ १४ पर है।

भाग ४

प्रेमचन्द-साहित्य का विश्लेषण और विकास-क्रम

(१) प्राक्–'सेवासदन' कृतियाँ

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' लिखने के पूर्व तक छोटी-बड़ी अनेक कृतियाँ लिख डाली थीं, जिनमें कुछ प्राप्य और कुछ अप्राप्य हैं, प्रेमचन्द के साहित्य-विकास के अध्ययन के लिए 'सेवासदन' से पूर्व की इन कृतियों को जानना आवश्यक है।

प्रेमचन्द ने अपनी पहिली रचना के संबंध में स्वयं विस्तार से लिखा है। मामू के प्रणय-प्रसंग पर लिखा गया यह प्रहसन बतलाता है कि प्रेमचन्द अपने समय की रोमेंटिक प्रवृत्तियों से अछूते, सामाजिक दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति रहे हैं। चरित्र-विकास या विश्लेषण से उनके समय का परिचय नहीं था। कथा घटनात्मक होती थी और घटना समाज-सापेक्ष, जिसके प्रति उपन्यासकार नीतिवादी दृष्टि लेकर चल सके। शैली की व्यंग्यात्मकता प्रेमचन्द ने सरशार के अध्ययन से पाई होगी।

इस प्रहसन के एक ही वर्ष बाद उन्होंने एक नाटक और पाँच वर्ष बाद एक उपन्यास लिखा। तभी "रूठी रानी" नाम से उनका एक ऐतिहासिक उपन्यास सामने आया। इस उपन्यास के संबंध में कहा गया है—

"प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में राजाओं की वीरता और देशभक्ति को आदर्श के रूप में पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत किया है और साथ ही दिखाया है कि आपसी फूट और ईर्ष्या के कारण वे देश की गुलामी और विनाश से नहीं बच सके। देश को स्वतंत्र करने के लिए देशभक्ति और वीरता के साथ एकता और संगठन भी जरूरी है।

"फिर इस उपन्यास में बहुविवाह की खराबियों, राजभवन और दरबार के षड्यन्त्रों और उनसे होनेवाले शक्ति-ह्रास को भी भली-भाँति दर्शाया गया है............प्रेमचन्द इतिहास के बारे में एक स्वस्थ और प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते थे। उनकी ऐतिहासिक कहानियों की तरह इस उपन्यास को पढ़कर हमारे प्राचीन इतिहास की अच्छी बातें ग्रहण करने और त्रुटियाँ तथा बुराइयाँ छोड़ देने की प्रेरणा मिलती है। प्रेमचन्द नारी के अधिकारों के बारे में सदा सजग रहे हैं। राजपूतों की सामन्ती-व्यवस्था में नारी को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। प्रेमचन्द को यह बात अखरती है और वे लिखते हैं कि, "बेटी बिन सींगों की गौ है। माता-पिता उसकी रक्षा करते हैं और जिसके पल्ले चाहे, बाँध देते हैं।"[१]

"रूठी रानी" में प्रेमचन्द की दृष्टि देश की अवनत दशा और नारी की निरवलम्बिता

---

१. प्रे० जी० कृ० पृ. २१२.

तथा बेबसी की ओर गई है। पहली रचना से लेकर 'रुठी रानी' तक प्रेमचन्द की दृष्टि में केन्द्रीयता भी आ गई थी और गंभीरता भी।

सन् १९०१ से लेकर 'सेवा-सदन' के प्रकाशन तक प्रेमचन्द ने अनेक उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं। इनमें कृष्णा, वरदान, प्रेमा और श्यामा उपन्यास हैं। 'सोजेवतन', 'सप्त-सरोज' और 'नवनिधि' कहानी-संग्रह हैं।

'कृष्णा' (अप्राप्य है) के संबंध में विशेष कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन 'श्यामा' के बारे में प्रेमचन्द के पुत्र अमृतराय ने बताया है कि इसमें प्रेमचन्द ने अंग्रेजी कुशासन की निन्दा की है। जिस प्रकार 'प्रतापचन्द', 'वरदान', 'प्रेमा', 'प्रतिज्ञा' और 'हम खुर्मा व हमसवाब' एक ही विषय को लेकर लिखे गये अलग-अलग उपन्यास हैं, उसी प्रकार सम्भवतः 'श्यामा' और 'कृष्णा' भी एक ही हों.......शीर्षकों में तो समानता का आभास मिलता है। 'प्रतिज्ञा' पर अलग से विचार किया गया है। यहाँ इतना संकेत पर्याप्त है कि प्रेमचन्द ने 'रूठी रानी' में नारियों की दशा पर दृग्पात किया है। 'प्रतिज्ञा' में नारी समस्या पर सामान्य ढंग से नहीं, उसके एक पक्ष को लेकर विस्तार से चर्चा की गई है।

'वरदान,' 'रूठी रानी' के बाद और 'प्रतिज्ञा' के पहले की कृति है। 'वरदान' की कड़ी के माध्यम से 'प्रतिज्ञा' तक पहुँचना अधिक सुविधाजनक होगा।

'वरदान' की कहानी बचपन में संग-संग खेले-खाये तरुण-तरुणी की दुखान्त कथा है, जिसे उपन्यासकार की आदर्शवादी दृष्टि ने बरबस सुखान्त बनाना चाहा है। लड़की अमीर है, लड़का गरीब है। अमीर की लड़की गरीब को कैसे ब्याही जाय, वह अमीर को ब्याह दी जाती है। केवल सामाजिक स्थिति ही विवाह की निर्णायिका होती है। इस प्रकार के विवाह का दुष्परिणाम बिरजन की मानसिक अशान्ति और कमला की मौत में दीख पड़ता है। प्रताप को अपने असफल प्रेम का धक्का कुछ कम नहीं होता, लेकिन विफल-प्रेमी समाज-सेवी बनकर अपने को आदर्श पात्र बना लेता है। यहाँ यह स्पष्ट है कि उसके समाजसेवी बनने का श्रेय भी विधि के हाथों है। प्रारम्भ में ही माँ इस प्रकार की कामना प्रभु से कर लेती है। प्रेम का एक और स्वरूप माधवी है, जो प्रेम के ऐकान्तिक उन्माद का स्वरूप प्रकट करती है।

'वरदान' का एक दृश्य शरत्चन्द्र के 'देवदास' के एक दृश्य से मिलता-जुलता है। 'वरदान' और 'देवदास' में कुछ कथा-साम्य भी है लेकिन प्रेम को, जीवन को, समाज को देखने के दोनों के दृष्टि-भेद के कारण दोनों की कहानियाँ, इस दृश्य पर मिलकर फिर दो तटों की तरह दूर-दूर हो जाती हैं।

'वरदान' में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि प्रेमचन्द समाज-सेवा के आदर्श को लेकर चलना चाह रहे हैं। दूसरा यह कि प्रेमचन्द अपने युग की परिस्थितियों को सजगता से निहारते हैं और उनमें से राष्ट्रीय आत्मगौरव को जगाते चलते हैं। डिप्टी श्यामाचरण का चरित्र-निर्देश देते हुए प्रेमचन्द ने एक घटना दी है। कई वर्ष हुए वे एक बार कलक्टर साहब को सलाम करने गये थे। खानसामा ने कहा—साहब स्नान कर रहे हैं।...दो घण्टे तक बरामदे में एक मोढ़े पर बैठे प्रतीक्षा करते रहे। तदनन्तर साहब बहादुर हाथ में एक टेनिस

रैकेट लिए हुए निकले और बोले––बाबू साहब, हमको खेद है कि आपको हमारी बाट देखनी पड़ी। मुझे आज अवकाश नहीं है। क्लब घर जाना है। आप फिर कभी आवें।

यह सुनकर उन्होंने साहब बहादुर को सलाम किया और इतनी-सी बात पर फिर किसी अंग्रेज की भेंट को न गये। वंश-प्रतिष्ठा और आत्म-गौरव पर उन्हें बड़ा अभिमान था।[१]

कमला के नाम जितने पत्र बिरजन के हैं उनमें न प्रेमदाह है, न प्रेमोन्माद। उनमें एक संतुलित मन वाली, समाज के गुण-दोषों को देखनेवाली नारी के उद्गार हैं। यह अस्वाभाविक भले लगे, लेकिन इन पत्रों के भीतर से प्रेमचन्द का मन साफ झलकता नज़र आता है। पहले ही पत्र में बिरजन लिखती है, "यहाँ चित्त अति व्याकुल हो रहा है। क्या सुनती थी और क्या देखती हूँ। टूटे-फूटे फूस के झोपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-कर्कट के बड़े-बड़े ढेर, कीचड़ में लिपटी हुई भैंसें, दुर्बल गायें––ये सब दृश्य देखकर जी चाहता है कि कहीं चली जाऊँ? मनुष्यों को देखो, तो उनकी शोचनीय दशा है। हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवित चित्र हैं। किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं।"[२] इसी पत्र में गाँववालों के अन्धविश्वासों की भर्त्सना की गई है। किसी पत्र में लिखा है––"खेत पक गये हैं, पर काटने में दो सप्ताह का विलम्ब है। मेरे द्वार पर से मीलों का दृश्य दिखाई देता है। गेहूँ और जौ के सुथरे खेतों के किनारे-किनारे कुसुम के अरुण और केसरवर्ण पुष्पों की पंक्ति परम सुहावनी लगती है। तोते चतुर्दिक मंडलाया करते हैं।"[३] कहीं महाजनों के शोषण की सूचना है। कहीं पठान-साहूकार की ज्यादतियों का चित्रण है––कहीं जमींदार के अत्याचार की कथाएँ हैं।

इसी प्रकार प्रतापचन्द के बारे में लिखा है––

जातियों की उन्नति और अवनति तथा उसके कारण और गति पर वह प्रायः विचार किया करता था........[४] बहुधा सन्ध्या समय वह कीटगंज और कटरा की दुर्गन्धिपूर्ण गलियों में घूमता हुआ दिखाई देता, जहाँ विशेषकर नीची जाति के लोग बसते हैं। जिन लोगों की परछाईं से उच्चवर्ण हिन्दू समाज भागता है, उनके साथ प्रताप टूटी खाट पर बैठकर घंटों बातें करता.........इत्यादि।[५]

पुलिस के प्रेमचन्द बड़े तीव्र आलोचक हैं। वरदान में पुलिस के कारनामों की तसवीर मिलती है। जिस मण्डल में मझगाँव स्थित था, उसके थानेदार साहब एक बड़े घाघ और कुशल रिश्वती थे। सहस्रों की रकम पचा जायँ पर डकार तक न लें। अभियोग बनाने और प्रमाण गढ़ने में ऐसे अभ्यस्त थे कि बाट चलते मनुष्य को फाँस लें और वह फिर किसी के छुड़ाये न छूटे।[६]

---

१. वरदान पृष्ठ २३-२४.
२. वरदान पृष्ठ ८३.
३. वरदान पृष्ठ ८६.
४. वरदान पृष्ठ १०१.
५. वरदान पृष्ठ १०२.
६. वरदान पृष्ठ १०७.

इसके सिवा 'वरदान' में एक और बात ध्यान आकृष्ट करती है। वह है इसकी भाषा। 'वरदान' में प्रेमचन्द की उस भाषा के दर्शन होते हैं, जो वे सप्रयास सीखने और ग्रहण करने में लगे हुए थे। स्वयं 'वरदान' की नायिका को प्रेमचन्द ने भाषा सीखते हुए बताया है। हरिभाऊ उपाध्याय ने इस प्रकार के अभ्यास की एक घटना का उल्लेख किया है। 'वरदान' में भाषा कृत्रिम है, अधिक से अधिक संस्कृत गर्भित और ऐसी कि जो बोलचाल से एकदम अलग जा पड़ती है। भाषा के प्रयोग कहीं-कहीं तो बड़े अजीब लगते हैं; जैसे भली-भाँति फूट-फूटकर रोती है।[1] बड़े हँसमुख मनुष्य हैं।[2] दोनों चरण उष्ण जलकणों से भींग गये।[3]

भाषा कृत्रिम तो है ही, इतनी अधिक संस्कृत गर्भित है कि पंडिताऊपन का भ्रम होता है।

'वरदान' में कथावस्तु की शिथिलता, चरित्र-विकास का अभाव और विश्वसनीयता की कमी स्पष्ट दीख पड़ती है। लेकिन 'वरदान' प्रेमचन्द की उस मनोरचना का आभास जरूर देता है, जिसने आगे चलकर प्रेमचन्द से अनेक महान ग्रन्थों की रचना करा ली।

'वरदान' के बाद 'सोज़े वतन' क्रम की कहानियाँ आती हैं। ये कहानियाँ देश प्रेम की भावना से ओतप्रोत हैं। अपनी साहित्य-साधना के आरम्भ काल से ही प्रेमचन्द की दृष्टि, समाज और देश की दशा की ओर गई थी। 'सोज़े वतन' की कहानियों के बारे में मालूम हुआ है कि वे किसी भी प्रकार से राजद्रोहात्मक नहीं थीं, लेकिन इस शताब्दी के पहले दशक में, देश की बात करना भी सरकार की निगाह में गुनाह समझा जाता था और प्रेमचन्द ने अपने इस गुनाह की सज़ा पाई थी।

'सप्त सरोज' और 'नवनिधि' कहानी संग्रहों में सामाजिक और ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। एक कहानी है—'यही मेरी मातृभूमि है' जिसमें प्रेमचन्द ने उन पुरातन वैभव की बातों के लोप हो जाने का रोना रोया है और भक्ति के गीतों में शान्ति मिलने का संकेत किया है।

उन्होंने 'सप्त सरोज' और 'नवनिधि' की कहानियों में से बड़े घर की बेटी, पंच परमेश्वर, सौत, राजा हरदौल, रानी सारन्धा, विक्रमादित्य की कटार को अपनी श्रेष्ठ कहानियों में गिना है।[4] इन कहानियों में से दो-एक को छोड़कर शेष भारतीय प्राचीन गौरव को व्यक्त करती हैं। अपनी नौकरी के प्रसंग में प्रेमचन्द बुन्देलखण्ड में रहे थे और बुन्देला राजपूतों के अनुपम शौर्य और बलिदान के किस्से उन्होंने सुने थे। कुछ किस्से—जो 'नवनिधि' में संग्रहीत हैं—बुन्देलखण्ड के गौरव से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार 'सप्त सरोज' के किस्से, भारतीय समाज व्यवस्था के उज्ज्वल पक्ष को प्रकट करते हैं। बड़े घर की बेटी, संयुक्त परिवार प्रथा और पंच परमेश्वर भारतीय ग्राम-व्यवस्था के आदर्श को प्रकट करती हैं। सौत में नारी के उस चरम त्याग का चित्रण है, जो वह अपने पति को सुखी बनाने के लिए करती है।

---

१. पृष्ठ ३१.
२. वरदान पृष्ठ ३५.
३. वरदान पृष्ठ ४६.
४. प्रे० जी० कृ० पृष्ठ २१२.

अपनी इन प्रारंभिक कृतियों में प्रेमचन्द आदर्शवादी दृष्टिकोण लेकर अतीत के, बीते हुए जमाने के ऐतिहासिक और सामाजिक गौरव से प्रेरणा पाते हुए मिलते हैं। वह यह समय था, जब वर्तमान विवशता और दयनीयता का दूसरा नाम था और देश में विदेशी प्रभाव का मुलम्मा जोर से चढ़ रहा था; जब देश की जागी हुई ताकतों में भी विरोध का भाव तो पैदा हो गया था, विद्रोह का नहीं। ऐसे समय में अतीत के गौरव की छाया में ही मन को शान्ति मिल जाती थी।

ये दोनों कहानी-संग्रह यद्यपि प्रेमचन्द की प्रारंभिक कृतियाँ हैं, किन्तु इनमें प्रेमचन्द का कहानीकार-रूप एकदम निखरा हुआ मिलता है। जिज्ञासा और कुतूहल की रक्षा करते हुए संवेदनात्मक सरस ढंग से प्रेमचन्द कथा को लेकर चलते हैं और कथा का अन्त अकस्मात् चमत्कृत करनेवाला, संवेदन की मर्मस्पर्शी चोट के रूप में होता है। यह ठीक है कि प्रेमचन्द इन कृतियों में भी यथासंभव अपनी उपदेशात्मक-वृत्ति प्रकट कर ही देते हैं, लेकिन अतीत के गौरव की स्वीकृति के लिए जिस भावुकता की आवश्यकता है, वह इतनी प्रचुर मात्रा में यहाँ विद्यमान है कि इस उपदेशात्मकता की नीरसता मालूम भी नहीं पड़ती। शैली की व्यंगात्मकता इन सभी कहानियों में मौजूद है, जो कथा को बड़ा मधुर आकर्षण प्रदान करती है। देखिए, "श्रीकण्ठसिंह की दशा उसके बिलकुल विपरीत थी। इन नेत्रप्रिय गुणों को उन्होंने इन्हीं दो अक्षरों (बी० ए०) पर न्योछावर कर दिया था। इन दो अक्षरों ने इनके शरीर को निर्बल और कान्तिहीन बना दिया था। इसी से वैद्यक ग्रन्थों पर उनका विशेष प्रेम था। आयुर्वेदिक औषधियों पर उनका अधिक विश्वास था। साँझ-सवेरे उनके कमरे से प्रायः खरल की सुरीली कर्णमधुर ध्वनि सुनाई दिया करती थी। लाहौर और कलकत्ते के वैद्यों से बड़ी लिखा-पढ़ी रहती थी।[१] और, अलगू ने गुरूजी की बहुत सेवा की--खूब रिकाबियाँ माँजीं, खूब प्याले धोये। उनका हुक्का एक क्षण के लिए भी विश्राम न लेने पाता था, क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आध घण्टे तक किताबों से मुक्त कर देती थी। अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। शिक्षा की अपेक्षा उन्हें गुरु की सेवा-सुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। वे कहते थे कि विद्या पढ़ने से नहीं आती, जो कुछ होता है, गुरु के आशीर्वाद से होता है।"[२] इत्यादि।

भाषा की वह चुस्ती जो प्रेमचन्द उर्दू से लेकर आये थे, हिन्दी में यद्यपि मौलिक चीज नहीं थी, लेकिन नई जरूर थी। यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि प्रेमचन्द इस समय उर्दू से हिन्दी में आये थे। इसलिए भाषा की कृत्रिमता अर्थात् संस्कृत-बहुलता के साथ-साथ कहीं-कहीं कर्णकटु प्रयोग भी उनकी कहानियों में मिलते हैं। रक्षणता, लावण्यता जैसे प्रयोग अखरते हैं। फिर भी हिन्दी-उर्दू के मेल से भाषा सरल भी और मधुर भी बन सकती है, इसके प्रमाण इन प्रारंभिक कृतियों में मौजूद हैं।

विचार और चिन्तन की दृष्टि से इन प्रारंभिक कृतियों में भी प्रेमचन्द की समाजापेक्षी दृष्टि झलकती है। प्रेमचन्द वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था के बड़े कटु आलोचक हमेशा से रहे

---

१. स० स० पृष्ठ ५.
२. स० स० पृष्ठ ३६.

हैं। अंग्रेजी सामाजिक व्यवस्थाओं की निन्दा और तिरस्कार वे करते थे और प्राचीन हिन्दू (भारतीय) सभ्यता का गुणगान करना उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। नागरी-प्रचार के प्रति दिलचस्पी दिखाते थे। 'बड़े घर की बेटी' में नागरी प्रचारक चन्दे की बात कही गई है। 'वरदान' की नायिका हिन्दी के साथ-साथ नागरी सीखती है। देश के भाइयों की दुर्बल, व्याधिग्रस्त काया देखकर उनके हृदय को कष्ट होता था। रिश्वतखोरी समाज में अच्छी-खासी फैल गई थी। 'नमक के दरोगा' में नायक का पिता उसे समझाता है —

"बेटा, घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ से दबे हुए हैं। लड़कियाँ हैं। वह घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं। मैं कगारे का वृक्ष हो रहा हूँ। न मालूम कब गिर पड़ूँ। अब तुम्हीं घर के मालिक-मुख्तार हो। नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना। यह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूँढना, जहाँ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ श्रोत (स्रोत) है, जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है, इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसमें बरकत होती है।[1] समाज के पाखण्ड को देखिए। पं० आलोपीदीन गिरफ्तार हो गये हैं। उन्होंने चुंगी बचाकर चोरी से नमक ले जाने की कोशिश की है। रात का यह वाक़या है। सुबह, जिसे देखिए वही, पण्डितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था। निन्दा की बौछारें हो रही थीं, मानों संसार से अब पापी का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचनेवाला ग्वाला, कल्पित रोज़नामचे भरनेवाले अधिकारी-वर्ग, रेल में बिना टिकिट सफर करनेवाले बाबू, जाली दस्तावेज बनानेवाले सेठ और साहूकार यह सबके सब देवताओं की भाँति गर्दनें चला रहे थे।[2] धन धर्म से बड़ा है, न्याय से बड़ा है, यह बात निर्भीकता से प्रेमचन्द कह पाते हैं—अलोपीदीन और उनके धन पर धर्म ने आक्रमण किया है। बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त, वकीलों की एक सेना तैयार हो गई। न्याय के मैदान में धर्म और धन में युद्ध ठन गया। वंशीधर चुपचाप खड़े थे। उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई शस्त्र। गवाह थे, किन्तु लोभ से डाँवाडोल।[3] और धन जीतकर धर्म को न्याय के माध्यम से इसलाह करता है। परन्तु नमक के मुहकमे की बढ़ी हुई नमकहलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया।[4] यह तो समाज में धर्म की प्रतिष्ठा है। घर के भीतर का हाल देखिए। वंशीधर के असफल हो जाने, रिश्वत में रुपया न ले सकने के कारण वृद्धा माता को भी दुःख हुआ। जगन्नाथ और रामेश्वर यात्रा की कामनाएँ मिट्टी में मिल गईं।"[5]

'सेवासदन' के पूर्व तक प्रेमचन्द समाज के उस रूप से खूब अच्छी तरह परिचित हो चुके थे, जिसमें धर्म धन से पराजित होता है, रिश्वतखोरी जहाँ नियम है और ईमानदारी

---

१. स० स० पृष्ठ ५०.

२. स० स० पृष्ठ ५४.

३. स० स० पृष्ठ ५५.

४. स० स० पृष्ठ ५५.

५. स० स० पृष्ठ ५६.

अपवाद, धर्म जहाँ आडम्बर का दूसरा नाम है, जहाँ शिक्षा जीवन-विकास के लिए नहीं ह्रास के लिए है, जहाँ देश दैन्य और रोगों का शिकार है, जहाँ नारी अशिक्षित, दलित है फिर भी त्यागमयी है।

'सेवा सदन' तक पहुँचते-पहुँचते प्रेमचन्द की भाषा में स्थिरता आ गई थी। मुहावरों के स्वाभाविक प्रयोग और भाषा की सरल शैली होने लगी थी। संस्कृतगर्भित, कहीं-कहीं पण्डिताऊपन का भ्रम देनेवाली भाषा अब नहीं रही थी। विचार और चिन्तन की उत्तरोत्तर परिपक्वता समाज के प्रश्नों पर निश्चयात्मक ढंग से अभिव्यंजन कर पाती थी और इसी कारण इस अभिव्यंजन में व्यंग की चोट करनेवाली प्रणाली आ गई थी। हाँ, वह उपदेशात्मकता जो परंपरा से उन्हें प्राप्त हुई थी, यहाँ भी उथले-आदर्शवादी का रूप धर कर प्रकट हो रही थी।

सेवा सदन

"सेवा सदन" प्रेमचन्द की और सम्भवतः हिन्दी की वह अद्भुत कृति है, जिसने १९१६-१७ में हिन्दी-पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था। इस कृति को अद्भुत संज्ञा इसलिए दी गई है कि यह पहली कृति है, जिसमें लेखक ने समाजापेक्षी दृष्टि लेकर समाज की समस्या को विस्तार और गहनता से समझना चाहा है, जिसमें हिन्दी की पिछली कृतियों की उपदेशात्मकता और भावात्मकता के स्थान पर गम्भीर अध्येता और सूक्ष्म-अवलोकी की कला के दर्शन होते हैं। प्रेमचन्द ने सत्साहित्य को (कम से कम अपने साहित्य को) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की संज्ञा दी है। इस उपन्यास में जीवन और समाज के गम्भीर और कटु सत्य को दिखाकर प्रेमचन्द उस आदर्श की ओर संकेत करते मिलते हैं, जो वे इस यथार्थ के स्थान पर चाहते हैं।

'सेवा सदन' का पहला ही वाक्य 'सेवा सदन' के मर्म को प्रकट करता है—

(A) "पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दरोगा कृष्णचन्द अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।"[1] इस वाक्य से पाठकों को चमत्कृत करके प्रेमचन्द समाज की उस दशा का चित्रण करते हैं, जिसमें कृष्णचन्द को अपनी ईमानदारी पर पछताना पड़ता है। वे समाज के उस स्वरूप को सामने रखते हैं जिसमें चाटुकारिता और उत्कोच नियम हैं, सफलता की कुंजियाँ हैं और ईमानदारी अपवाद है, विफल जीवन और दारुण कष्टों की भूमिका है। इन सरल शब्दों में छिपा हुआ व्यंग एक कचोट की तरह पाठक को तिलमिला देता है और उसे लगता है कि वह ज़माने में आमतौर पर लिखी-पढ़ी जानेवाली रूमानी-कथा नहीं पढ़ रहा है, बल्कि बीमार-समाज की हिस्ट्री शीट देख रहा है।

प्रेमचन्द ने 'सेवा-सदन' के पहले दो अध्यायों में समाज का पाखण्ड उघार कर रख दिया है। यहाँ ऐसे समाज की तसवीर मिलती है, जिसमें विवाह सौदे का, लेन-देन का दूसरा नाम है, जिसे लोग खुलेआम नहीं, शिष्टता और विवशता का जामा साथ-साथ पहनाकर करते

---

१. सेवा सदन पृष्ठ १.

हैं, जिसमें पाप नियम भी है और सम्पन्नता का साधन भी और जिसमें धर्म आडम्बर भी है और व्यापार भी।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचन्द पुलिस, महंत और जमींदार का जो खाका उपस्थित करते हैं, उसे वे किसी न किसी रूप में अपनी प्रारंभिक कृतियों में चित्रित करते आये हैं और अन्तिमप्राय उपन्यास तक में करते गये हैं। सुरक्षा के लिए जिम्मेदार पुलिस अरक्षा को, नैतिकता का आदर्श मठाधीश पाप को और किसानों के पोषक स्वामी जमींदार शोषण को अपने जीवन का कार्यक्रम बनाकर चलता है। उपन्यासकार समाज के इस स्वरूप को निर्भयता और निर्ममता से सामने रख देता है।

और जैसे इतना ही समाज का कलंक उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त न हो, वे ईमानदार कृष्णचन्द्र को ये शब्द कहने के लिए मजबूर कर देते हैं—

"यदि मैं पाप से न डरता, तो आज मुझे यों (बेटी का विवाह-सम्बन्ध स्थिर करने के लिए) ठोकरें न खानी पड़तीं। (इस समय दोनों स्त्री-पुरुष चिन्ता में डूबे हुए थे। बड़ी देर के बाद कृष्णचन्द्र बोले) देख लिया, संसार में सन्मार्ग पर चलने का यह फल होता है। यदि आज मैंने लोगों को लूटकर अपना घर भर लिया होता तो लोग मुझसे संबंध करना अपना सौभाग्य समझते, अब तो कोई सीधे मुँह बात नहीं करता है, परमात्मा के दरबार में यही न्याय होता है।"[1] साथ ही साथ कृष्णचन्द्र इस निश्चय पर पहुँचते हैं—"धर्म का मजा चख लिया। सुनीति का हाल भी देख चुका। अब लोगों के खूब गले दबाऊँगा, खूब रिश्वतें लूँगा। यही अन्तिम उपाय है। संसार यही चाहता है और शायद ईश्वर भी यही चाहता है।"[2] आज का समाज इन्सान को भला नहीं रहने दे सकता। स्वयं कृष्णचन्द जब पुलिस की स्वाभाविक-परम्परा के अनुसार रिश्वत लेने का फैसला करते हैं तो मन के भीतर संकल्प-विकल्प इस भाँति उठते हैं। वे सोचते थे—"यदि यही करना था, तो आज से पचीस साल पहले ही क्यों न किया, अब तक सोने की दीवार खड़ी कर दी होती। इलाके ले लिए होते। इतने दिनों तक त्याग का आनन्द उठाने के बाद, बुढ़ापे में यह कलंक। पर मन कहता था, इसमें तुम्हारा क्या अपराध? तुमसे जब तक निभ सका, निबाहा। भोग-विलास के पीछे अधर्म नहीं किया; लेकिन जब देश, काल, प्रथा और अपने बन्धुओं का लोभ तुम्हें कुमार्ग की ओर ले जा रहे हैं, तो तुम्हारा क्या दोष? तुम्हारी आत्मा अब भी पवित्र है। तुम ईश्वर के सामने अब भी निरपराध हो।"

....तो प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि समाज जो इस प्रकार भ्रष्ट है, इसीलिए ईमानदार रह सकना संभव नहीं है। देश, काल, प्रथा कुमार्ग की ओर ले जानवाले हैं।

धर्म और जमींदारी-प्रथा पर इतना तिलमिला देनेवाला व्यंग इसके पहले किसी की लेखनी से प्रसूत नहीं हुआ था। जो चित्र प्रेमचन्द ने यहाँ दिया है, वह धर्म और जमींदारी का मिला-जुला रूप है, मानो नीम पर चढ़े करेले की तरह हो—

---

१. सेवा सदन पृष्ठ ४.

२. वही.

"महन्त रामदास एक गद्दी के महन्त थे। उनके यहाँ सारा कारोबार, श्री बाँकेबिहारी जी के नाम पर होता था। श्री बाँकेबिहारी जी लेनदेन भी करते थे और ३२ रुपये से कम सूद न लेते थे।"—इस सूचना के बाद प्रेमचन्द एक घटना का उल्लेख करते हैं। "तीर्थयात्रा के बाद महन्त ने यज्ञ किया। यज्ञ के खर्च के लिए हर हल पीछे पाँच रुपये चन्दा उगाहा गया। श्री बाँकेबिहारी जी की आज्ञा को कौन टाल सकता था। यदि ठाकुर जी को हार माननी पड़ी, तो केवल एक अहीर से, जिसका नाम चैतू था। वह बड़ा दरिद्र आदमी था। कई साल से उसकी फसल खराब हो रही थी। थोड़े दिन हुए श्री बाँकेबिहारी ने उस पर इज़ाफा लगान की नालिश करके उसे ऋण के बोझ से और भी दबा दिया था। उसने यह चन्दा देने से इन्कार किया, यहाँ तक कि रुक्का भी न लिखा। ठाकुर जी भला ऐसे द्रोही को कैसे सहते। एक दिन कई महात्मा चैतू को पकड़ लाये। ठाकुरद्वारे के सामने उस पर मार पड़ने लगी..........उसी रात ठाकुरजी ने उसके प्राण हर लिए।"

इस घटना के संबंध में डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है—

"प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' ही में "प्रेमाश्रम" की सूचना दे दी थी। उनकी निगाह में वह किसान चढ़ चुके थे, जो शोषण और अत्याचार का विरोध करने के लिए कमर कस रहे थे। 'सेवा सदन' का चैतू 'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर का पूर्वज है।"[१] यथार्थतः यह छोटी-सी घटना समस्त प्रेमचन्द साहित्य के लिए बीज रूप है। यही बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी के रूप में विकसित होता हुआ 'गोदान' के होरी की मृत्यु के रूप में समाप्त होता है। क्या एक और संकेत यह 'सेवा सदन' नहीं देता ?—समाज की बहुत-सी बुराइयाँ किसान और जमींदार-समस्या के असंतुलन के कारण हैं। किसान को जमींदार चूसना चाहता है और जमींदार को शोषण में मदद पुलिस पहुँचाती है और किसानों के खून से मोटे और पुलिस की मदद के कारण निर्भय जमींदार-वर्ग के लोग सामाजिक अनैतिकता के स्तंभ बन जाते हैं।

जमींदार की बेरहमी से चैतू मरा और पुलिस ने रिश्वत लेकर कातिल जमींदार को अभय प्रदान कर दिया। यह दूसरी बात है कि रिश्वतखोर नौसिखिया था, इसलिए कानून की चपेट में आ गया—समाज में चोरी करना पाप नहीं है, चोरी करके पकड़ जाना पाप है। सो नौसिखिए कृष्णचन्द्र रिश्वत लेकर पकड़ गये, उन्हें जेल हो गई और इस तरह हरा-भरा घर बरबाद हो गया। प्रेमचन्द की टिप्पणी है, "जिस प्रकार बिरले ही दुराचारियों को अपने कुकर्मों का दण्ड मिलता है, उसी प्रकार सज्जन का दण्ड पाना अनिवार्य है।"[२]

इसके आगे कथा का दूसरा मोड़ आधिकारिक अंश चलता है।

ठीक दहेज न दे सकने के कारण सुमन एक गरीब अधेड़, दुहाजू से ब्याह दी जाती है।

अपने नये घर में आने के बाद सुमन अनेक संघर्षों और अनुभवों से गुजरती है। प्रेमचन्द पहले ही सुमन की कमजोरी की तरफ इशारा करते हैं। उसने गृहिणी बनने की नहीं,

---

१. प्रे० यु० पृ३ ३८.

२. सेवा सदन पृ३ ११.

इन्द्रियों के आनन्द-भोग की शिक्षा पाई थी।[१] उसने अपने घर में यही सीखा था कि मनुष्य को जीवन में सुख-भोग करना चाहिए, उसने कभी वह धर्म-चर्चा न सुनी थी, वह धर्म-शिक्षा न पाई थी जो मन में सन्तोष का बीजारोपण करती है।[२] इतना ही नहीं, प्रेमचन्द आगे एक और बात कहते हैं—वे (मुहल्ले की महिलाएँ) अपने पतियों को इन्द्रिय-सुख का यंत्र समझती थीं। पति चाहे जैसा हो, अपनी स्त्री को सुन्दर आभूषणों से, उत्तम वस्त्रों से सजावे, उसे स्वादिष्ट पदार्थ खिलावे। यदि उसमें यह सामर्थ्य नहीं है, तो वह निखट्टू है, अपाहिज है। उसे विवाह करने का कोई अधिकार नहीं था, वह आदर और प्रेम के योग्य नहीं है।[३] मानों प्रेमचन्द नारी की अशिक्षा, गिरी-दबी हालत और उन परिस्थितियों की ओर संकेत करते हैं जिनमें नारी अपने पति को इन्द्रिय-सुख के यन्त्र से अधिक नहीं समझ सकती। घर में नारी की यह स्थिति है, बाहर सुमन नारी की नहीं, वासना की, दौलत की पूजा देखती है। भोली वेश्या के माध्यम से प्रेमचन्द धीरे-धीरे सुमन के हृदय में समाज का यथार्थ खाका अंकित कर देते हैं।

वेश्या के प्रति सुमन प्रारंभ में यह धारणा लेकर चली थी—"मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ। किसी भलेमानुष के घर में मेरी रोक तो नहीं। कोई मुझे नीच तो नहीं समझता। वह कितना ही भोगविलास करे, पर उसका आदर तो नहीं होता। बस अपने कोठे पर बैठी अपनी निर्लज्जता और अधर्म का फल भोगा करे।"[४] लेकिन सुमन को शीघ्र ही मालूम हुआ कि इसे (वेश्या को) जितनी नीच समझती हूँ, उससे वह कहीं ऊँची है।[५] भोली के यहाँ मौलूद होता है, जिसमें शहर से अच्छे से अच्छे लोग, यहाँ तक कि मौलाना साहिब भी आते हैं। सुमन के पति जिस सेठ के यहाँ काम करते हैं, वे भी आते हैं। सुमन शंका करती है—मैं समझती थी कि वेश्याओं को लोग बड़ी घृणा से देखते हैं। गजाधर समाधान करते हैं—हाँ, ऐसे लोग भी हैं गिने-गिनाये। अंग्रेजी शिक्षा ने लोगों को उदार बना दिया है। वेश्याओं का अब उतना तिरस्कार नहीं किया जाता। फिर भोली बाई का शहर में बड़ा मान है।[६] लेकिन जब सुमन भोली से मिलने भर जाती है, तो गजाधर कहते हैं—तुम उस मौलूद के दिन जमाव देखकर धोखे में आ गई होगी, पर यह समझ लो कि उनमें से एक भी सज्जन-पुरुष नहीं था। मेरे सेठ जी लाख धनी हों, पर उन्हें मैं अपनी चौखट न लाँघने दूंगा। यह लोग धन के घमण्ड में धर्म की परवाह नहीं करते।[७] लेकिन शीघ्र ही सुमन को अनुभव होता है कि भोली के सामने केवल धन ही सिर नहीं झुकाता, धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है, धर्मात्मा लोग भी उसका आदर करते हैं। वही वेश्या जिसे मैं अपने धर्म-पाखण्ड से परास्त करना चाहती हूँ—यहाँ महात्माओं की सभा में

---

१. सेवा सदन पृष्ठ १८.
२. वही पृष्ठ २०.
३. वही पृष्ठ २१.
४. वही पृष्ठ २२.
५. वही पृष्ठ २२.
६. वही पृ० २४.
७. वही पृ० २६.

ठाकुर जी के पवित्र निवास-स्थान में आदर और सम्मान का पात्र बनी हुई है और मेरे लिए कहीं खड़े होने की जगह नहीं। गजाधर फिर समाधान करते हैं––तो तुमने उन लोगों के बड़े-बड़े तिलक छापे देखकर ही इन्हें धर्मात्मा समझ लिया। आज कल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक से एक मगरमच्छ पड़े हुए हैं। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना ही उनका काम है। लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी-लम्बी जटाएँ देखकर लोग धोखे में आ जाते हैं। पर वह सब के सब महापाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करनेवाले, धर्म के नाम पर टका कमानेवाले, भोगविलास करनेवाले पापी हैं। भोली का आदर सम्मान यहाँ न होगा, तो किसके यहाँ होगा ?[१] सामाजिक स्थानों में सुमन का अपमान कर दिया जाता है, वेश्याओं की इज्ज़त होती है[२], और इन सबकी क्लाईमेक्स वह है, जिसमें नगर से सबसे सम्भ्रान्त नागरिक के यहाँ भोली का नाच-गाना होता है। इसी क्लाइमेक्स पर लाकर प्रेमचन्द, सुमन और गजाधर के बीच लड़ाई के कारण सुमन को घर से बाहर कर देते हैं।

सुमन शर्माजी से कहती है––

(F) "आदर में वह सन्तोष है, जो धन और भोगविलास में नहीं है। मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि यह आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला। लेकिन आपके होली वाले जलसे के दिन जो उत्तर मिला, उसने भ्रम दूर कर दिया, मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा दिया......आपको मैं बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी, इसलिए आपकी रसिकता का मुझ पर और भी प्रभाव पड़ा। भोली बाई आपके सामने गर्व से बैठी थी, आप उसके सामने आदर और भक्त की मूर्ति बने हुए थे। आपके मित्रवृन्द उसके इशारों पर कठपुतली की भाँति नाचते थे। एक सरलहृदया आदर की अभिलाषिणी स्त्री पर इस दृश्य का जो फल हो सकता था, वही मुझ पर भी हुआ।"

यहाँ से सुमन की ट्रेजेडी शुरू होती है। वह वकील साहब के यहाँ आश्रय चाहती है और वे समाज के भय से नहीं दे पाते। आखिरकार यह भोली के यहाँ पनाह पाती है। सुमन वेश्या हो जाती है।

भोली भी तो परस्थितियों की मारी वेश्या बनती है। उसकी शादी बूढ़े से कर दी गई थी। वह उसे कभी न चाह सकी और घर से निकलकर वेश्या बन गई।

सुमन वेश्या क्यों बनी ?––इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ऊपर की सामाजिक परिस्थितियों में खोजा जा सकता है। सुमन का पति इस दोष को अपने सिर लेता है, वह कहता है––

"इसका कारण मेरा अन्याय था। यह सब मेरी निर्दयता और अमानुषीय-व्यवहार का फल है।"[१] वकील पद्मसिंह कहते हैं, 'यह हमारी ही कुवासनाएँ हैं, हमारे ही सामाजिक

---

१. सेवा सदन पृ३ २९.

२. सेवा सदन अध्याय ९.

३. सेवा सदन पृष्ठ २२८.

अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं, जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात स्वरुप है।....... हमारे समाज के दुराचार अग्नि के समान हैं और यह अभागिनी रमणियाँ तृण के समान।"[१] कुँवर अनिरुद्धसिंह शायद इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं--

"हमें वेश्याओं को पतित समझने का कोई अधिकार नहीं है, यह हमारी परम धृष्टता है। हम रात-दिन जो रिश्वत लेते हैं, सूद खाते हैं, दीनों का रक्त चूसते हैं, असहायों का गला काटते हैं--कदापि इस योग्य नहीं हैं कि समाज के किसी अंग को नीच या तुच्छ समझें। सबसे नीच हम हैं, सबसे बड़े पापी, दुराचारी, अन्यायी हम हैं जो अपने को शिक्षित, सभ्य, उदार और सच्चा समझते हैं, हमारे शिक्षित भाइयों की बदौलत दालमण्डी आबाद है। चौक में चहल-पहल है, चकलों की रौनक है। यह मीनाबाजार हम लोगों ने ही सजाया है। ये चिड़ियाँ हम लोगों ने ही फँसाई हैं। ये कठपुतलियाँ हमने बनाई हैं। जिस समाज में अत्याचारी जमींदार, रिश्वती राज्य-कर्मचारी, अन्यायी महाजन, स्वार्थी बन्धु आदर और सम्मान के पात्र हों, वहाँ दालमण्डी क्यों न आबाद हो? हराम का धन हरामकारी के सिवा और कहाँ जा सकता है? जिस दिन नजराना, रिश्वत और सूद का अन्त होगा, उसी दिन दालमण्डी उजड़ जायगी, ये चिड़ियाँ उड़ जायँगी--पहले नहीं।"[२]

तो समाज में फैली हुई वेश्या प्रथा की जिम्मेदारी अनमेल विवाह, जिसके लिए बड़ी हद तक दहेजप्रथा उत्तरदायी है, अशिक्षित नारी और नारी के प्रति पुरुष के अनुदार दृष्टिकोण पर तो है ही, लेकिन इन सबके लिए वह समाज-व्यवस्था अवश्य जिम्मेदार है, जिसमें नजराना, रिश्वत, सूद-दर-सूद का चलन है।

प्रेमचन्द के इस उपन्यास ने लोगों का ध्यान इसलिए नहीं आकर्षित किया होगा कि इसमें अच्छी कहानी है, चरित्र-चित्रण की खूबियाँ हैं, लेकिन इसलिए कि इसमें एक ह्यूमेनिस्ट कलाकार समाज को एकदम निर्ममता के भाव से यों उघार कर रख देता है कि हम तिलमिला जाते हैं। यह तिलमिलाहट है, जिसने हमें प्रेमचन्द की ओर आकृष्ट किया होगा।

प्रेमचन्द 'सेवा सदन' में समाज के कलष को उघार देने का संकल्प लेकर चले हैं। अगर उनका यह संकल्प न होता, तो वे विस्तार से उन महानुभावों का चरित्र-चित्रण ही न करते, जो समाज के नेता माने जाते हैं और उनके माध्यम से समाज के प्रतिक्रियात्मक विभिन्न तत्वों को और प्रथाओं को विस्तार से न लिखते। साहित्य के आलोचन के बने बनाये चौखटों में साहित्य की कृतियों को फिट करके, उनकी नाप-तौल करनेवाले आलोचकों ने, इस बात पर आक्षेप किया है कि प्रेमचन्द मूल कथा के साथ बहुत-सा अनावश्यक जोड़ देते हैं, जिससे कथा का केन्द्रीय आनन्द शिथिल पड़ जाता है। क्या उनसे यह कहना आवश्यक है कि प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा है वह इसी "अनावश्यक" की प्रेरणा से, और इस उद्देश्य से कि लोग जान लें कि यह अनावश्यक ही हमारे ध्यान और गम्भीर विचार का अधिकारी है। इसीलिए उन्होंने वेश्या-जीवन पर लिखते हुए ऐसे प्रसंग में सुनने के अभ्यस्त हमारे कानों को, उनके

---

१. सेवा सदन पृष्ठ २१३.

२. सेवा सदन पृष्ठ २६६.

चुलबुलाते हुए गाने नहीं सुनवाये हैं। ऐसे तीन ही प्रसंग हैं जिसमें सुमन को हम दालमण्डी में बैठे देखते हैं। पहली बार विट्ठलदास से बात करते हुए वह समाज के उस पाखण्ड और कमजोरी की याद दिलाती है, जिसमें सम्भ्रान्त से सम्भ्रान्त नागरिक वेश्या की कृपा दृष्टि पर हर्ष से मतवाला हो जाता है।[1] लेकिन यहीं वह एक प्रतिज्ञा कर लेती है कि अपने सत्य की रक्षा करूँगी। गाऊँगी, नाचूँगी पर अपने को भ्रष्ट न होने दूँगी।[2] और वह क्रोध में समाज के नेता विट्ठलदास से कहती है, "तो जब आपकी हिन्दू जाति इतनी हृदय-शून्य है, तो मैं उसकी मर्यादा पालने के लिए क्यों कष्ट भोगूँ, क्यों जान दूँ। जब आप मुझे अपनाने के लिए जाति को प्रेरित नहीं कर सकते, जब जाति आप ही लज्जाहीन है तो मेरा क्या दोष है।"[3] दूसरी बार हम उसे पथभ्रान्त सदन के साथ उद्दामता नहीं, स्नेहमयता से व्यवहार करते देखते हैं। यह स्नेहमयता ऐसी है, जिसमें उसकी कामातुरता अनुराग के अधीन होकर सहृदयता में परिवर्तित हो गई थी। तीसरी बार वह हमें अपने प्रेमियों से विदा लेते मिलती है। इस मनोरंजक दृश्य की सार्थकता है। सुमन यहाँ समाज के नेताओं की उजली चादर के दाग आपको दिखाना चाहती है। ये मुंशी अबुल वफा हैं, जो मेरी (सुमन की) आत्मा को, मेरे धर्म को, हृदय को रोज जलाते हैं। ये सेठ चिमनलाल हैं और ये पण्डित दीनानाथ हैं। ये और ऐसे ही लोग जो दिन के उजाले में समाज पर शासन करते हैं, रात के परदे में इस तरह मुँह काला करते फिरते हैं।[4] तो सुमन हमें नाचती गाती नखरे करती अस्मतफरोश के रूप में नहीं मिलती। वह समाज की कालिमा को हमें दिखाकर उसके प्रति हमारी विरक्ति जाग्रत करते मिलती है।

प्रेमचन्द 'सेवा सदन' की कथा कहते समय समाज पर अपनी गहरी आलोचक-दृष्टि डालते चले हैं, इसके प्रमाण पुस्तक में जगह-जगह बिखरे पड़े हैं। अंग्रेजी शासन में शासक और शासित के बीच के भेद को 'वरदान' में भी हम देख चुके हैं। यहाँ उसका संकेत देखिए—

"शान्ता ने देखा कि उसके देशवासी सिर पर बड़े-बड़े गट्ठर लादे एक सँकरे द्वार पर खड़े हैं और बाहर निकलने के लिए एक दूसरे पर गिर पड़ते हैं। एक दूसरे तंग दरवाज़े पर हज़ारों आदमी खड़े अन्दर जाने के लिए धक्कमधक्का कर रहे हैं। लेकिन दूसरी ओर एक चौड़े दरवाजे से अंग्रेज लोग छड़ी घुमाते, कुत्तों को लिए आते-जाते हैं। कोई उन्हें नहीं रोकता, कोई उनसे नहीं बोलता।"[5]

इसी तरह कुँवर अनिरुद्धसिंह एक और स्थान पर अपने विचारों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। अंग्रेजी कोलिग्वा फ़्रेंका बनाने जाने के संबंध में वे कहते हैं—

उसे आप लोगों ने तो यह गौरव प्रदान कर रखा है। फ़ारस और काबुल के मूर्ख सिपाहियों और हिन्दू व्यापारियों के समागम से उर्दू जैसी भाषा का प्रादुर्भाव हो गया। अगर

---

१. सेवा सदन पृष्ठ ८८.
२. वही पृष्ठ ८९.
३. वही पृष्ठ ९१.
४. वही पृष्ठ १२८ से १३५.
५. वही पृष्ठ २६१.

हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के विद्वज्जन परस्पर अपनी ही भाषा में सम्भाषण करते तो अब तक कभी एक सार्वदेशिक भाषा बन गई होती। जब तक आप जैसे विद्वान लोग अंग्रेजी के भक्त बने रहेंगे, कभी एक सार्वदेशिक भाषा का जन्म न होगा..........मुझे समझ में नहीं आता कि अंग्रेजी भाषा बोलने और लिखने में लोग क्यों अपना गौरव समझते हैं। मैंने भी अंग्रेजी पढ़ी है........पर मुझे उससे ऐसी घृणा होती है, जैसे किसी अंग्रेज के उतारे कपड़े पहिनने से।[१]

यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि भाषा और राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर प्रेमचन्द प्रारम्भ से ही सोच रहे थे। 'वरदान' (सन् १९०१) में वे बताते हैं कि उनकी नायिका "भाषा" सीख रही है। सन् १९१६ में 'सेवा सदन' में वे अंग्रेजी की गुलामी के विरुद्ध अपना मत व्यक्त करके राष्ट्र-भाषा का स्वरूप स्थिर करने के संबंध में अपना मत प्रकट करते हैं।

इसी तरह अंग्रेजों की कुप्रेरणा से साम्प्रदायिकता के उदय और विकास का चित्र देते हुए प्रेमचन्द इससे होनेवाली राष्ट्रीय हानि को व्यक्त करते हैं। म्युनिसिपल कमेटी में वेश्याओं का प्रस्ताव पेश है। कमेटी के हिन्दू और मुसलमान सदस्य अलग-अलग एकत्र होकर इस प्रश्न पर अपने मत प्रकट करते हैं। मुसलमानी-साम्प्रदायिकता का खाका देखिए। तेगअली कह रहे हैं—

"आजकल पोलिटिकल मफ़ाद का जोर है। हक और इन्साफ का नाम न लीजिए तहसीलदार हैं, तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइए, मजिस्ट्रेट हैं, तो हिन्दुओं को सजाएँ दीजिए। सबइंस्पेक्टर पुलिस हैं, तो हिन्दुओं पर झूठे मुकदमे दायर कीजिए, तहकीकात करने जाइये, तो हिन्दुओं के गलत बयान लिखिये। अगर आप चोर हैं तो किसी हिन्दू के घर में डाका डालिए। अगर आपको हुस्न या इश्क का खफ्त है तो किसी हिन्दू-नाज़नीन को उड़ाइए, तब आप कौम के खादिम, कौम के मुहसिन, कौमी किश्ती से नाखुदा-सब कुछ हैं।[२]"

और सेठ चिमनलाल का ख्याल है कि—

"मुझे पालिटिक्स से कोई वास्ता नहीं है, और न मैं इसके निकट जाता हूँ, लेकिन मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि हमारे मुसलिम भाइयों ने हमारी गर्दन बुरी तरह पकड़ी है। चावलमंडी और चौक के अधिकांश मकान हिन्दुओं के हैं। यदि बोर्ड ने यह स्वीकार कर लिया तो हिन्दुओं का मटियामेट हो जायगा। छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानों से सीख ले।"[३]

यह वह समय था जब लखनऊ का हिन्दू-मुसलिम पैक्ट अभी नहीं हुआ था।

यह थोड़े विस्तार से दिखाने का उद्देश्य है। इन या ऐसे प्रसंगों के बारे में अक्सर शिकायत हुई है कि ये मूल कथा के ऋजु-प्रवाह में बाधक होते हैं। लेकिन यदि प्रेमचन्द को ठीक-ठीक समझा जाय, तो यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि प्रेमचन्द महज़ कथा कहने का

---

१. सेवा-सदन पृष्ठ २४९.

२. पृष्ठ १७१.

३. पृष्ठ १७५.

संकल्प लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित नहीं हुए हैं। वे समाज की कथा कहना चाहते हैं। इसीलिए यदि खूब गहराई से देखें तो कहीं-कहीं ऐसा भी लगेगा कि समाज के दो पक्ष आमने-सामने नायक और खलनायक बनकर खड़े हैं। 'प्रेमाश्रम' में यह बहुत स्पष्ट दीख पड़ेगा।

यथार्थतः 'सेवा सदन' की जो मूल कथा है, उसमें कुछ भी नवीन नहीं है। उपन्यास-कला के कोई गम्भीर और आकर्षक प्रयोग इसमें नहीं मिलेंगे। ऐसी कथाएँ उस समय भी थोड़े हेर-फेर से प्रचलित थीं। इसमें इन प्रचलित कथाओं से जो कुछ भिन्न हैं, वह यही गम्भीर विश्लेषणात्मक समाजापेक्षी दृष्टि।

सुमन के वेश्या जीवन में से भी प्रेमचन्द ने ऐसे दृश्य सामने रखे हैं, जो वैयक्तिक नहीं, सामाजिक हैं। यहाँ तक कि सुमन-सदन रोमांस में भी शरीर कहीं सामने नहीं आया है।

सुमन-सदन रोमांस के द्वारा प्रेमचन्द ने एक अमीर घराने के पतित होते हुए तरुण को उठने की क्षमता प्रदान कर, समाज का नेता बनने का अवसर दिया है और सुमन की ट्रेजेडी के द्वारा समाज के सामने एक चुनौती फेंककर उसकी आँखें खोलने की चेष्टा की है। सुमन की जीवनी-शक्ति नारी की आन्तरिक क्षमता की प्रतीक है। जिस नारी को युगों-युगों से पुरुष ने अपने भोजन कक्ष में रुँधने के लिए और शयन-कक्ष में विलास के लिए बाँध रखा था, वह नारी 'सेवासदन' में बेदार हो जाती है। वह समाज में न तो घर के भीतर पुरुष की निकृष्टा सेविका बनकर रहेगी, न घर के बाहर विलासिनी। सुमन के चरित्र को इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिए।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने जिन समस्याओं को छुआ है, वे ये हैं--

(१) विवाह समस्या, जिसमें मूल प्रश्न दहेज का है, दूसरा कुल मर्यादा का। कृष्णचन्द्र के जेल जाने के बाद उनके साले सुमन के लिए वर ढूँढ़ने निकलते हैं। सुमन के योग्य वर देहात में नहीं मिल सकता। पर शहरवालों की लम्बी-चौड़ी बातें सुनीं तो उनके होश उड़ गये। बड़े आदमियों का तो कहना ही क्या, दफ्तरों के मुसद्दी और क्लर्क भी हजारों का राग अलापते थे। लोग उनकी (साले साहब की) सूरत देखकर भड़क जाते। दो-चार सज्जन उनकी कुल-मर्यादा का हाल सुनकर विवाह करने को उत्सुक हुए पर कहीं तो कुण्डली न मिली और कहीं उमानाथ का मन ही न भरा। वह अपनी कुल-मर्यादा से नीचे न उतरना चाहते थे।[१]

शान्ता और सदन का परिणय क्या इस बात का संकेत नहीं है कि विवाह की सफलता नारी की निष्ठा और पुरुष के प्रेम से ज्यादा सम्बन्ध रखती है। समाज का बेसोचे-समझे स्वार्थ या अहंवश हस्तक्षेप, समझदार तरुण और तरुणी अपने धर्म निर्वाह द्वारा व्यर्थ कर सकते हैं और विवाह को सौदेबाजी या अहं-संतोष के क्षेत्र से निकालकर प्रेम और कर्त्तव्य के द्वारा सफल और सशक्त बना सकते हैं।

इसी मूल पर खड़ा हुआ दूसरा विष वृक्ष वेश्या समस्या है, जो उपन्यास का प्रतिपाद्य माना जा सकता है। इस समस्या पर प्रेमचन्द ने विस्तार से प्रकाश डाला है। वेश्याएँ क्यों

---

१. सेवा सदन पृष्ठ १६

बनती हैं, वेश्या समाज कैसे फूलता-फलता है और सुमन जैसी कोई इस समाज के अत्याचार से पीड़ित नारी किस प्रकार नारी के आन्तरिक गौरव की रक्षा करती हुई उस गौरव को समाज में सार्थक करती है।

छोटे-मोटे समाजिक सुधार—जैसे शादी के अवसर पर वेश्या न नचाना, आदि भी प्रेमचन्द की नजर से छूटे नहीं हैं।

अब तक 'सेवा सदन' के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें वेश्या-समस्या, विवाह-समस्या और सामान्यतः नारी जागरण का स्वर मिलता है, मानों यह उपन्यास पं० पद्मसिह के साथ सभी पुरुषों को अपने दोष की स्वीकृति के लिए विवश करता है, "वह स्त्री जो इतनी (जितनी सुमन उपन्यास के अन्त में हमें मिलती है) साध्वी और सच्चरित्रा हो सकती है, केवल मेरे कुसंस्कारों के कारण कुमार्गगामिनी बनी। मैंने ही उसे कुएँ में गिराया।"[१] मानों 'सेवा सदन' पुरुषमात्र को यह सोचने के लिए मजबूर करती है कि नारी को युगों-युगों तक अंकशायिनी मात्र बनाये रखकर पुरुष ने पाप किया है। नारी जागकर अपने को पुरुष के कुशासन और उसकी कुदृष्टि से बचाकर समाज में अपनी सेवा और प्रेम की शक्तियों को सार्थक कर सकती है। यह 'सेवा सदन' जोरदार शब्दों में कहना चाहता है।

(२) स्थानीय स्वराज्य-संस्था को व्यंगपूर्ण ढंग से प्रेमचन्द ने चित्रित किया है और इसी प्रसंग में हिन्दू-मुसलिम समस्या को भी व्यंग और विनोद की मिली-जुली शैली में सामने रखा है।

(३) समाज के नेताओं की बढ़ी-चढ़ी बातों के द्वारा, जिनमें सिद्धान्त तो सामने आता है, कर्म की प्रेरणा कहीं नहीं या जिनमें बौद्धिकता की मात्रा अधिक है, व्यावहारिकता की कम और जिनमें पूरब की बीमारी के पश्चिमी हल जगह-जगह मिलते हैं। प्रेमचन्द ने अपने जमाने की कुर्सीनशीन-राजनीति का खाका खींचा है और उदार मतानुयायियों की खिल्ली उड़ाई है।

(४) 'सेवा सदन' पढ़ते समय वेश्या समस्या पाठकों का मन इस कदर आकृष्ट कर लेती है कि वे भूल जाते हैं कि प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में ऐसा कुछ और भी समावेशित कर दिया है, जो उनके आगे के उपन्यासों के लिए भूमिका का काम करे। प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है कि चैतू अहीर की मृत्यु, प्रेमचन्द-साहित्य के लिए बीज रूप है। इस उपन्यास के प्रारम्भ में चैतू की मौत की खबर देकर, प्रेमचन्द डर से चुप नहीं हो जाते। वे थाने में उसकी रिपोर्ट करते हैं, लेकिन सरकारी पुलिस के थाने में नहीं, क्योंकि सरकारी पुलिस तो जमींदार से रिश्वत खाकर इस मामले में चुप हो जाती है। तो यह थाना जनता के अन्तःकरण का है। वे इसी से अपनी शिकायत करते हैं और उन्हें विश्वास है कि यह पुलिस, इस शिकायत पर मौन नहीं होगी। तभी तो 'सेवा सदन' की कहानी समाप्त होते-होते हमें जान पड़ता है कि रिपोर्ट की तहकीकात शुरू हो गई है। देखिए—जहाँ पहले सुमन का कोठा था वहाँ संगीत पाठशाला कायम हो गई है। यहाँ के राष्ट्रीय गीत को सुनकर सदन के हृदय में देशोपकार, जाति-सेवा और राष्ट्रीय गौरव की पवित्र भावनाएँ गूंजने

---

१. सेवा सदन पृष्ठ ३४.

लगीं........जगज्जननी की दयामयी मूर्ति उसके हृदय-नेत्रों के सम्मुख खड़ी हो गई.... उसने कल्पना में अपने को दीन कृषकों की सेवा करते हुए देखा। वह जमींदार के कारिन्दे से विनय कर रहा था कि इन दीन जनों पर दया करो। कृषकगण उसके पैरों पर गिरे पड़ते थे, उनकी स्त्रियाँ उसे आशीर्वाद दे रही थीं।[1]

सदन के शुद्ध मन के भीतर किसानों के लिए दुख-दर्द है, वह उनकी सहायता करना चाहता है। लेकिन जैसे ही उसकी उस पवित्र भावना पर इस चेतना का आरोप हो जाता है कि वह खुद भी ज़मींदार है, वह अपनी दृढ़ता के पथ से विचलित होने लगता है।

सदन को मालूम हुआ कि कुँअर अनिरुद्धसिंह यहाँ एक "कृषि सहायक सभा" खोलने वाले हैं। सभा का उद्देश्य होगा, किसानों को ज़मींदारों के अत्याचारों से बचाना। सदन के मन में अभी-अभी कृषकों के प्रति जो सहानुभूति प्रकट हुई थी, वह मंद पड़ गई। वह ज़मींदार था और कृषकों पर दया करना चाहता था, पर उसे मंजूर न था कि कोई उसे दबाए और किसानों को भड़काकर, जमींदारों के विरुद्ध खड़ा कर दे। उसने मन में कहा, यह लोग जमींदारों के स्वत्वों को मिटाना चाहते हैं। द्वेषभाव से प्रेरित होकर इन लोगों ने यह संस्था खोलने का विचार किया है, तो हम लोगों को भी सतर्क हो जाना चाहिए। हमको अपनी रक्षा करना चाहिए।[2]

यह तो कुछ अजीब स्थिति हुई। जमींदार सदन उदार बनना चाहता है। "आजकल विट्ठलदास कृषकों की सहायता के लिए एक कोष स्थापित करने का उद्योग कर रहे हैं, जिससे किसानों को बीज और रुपये नाममात्र सूद पर उधार दिये जा सकें। इस सत्य कार्य में सदन विट्ठलदास का दाहिना हाथ बना हुआ है।"[3] लेकिन वह अपने स्वत्वों का खात्मा नहीं होने देना चाहता।

तो प्रेमचन्द १९१५–१६ में जमींदारों से एक ही बात कह रहे हैं कि "भाइयों, किसान विपन्न है, उसकी हालत सुधारो क्योंकि उसकी सुधरी हुई हालत पर ही तुम्हारी नफे की दूकान चल पायगी। उन्हें बीज उधार दो। नाम मात्र सूद पर रुपये उधार दो। अगर इतना भी तुम कर पाये तो इनकी हालत सुधर जायगी। अगर जमींदार इतना कर पाये, तो ठीक है, नहीं तो.........। इस "नहीं तो" के बाद ही 'प्रेमाश्रम' लिखा गया, जिसमें जमींदारों का वह वर्ग, जो किसानों के प्रति उदार है, समाप्त हो चुका है, या कम से कम आखिरी घड़ियाँ तो जरूर गिन रहा है और नया वर्ग पूँजीवादी प्रभाव में शोषण को योजनाबद्ध वैज्ञानिक ढंग से करना चाहता है।

प्रेमाश्रम

प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति कौन सी है, यह प्रश्न जब उठता है, तो लोग 'गोदान' और 'कायाकल्प' के साथ 'प्रेमाश्रम' का नाम भी लेते हैं। प्रश्न विवादास्पद तो अवश्य है और

---

१. सेवा सदन पृष्ठ ३३१.

२. वही पृष्ठ ३३२ से ३३३.

३. वही पृष्ठ ३४६.

तीनों उपन्यासों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं किन्तु समाहित प्रभाव, चरित्र-चित्रण की कलात्मकता और मनोवैज्ञानिकता एवं कथा-संघटन की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' को ही विद्वत्मण्डली श्रेष्ठ कृति मानती है।

उपन्यास के शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से "प्रेमाश्रम" उलझन में डाल देता है। कथा का उद्देश्य यदि नये समाज की स्थापना माना जाये, तो उस स्थापना का श्रेय क्या मायाशंकर की उदारता को मिलेगा, या उस निरंतर बलिदानी दुस्साहस को, जिसका पाथेय लेकर गाँव का किसान जमींदार के विरुद्ध मोर्चा लेता है। जिसको भी मिले, वही उपन्यास का नायक माना जायगा और खलनायक स्पष्ट ही ज्ञानशंकर का समाज है। ज्ञानशंकर का समाज, यानी वे सारे तत्व जो किसानों के शोषण पर अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। ये नायक और खलनायक तो परम्परा विरुद्ध हुए। अब तक व्यक्ति ही इन रूपों में सामने आता रहा है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने ज्ञानशंकर की कहानी के माध्यम से समाज के दो वर्गों को आमने-सामने नायक और खलनायक के रूप में खड़ा कर दिया है। 'प्रेमाश्रम' इस बात का स्पष्ट सबूत है कि प्रेमचन्द की दृष्टि व्यक्ति पर नहीं, व्यक्ति के माध्यम से समाज पर ठहरती है। जिस प्रकार टालस्टाय के उपन्यासों में व्यक्ति के रोमांस को नहीं, सकल समाज के शौर्य को चित्रित किया गया है, उसी प्रकार यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो प्रेमचन्द के उपन्यास भी समाज के पतन-उत्थान को, यथार्थ आदर्श को व्यक्त करते हैं।

उपन्यास का शास्त्रीय अध्ययन करनेवालों को, जिनमें अवध उपाध्याय और इलाचन्द्र जोशी भी थे, 'प्रेमाश्रम' से इसीलिए निराशा हुई होगी कि इसमें कला का निर्वाह कुछ लीक से हटकर हुआ है। लेकिन प्रेमचन्द इसीलिए महान हैं कि वे लीक से हटकर ही चले हैं। उन्होंने खुद लिखा है—"आज़ाद रौ आदमी हैं, मसलेहतों का गुलाम नहीं।"[1]

'प्रेमाश्रम' ज्ञानशंकर की कहानी है। ज्ञानशंकर भारतीय जमींदार वर्ग का प्रतीक है, उसमें अपने वर्ग का स्वभाव बड़े कलात्मक ढंग से खींचा गया मिलता है, लेकिन उसके व्यक्तित्व के आन्तरिक, पारिवारिक और सामाजिक पक्षों के द्वन्द्वात्मक विकास के द्वारा प्रेमचन्द ने ज्ञानशंकर को वर्ग का प्रतिनिधित्व देते हुए, उससे व्यक्तित्व का अधिकार छीन नहीं लिया है।

'प्रेमाश्रम' इस तरह ज्ञानशंकर के द्वन्द्वात्मक व्यक्तित्व की करुणान्त कथा है, साथ ही उसके वर्ग के चित्रण द्वारा प्रेमचन्द ने एक समस्या उठाई है और उसका हल भी देना चाहा है, जो आज भले ही अनहोना और भ्रान्तिपूर्ण लगे, किन्तु उस युग में, आज से कोई ३५ वर्ष पूर्व, लोगों को उसमें समाज के प्रति बग़ावत के चिह्न दिखे थे।

'प्रेमाश्रम' की महत्ता इसी कारण है कि उसमें व्यक्ति मिलता है और वर्ग भी, एक समस्या है, उसका हल भी, द्वन्द्व मिलता है और उसका शमन भी और सब मिलाकर वह कहानी है ही, ज्ञानशंकर की कहानी। उसमें कहानी का आनन्द अक्षुण्ण विद्यमान है।

---

१. प्रे० अ०—पृष्ठ ९१४.
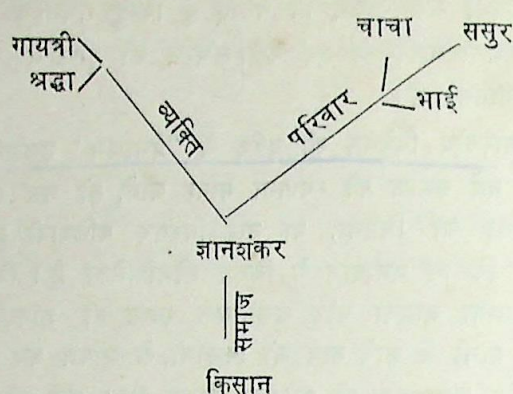
ज्ञानशंकर का व्यक्तित्व तामसिक उपकरणों से निर्मित है। प्रेमशंकर के चरित्र-दर्पण में जब वह अपने को देखता है, तो उसे अपनी तामसिकता का स्वरूप दीख पड़ता है। लिप्सा उसका आधार है, आडम्बर उसका प्रसार, अहंकार उसकी प्रेरक शक्ति। इस व्यक्तित्व के साथ वह अपने वर्ग का प्रतिनिधि भी है। ऊपर कहा है, उसके व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं। आन्तरिक, वासनाजन्य प्रेम, जिसकी तुष्टि का साधन गायत्री है, उसकी बड़ी साली और जिसके "बाई प्राडक्ट" के रूप में वह गायत्री की जमींदारी हथियाने का स्वप्न देखता है। यह है वासना और लिप्सा का एकीकरण। वासना प्रेरक है कि लिप्सा, यह ठीक जान नहीं पड़ता, मानों दोनों समान परिमाण में हों, किन्तु यह स्थिर है कि प्रारम्भ वासना में होता है, अन्त लिप्सा की तुष्टि में।

पारिवारिक क्षेत्र में हम उसे मृत पिता की सदाशयता पर खीझते हुए, चाचा प्रभाशंकर और उनके परिवार के प्रति ईर्ष्या और द्वेष से भरे हुए, भाई प्रेमशंकर के प्रति कुवृत्तिपूर्ण, भाभी को फुसलाकर उनके माध्यम से आर्थिक लाभ के लिए प्रयत्नशील, श्वसुर राय कमलानन्द को जहर तक देने की नीचता करते हुए और बड़ी साली को प्रेम का स्वाँग दिखाकर उनका सब कुछ हर लेने की कुचेष्टा में लगा हुआ पाते हैं।

सामाजिक क्षेत्र में जहाँ वह अपने वर्ग का स्पष्ट प्रतिनिधि बनकर सामने आता है, उसके आगे दृष्टिकोण ही एक है—मेरे विलास के उपकरणों में कमी न आये। उसके सामने समस्या है—मुझे रुपया चाहिए और ये रुपए मुझे किसानों से चाहिए। इस क्षेत्र में किसानों के जिस शोषण का निश्चय ज्ञानशंकर के मन में है, वही अफसरों के मन में भी। सभी स्वार्थी हैं और किसान ऐसा निरुपाय पशु है जिसे जितना मारिये, उतना अनुकूल होगा, अपने को नष्ट करके भयवश अपने मालिकों का पूरा पाड़ेगा।

ज्ञानशंकर के इन तीन चरित्र-पक्षों में से उसके समाज पक्ष की कथा उपन्यास की "आधिकारिक" वस्तु है, शेष दोनों प्रासंगिक हैं। कथा का प्रारम्भ लखनपुर गाँव के चित्रण से होता है, अन्त भी गाँव के कायाकल्प को चित्रित करता है और इस आदि अन्त के बीच कथा घूम-फिरकर लखनपुर में आ जाती है। उपन्यास का अभीष्ट गाँव के वर्तमान को चित्रित करके उसके चमकीले भविष्य की झाँकी दिखाना है। गाँव के इस वर्तमान के लिए

जिम्मेदार ज्ञानशंकर है और गाँव का भविष्य अपनी उज्ज्वलता को मायाशंकर की उदारता से प्राप्त करता है। देखा जाय, तो 'प्रेमाश्रम' में जमींदारों की तीन पीढ़ियाँ मिलती हैं। एक है लाला जटाशंकर की, जो समाप्त हो चुकी है; दूसरी है लाला ज्ञानशंकर की, जिसके कारनामे सारे 'प्रेमाश्रम' में बिखरे पड़े हैं; तीसरी है मायाशंकर की, जो साम्यवाद को स्वेच्छा से स्वीकार करता है। क्या इन तीनों पीढ़ियों के द्वारा भारतीय समाज के तीन युगों का चित्रण नहीं किया गया है? भारतीय समाज में सामन्तवाद, पूंजीवाद और समाजवाद (या साम्यवाद) का ऐतिहासिक सजीव विवेचन 'प्रेमाश्रम' में मिलता है।

"सामन्ती प्रथा में बादशाह अगर अपने हुक्म को कानून समझता था और उसकी अवज्ञा को कदापि सहन न कर सकता था, तो प्रजा पालन भी करता था, न्यायाधीश भी होता था........उसकी विजय का उद्देश्य प्रजा का खून चूसना कदापि न होता था। कारण यह कि राजा और सम्राट् जन-साधारण को अपने स्वार्थ-साधन और धन-शोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे, किन्तु उनके दुःख-सुख में शरीक होते थे और उनके गुण की कद्र करते थे।"[1] यह लाला जटाशंकर की पीढ़ी थी, जब यद्यपि एक न एक बेगार लगी रहती थी किन्तु तब की बातें ही दूसरी थीं। "तब साल दो साल की देन बाकी पड़ जाती थी मुदा मालिक कभी कुड़की-बेदखली नहीं करते थे। जब कोई काम-काज पड़ता था, तब हमको नेवता मिलता था। लड़कियों के व्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी, चारा और २५ रुपया बँधा हुआ था। ....जब वह अपने लड़कों की तरह पालते थे, तो रैयत भी हँसी-खुशी उनकी बेगार करती थी। अब वह बातें तो गईं।"[2] लाला जटाशंकर मर चुके हैं। उनके भाई लाला प्रभाशंकर बाकी रह गये हैं, जिनके हाथों में न सत्ता है, न धन, लेकिन पुरानी आन-बान की पूँजी पर उजड़ी हुई दूकान जमाये रखना चाहते हैं। दूकान का उजड़ना तो लाला जटाशंकर के समय में ही हो गया था, लेकिन तब हाथ में सत्ता भी थी और धन भी। सामंती व्यवस्था के खंडहर की संकेतात्मक तसवीर प्रेमचन्द ने दी है—

"लखनपुर के ज़मींदारों का मकान काशी में औरंगाबाद के निकट था। मकान के दो खण्ड आमने-सामने बन हुए थे। एक ज़नाना मकान था, दूसरी मरदानी बैठक। दोनों खण्डों की बीच की ज़मीन बेल-बूटों से सजी हुई थी। दोनों खण्ड जगह-जगह टूट-फूट गये थे। कहीं कोई कड़ी टूट गई थी, उसे थूनियों के सहारे रोका गया था, कहीं दीवार फट गई थी और कहीं छत धँस पड़ी थी, एक वृद्ध रोगी की तरह, जो लाठी के सहारे चलता हो।"[3]

यह तसवीर एकदम प्रतीकात्मक जान पड़ती है। मानों सामन्ती प्रथा का रोब तो बड़े भाई जटाशंकर के साथ समाप्त हो गया हो और छोटे भाई प्रभाशंकर, उसके उपहास और व्यंग शेष हों जो सब कुछ खत्म होने के बाद भी मर्यादा को बनाये रखना चाहते हैं। ऐसे लोगों की बड़ी मार्मिक तसवीर रवीन्द्रनाथ की कहानी "नयनजोर के बाबू" में मिलती है। प्रभाशंकर 'प्रेमाश्रम' का बड़ा दयनीय पात्र है। अतीत का गौरव समाप्त हो गया है, वर्तमान लांछन

---

१. न० प्र० ६, १०, ५२ पृष्ठ ८ (महाजनी सभ्यता--लेख)
२. प्रेमाश्रम पृष्ठ १५.
३. प्रेमाश्रम पृष्ठ १६.

और तिरस्कार से भरा हुआ है जिसमें धूर्तता और पाखण्ड, स्वार्थ और आत्मसेवा उसे जीने नहीं देना चाहते।

सामंती युग जा चुका है, पूँजीवाद का उदय हो चुका है। रात का आखिरी तारा दिन के प्रकाश में खुद अपना व्यंग मालूम हो रहा है। प्रभाशंकर उस दिन के तारे की तरह दयनीय है। प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर को इन दो व्यवस्थाओं का प्रतनिधित्व सौंपकर प्रेमचन्द इनके अन्तर को स्पष्ट करने चलते हैं। पूँजीवादी ज्ञानशंकर प्रभाशंकर से कहता है--

"आपके और मेरे जीवन सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। आप भावों की आराधना करते हैं, मैं विचार (बुद्धिवाद) का उपासक हूँ। आप निन्दा के भय से प्रत्येक आपत्ति के सामने सिर झुकावेंगे, मैं अपनी विचार स्वतंत्रता के सामने लोकमत की लेशमात्र भी परवाह नहीं करता। जीवन आनन्द से व्यतीत हो, यह हमारा अभीष्ट है। यदि संसार स्वार्थपरता कहकर इसकी हँसी उड़ाये, निन्दा करे, तो मैं उसकी सम्मति को पैरों तले कुचल डालूँगा। आपकी शिष्टता का आधार ही आत्मघात है। आपके घर में चाहे उपवास होता हो, किन्तु कोई मेहमान आ जाये, तो ऋण लेकर उनका सत्कार करेंगे। मैं ऐसे मेहमान को दूर से ही प्रणाम करूँगा......किसी मनुष्य को, चाहे वह हमारा निज-सम्बन्धी ही क्यों न हो, यह अधिकार नहीं है कि वह इस प्रकार मुझे असमंजस में डाले........आपके यहाँ नित्य दो-चार निठल्ले नातेदार पड़े खाट तोड़ा किये, आपकी जायदाद मटियामेट हो गई, पर आपने कभी इशारे से भी उनकी अवहेलना नहीं की। मैं ऐसी घास-पात को कदापि न जमने दूँगा, जिससे जीवन के पौधे का ह्रास हो। लेकिन वह प्रथा अब काल विरुद्ध हो गई। यह जीवन-संग्राम का युग है और यदि हमको संसार में जीवित रहना है, तो हमें विवश होकर नवीन और पुरुषोचित सिद्धान्तों के अनुकूल बनना पड़ेगा।"[१]

ज्ञानशंकर बुद्धिवादी है, उसमें कोरमकोर स्वार्थपरता है। प्रारम्भ में जरूर उसके मन और हृदय में संघर्ष रहता है, बाद में हृदय मन का दास होकर उसके पाखण्ड और स्वार्थों का न केवल अनुगामी बन जाता है, बल्कि समर्थक, प्रेरक और सहायक भी। प्रारम्भ में भावना उसकी सोई आत्मा को जगाकर मन की कुत्सा पर प्रेम का काम करती है। "शिक्षित आत्मा इतनी दुर्बल नहीं हो सकती, इस विशुद्ध वात्सल्य (प्रभाशंकर द्वारा अभिव्यक्त) ध्वनि ने उनकी (ज्ञानशंकर की) सोई आत्मा को एक क्षण के लिए जगा दिया। उसने आँख खोली, देखा कि मन मुझे काँटों में घसीटे लिए चला जाता है। वह अड़ गई, धरती पर पैर जमा दिये और निश्चय कर लिया कि इससे आगे न बढ़ेगी।"[२] लेकिन धीरे-धीरे आत्मा सोती गई, बुद्धिवाद जागता गया और अपने चरित्र विकास की स्थिति में ज्ञानशंकर महज़ स्वार्थ बुद्धि का पर्याय रह गया, मानों उसका ज्ञानशंकर नाम स्वयं प्रतीकात्मक हो और ज्ञानशंकर की ट्रेजेडी के द्वारा प्रेमचन्द इस युग के बुद्धिवाद के विरुद्ध अपना स्थिर मत प्रकट करते हैं।

प्रारंभ में प्रभाशंकर और ज्ञानशंकर के बीच थोड़ा-सा संघर्ष होता है, लेकिन धीरे-धीरे कुछ अपने पाखण्ड से और कुछ जोर से ज्ञानशंकर प्रभाशंकर को दबा लेता है। 'प्रेमा-

---

१. प्रेमाश्रम पृष्ठ ५७-५८.

२. वही पृष्ठ ६०.

श्रम' के अंत में हम प्रभाशंकर को विलाप करते पाते हैं, "वंश का नाश हुआ जाता है, कोई नामलेवा तो रहे, मरने के बाद चुल्लू भर पानी को न रोना पड़े, मेरे बाद दीपक तो न बुझ जाय।"[1] प्रभाशंकर के दोनों बेटे निरुपाय ईर्ष्या और स्वार्थ के शिकार होकर इन्द्रजाल के चक्कर में अपने प्राण खो बैठते हैं। बड़े बेटे का, जो कुलद्रोही, कुपुत्र और व्यभिचारी था, जरूर परिष्कार हो जाता है। स्वयं प्रभाशंकर की हालत बड़ी दयनीय हो जाती है। वे अपनी रसना-लोलुपता के पीछे आत्मसम्मान और लज्जा का तसमा भी छोड़ बैठते हैं। "प्रेमाश्रम" सामंती व्यवस्था के अंत, पूँजीवाद और बुद्धिवाद के दुष्परिणाम और किसानों के दुर्दम साहस के साथ जाग उठने की कहानी है।

'प्रेमाश्रम' की मूल कथा किसान जमींदार संघर्ष की कल्पना लेकर चलती है। इस शब्द "कल्पना" का प्रयोग जान-बूझकर किया गया है।

जैसा कि राजनैतिक विकास दर्शाते हुए बताया गया है कि किसानों का कोई संयोजित आन्दोलन उस समय तो क्या, उसके अनेक वर्षों बाद तक न कभी देश में हुआ था, और न सन् १९२० के आन्दोलन के समय कांग्रेसी नेताओं के दिमाग में ऐसी कोई प्रत्यक्ष योजना थी। सन् १९२८ के बारडोली सत्याग्रह के पहले, किसानों को लेकर आन्दोलन चलाने की बात भारतीय नेताओं के दिमाग में प्रमुख रूप से कभी नहीं आई। डा० मदान बहुत ही स्थानीय किस्म के आंदोलन का जिक्र करते हैं और प्रेमचन्द पर उनके प्रभाव को मानते हैं। रामचन्द ने, कहा जाता है, जमींदारों और पुलिस की मिली-जुली शक्ति का पूरे साल भर तक डटकर मुकाबिला किया। इस आन्दोलन में किसानों ने पूरा-पूरा भाग लिया। प्रेमचन्द ने गाँव में रहकर इस आन्दोलन को अपनी आँखों से देखा था और इसे पूरी तरह सोचा, समझा था। यह १९२१ के पहले की बात है।[2] १९२१-२२ के सत्याग्रह में लगानबंदी की बात करने का विचार बहुत बाद में जरूर सोचा गया था। प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' इसके पहिले लिखा जा चुका था। इसलिए यह मानकर चला जा सकता है कि भारतीय परिस्थितियों में किसान-आंदोलन की कल्पना प्रेमचन्द की अपनी कल्पना है और इसके पीछे पश्चिमी देशों में हुई क्रान्ति ही प्रेरणारूप थी। 'प्रेमाश्रम' का तरुण प्रगतिशील किसान पात्र बहुत साफ-साफ कहता है, "तुम लोग तो मेरी हँसी उड़ाते हो, मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं, वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आया है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों ही का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"[3] और भले ही किसानों की बूढ़ी पीढ़ी धीरज से सहने को जीवन माने, यह बलराज चुनौती के स्वर में कहता है "क्यों न बोलूँ, तुम (गाँव का वृद्ध वर्ग) तो दो-चार दिन के मेहमान हो, जो कुछ पड़ेगी वह तो हमारे ही सिर पड़ेगी। जमींदार कोई बादशाह नहीं हैं कि चाहे जितनी जबरदस्ती करें और हम

---

१. प्रेमाश्रम पृष्ठ ५९२.

२. प्रे० चिक० पृष्ठ. २

३. प्रेमाश्रम पृष्ठ ६९.

मुँह न खोलें। इस ज़माने में तो बादशाहों का भी इतना अख्तियार नहीं, ज़मींदार किस गिनती में हैं।"[१]

'प्रेमाश्रम' के इस किसान आन्दोलन के कारणों और स्वरूप की जानकारी आवश्यक है। गाँव के किसान तालाब पर बैठे हुए अपनी स्थिति का विश्लेषण और उसकी विवेचना करते हैं। वे जानते हैं कि वे अपढ़ हैं, कमज़ोर हैं, उनमें फूट है और दूसरी ओर रिश्वत-खोर, असहृदय अफसर हैं, स्वार्थी, लोभी ज़मींदार हैं। सुक्खू किसान कहता है, 'देखते हो, कैसा उपद्रव कर रहे हैं। रात-दिन जाफ़ा, बेदखली, अखराज की धूम मची है।"[२] अन्याय और दमन जमींदार के अस्त्र हैं। वह बेगार चाहता है, बाजार भाव से सस्ती चीज़ चाहता है और बदले में सहृदयता दिखाने की जरूरत नहीं समझता।

बारूद पर बसे हुए गाँव में पहली चिनगारी तब लगती है, जब बाजार भाव १० छँटाक होने पर भी जमींदार घी सेर भर का लेना चाहता है और दबे हुए किसानों को इसके लिए मजबूर किया जाता है। इस अत्याचार के खिलाफ गाँव की बूढ़ी जमात भी उबल पड़ती है। जमींदार का आदमी कहता है—"जब जमींदार की जमीन जोतते हो तो उसके हुक्म के बाहर नहीं जा सकते।" इस पर मनोहर कहता है—"जमीन कोई खैरात जोतते हैं? उसका लगान देते हैं। एक किस्त भी बाकी पड़ जाये तो नालिश होती है।" फिर गर्म होकर कहता है—"न कारिन्दा कोई काटू है, न जमींदार कोई हौआ है। यहाँ कोई दबैल नहीं हैं। जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें।[३] आवेश में कही गई इन बातों पर सोचने के बाद मनोहर तब इस विचार से अपने को शान्ति देने लगा, "मैं बिगड़ जाऊँगा तो बला से, पर किसी की धौंस तो न सहूँगा। किसी के सामने सिर तो नीचा नहीं करता। जमींदार भी देख ले कि गाँव में सबके सब भाँड़ ही नहीं हैं। अगर कोई मामला खड़ा किया तो अदालत में हाकिम के सामने सारा भण्डा फोड़ दूँगा, जो कुछ होगा, देखा जायगा।"[४] और मनोहर का बेटा बलराज, गाँव की तरुण पीढ़ी का व्यक्ति, दमन के विरुद्ध बलिदानी-दुस्साहस व्यक्त करता है—"सुन लेगा, तो क्या किसी से छिपा के कहते हैं। जिसे बहुत घमण्ड हो आकर देख ले। एक-एक का सिर तोड़ के रख दूँ। यही न होगा, कैद होकर चला जाऊँगा। इससे कौन डरता है। महात्मा गांधी भी तो कैद हो आये हैं।"[५]

इतने से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि किसानों के उद्धार की कल्पना भले ही रूस या बलगीरिया की घटनाओं से प्रेमचन्द ने प्राप्त की हो, उस उद्धार के लिए जिस दुर्दम साहस की आवश्यकता होती है, वह प्रेमचन्द गांधी के तरीके से विकसित करना चाह रहे थे। स्वयं प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है कि क्या हुआ, यदि महात्मा गांधी के दर्शन

---

१. प्रेमाश्रम पृष्ठ ६७.
२. वही पृष्ठ ३.
३. वही पृष्ठ ५-६.
४. वही पृष्ठ ११.
५. वही पृष्ठ १३.

के पहले ही मैं 'प्रेमाश्रम' लिख रहा था, मैंने 'प्रेमाश्रम' के द्वारा उनके गुणों को अपनाना चाहा है। 'प्रेमाश्रम' का और चाहे जो महत्व हो, वह एक स्थिर सत्य लेकर चला है, जो भविष्य-कथन के रूप में मार्क्स ने कोई ७० साल पहले कह दिया था। रजनी पाम दत्त ने उस कथन की व्याख्या करते हुए कहा है—

"इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत को परिस्थिति का मार्क्स ने जो विश्लेषण किया है, उसमें तीन बातें मुख्य हैं। पहली यह कि भारत में ब्रिटिश शासन ने एक ध्वंसात्मक भूमिका अदा की है और पुराने समाज को जड़ से उखाड़ डाला है। दूसरी यह है कि स्वतंत्र-व्यापार वाले पूँजीवाद के युग में भारत में ब्रिटिश शासन की एक पुनर्रचनात्मक भूमिका भी रही है और उसने भविष्य के नये समाज के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कर दी हैं। तीसरे, उन्होंने इन दो बातों से एक अमली नतीजा निकाला कि नया समाज बनाने के लिए एक राजनीतिक परिवर्तन आवश्यक है, जिसके द्वारा भारतीय जनता साम्राज्यवादी शासन से मुक्ति प्राप्त करे।"[1] सन् १९२०-२२ के मुक्ति आन्दोलन की परिस्थितियों में लिखा गया "प्रेमाश्रम" मानों इस बात की याद दिलाता है कि इस आन्दोलन का भी एक और लक्ष्य है; मानों वह साधन है, सिद्धि तो उस नये समाज की रचना है जिसका आदर्शवादी हल 'प्रेमाश्रम' के अंत में मिलता है और जिस तक पहुँचने के लिए अंग्रेजी शासन से नहीं, अपनी भीतरी कमजोरियों से, अपने समाज के वर्तमान जड़-ढाँचे से लड़ना पड़ेगा। इस दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' की प्रारंभिक पंक्तियाँ बड़ी सार्थक जान पड़ती हैं जिसमें वर्तमान समाज के ढाँचे की आलोचना स्वयं किसान करते हैं।

'प्रेमाश्रम' में किसानों की दयनीय हालत मनोहर की मनोदशा के इस चित्रण में मिलती है—"वह ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहता है। वह जानता था कि सबलों से बैर बढ़ाने में मेरा ही सर्वनाश होगा, किन्तु इस समय उसकी अवस्था उस मनुष्य की-सी हो रही थी, जिसके झोपड़े में आग लगी हो और वह उसके बुझाने में असमर्थ होकर शेष भागों में भी आग लगा दे कि किसी प्रकार इस विपत्ति का अंत हो। रोगी अपने रोग को असाध्य देखता है तो पथ्यापथ्य की बेड़ियों को तोड़कर मृत्यु की ओर दौड़ता है।[2] भारतीय किसान की हालत ऐसी ही थी। क़ादिर इस सबको दैवी मानकर सहना चाहता है। एक जगह वह जमींदार के बचाव में आबपाशी के लिए कुओं की कमी का अपराध अपने ऊपर लेकर कहता है—

हमारे जमींदार तो, हुजूर, हम लोगों की बड़ी परवस्ती करते हैं, अल्लाह उन्हें सलामत रखे। हम लोग आप ही आलस के मारे कोई फिकर नहीं करते हैं।[3] मनोहर बेचैन हो उठता है और बलराज उबल पड़ता है। वह रंगी से कहता है, "क्या जाने क्यों रंगी, जब से दुनिया का (रूस और बलगेरिया का) थोड़ा बहुत हाल जानने लगा हूँ, मुझसे अन्याय नहीं देखा जाता। जब किसी जबरे को किसी गरीब का गला दबाते देखता हूँ,

---

१. भा० सं० ले० (भूमिका) पृ० २१.

२. पृ० ६५.

३. प्रेमाश्रम पृ० ९१.

तो मेरे बदन में आग-सी लग जाती है। यही जी चाहता है कि चाहे अपनी जान रहे या जाय, इस जबरे का सिर नीचा कर दूं। सिर पर एक भूत-सा सवार हो जाता है। जानता हूं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, पर मन काबू से बाहर हो जाता है।"[१]

शोषकों में एक ओर जमींदार हैं, दूसरी ओर अफ़सर हैं, जिनका बड़ा कलात्मक चित्रण प्रेमचन्द ने किया है—

"जिस भाँति सूर्यास्त के पीछे एक विशेष प्रकार के जीवधारी जो न पशु हैं, न पक्षी—जीविका की खोज में निकल पड़ते हैं, अपनी लम्बी श्रेणियों से आकाश-मण्डल को आच्छादित कर लेते हैं, उसी भाँति कार्तिक का प्रारंभ होते ही एक अन्य प्रकार के जन्तु देहात में निकल पड़ते हैं और अपने खेमों तथा छोलदारियों से समस्त ग्राम-मण्डल को उज्ज्वल कर देते हैं। वर्षा के आदि में राजसिक कीट और पतंगों का उद्भव होता है, उसके अंत में तामसिक कीट और पतंग का। उनका उत्थान होते ही देहातों में भूकम्प-सा आ जाता है और लोग भय से प्राण छिपाने लगते हैं।"[२] अफसरों पर इससे मार्मिक व्यंग नहीं हो सकता। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द आगे कहते हैं, "किन्तु जिस प्रकार प्रकाश की रश्मियाँ पानी में वक्रगामी हो जाती हैं, उसी भाँति सदिच्छाएँ भी बहुधा मानवी दुर्बलताओं के सम्पर्क से विषम हो जाया करती हैं। सत्य और न्याय पैरों के नीचे आ जाता है। लोभ और स्वार्थ की विजय हो जाती है।"[३] दौरे पर निकले इन तामसिक कीटों के कारनामे अध्याय ८ और पृष्ठ २९३ से २९७ तक विस्तार से वर्णित हैं। बीमार बूढ़ी माँ को अस्पताल ले जाते हुए बटोही की कथा इस वर्णन की बड़ी मार्मिक व्याख्या है।[४]

जमींदारों के तीन रूप हमें 'प्रेमाश्रम' में मिलते हैं। एक हैं ज्ञानशंकर, जो शिकार को हिंसक पशु की तरह करना चाहता है। दूसरे हैं, राय कमलानन्द और तीसरे प्रकार के जमींदार का रूप गायत्री में मिलता है।

राय कमलानन्द समझदार किस्म के जमींदार हैं, यानी यदि व्यवहार नें नहीं, तो कम-से-कम विचार में वे किसानों के बड़े समर्थक हैं। व्यवहार में उनकी अति का प्रमाण उनकी बेटियाँ देती हैं। विद्या कहती है, "उस साल जब अकाल पड़ा और प्लेग भी फैला, तब हम लोग इलाके पर गये। तुम गोरखपुर थीं। इन दिनों बाबूजी की निर्दयता देखकर मेरे रोयें खड़े हो जाते थे। असामियों से रुपये वसूल न होते और हमारे यहाँ नित्य नाचरंग होता रहता था। बाबूजी को उड़ाने के लिए रुपये न मिलते तो वे चिढ़-कर असामियों पर गुस्सा उतारते। सौ-सौ मनुष्यों को एक पंक्ति में खड़ा करके हंटर से मारने लगते। बेचारे तड़प-तड़प कर रह जाते। पर उन्हें तनिक भी दया न आती थी..." बड़ी बहिन जो अब खुद जमींदार है, पिता के इस निर्दय आचरण का समर्थन करती है— "तुम बाबूजी पर अन्याय करती हो। उनका कोई कुसूर नहीं, निर्दयता अच्छी बात नहीं,

१. प्रेमाश्रम पृष्ठ ८४.
२. वही पृष्ठ ७०.
३. वही पृष्ठ ७१.
४. वही पृष्ठ ७४.

किन्तु जब इसके बिना काम ही न चले तो क्या किया जाय। तुम्हारे जीजा कैसे सज्जन थे, द्वार पर से किसी भिक्षुक को निराश न लौटने देते।...लेकिन उन्हें भी असामियों पर सख्ती करनी पड़ती थी। मैंने स्वयं उन्हें असामियों की मुश्कें कस के पिटवाते देखा है। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे और अब मुझे भी वही करना पड़ता है। उस समय मैं समझती थी कि यह व्यर्थ इतना जुल्म करते हैं। उन्हें समझाया करती थी, पर जब अपने माथे पड़ गई तो अनुभव हुआ कि यह नीच बिना मार खाये रुपये नहीं देते।"[१]

व्यवहार भले ही दमनातंक पूर्ण हो, विचार जरूर राय साहब के प्रगतिशील हैं। यह प्रगति का रास्ता गांधीजी का रास्ता है। राय साहब व्यापारिक संस्थाओं को देशोद्धार की कुंजी नहीं समझते। वे कहते हैं, "आपकी (सेठों की) यह कम्पनी धनवानों को और धनवान बनायेगी, जनता को इससे बहुत लाभ पहुँचने की संभावना नहीं। निस्सन्देह आप कई हजार कुलियों को काम में लगा देंगे, पर यह मजूर अधिकांश किसान ही होंगे और मैं किसानों को कुली बनाने का कट्टर विरोधी हूँ। मैं नहीं चाहता कि वह लोभ के वश अपने बाल-बच्चों को छोड़कर छावनियों में जाकर रहें और अपना आचरण भ्रष्ट करें। अपने गाँव में उनकी एक विशेष स्थिति होती है। उनमें आत्मप्रतिष्ठा का भाव जाग्रत रहता है। बिरादरी का भय उन्हें कुमार्ग से बचाता है। कम्पनी की शरण में जाकर वे अपने घर के स्वामी नहीं, दूसरे के गुलाम हो जाते हैं......"[२] ये राय साहब औद्योगीकरण के पक्षपाती नहीं हैं। वे किसानों की दुरवस्था से परिचित हैं। कहते हैं, "मैं मानता हूँ कि जमींदार के हाथों किसानों की बड़ी दुर्दशा होती है। मैं स्वयं इस विषय में सर्वथा निर्दोष नहीं हूँ। बेगार लेता हूँ। डाँड़, बांध भी लेता हूँ। बेदखली या एज़ाफ़ा का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता, असामियों पर अपना रोब जमाने के लिए अधिकारियों की खुशामद भी करता हूँ। साम, दाम, दण्ड, भेद सभी से काम लेता हूँ।"[३] इसका कारण वे किसानों की मूर्खता और नैतिक अज्ञान मानते हैं। किसानों की आर्थिक उन्नति के लिए वे चाहते हैं कि घरेलू शिल्प का प्रचार किया जाय और उनका ख्याल है कि पूँजीवाले लोग घरेलू शिल्प की समस्या पर विचार करते हुए डरते हैं। वे जानते हैं कि "घरेलू शिल्प हमारे प्रभुत्व का अन्त कर देगा, इसलिए वह इसका विरोध करते रहते हैं।"[४]

राय साहब अपने वर्ग के राष्ट्रीय महत्त्व के बारे में खूब अधिक समझते हैं। वे कहते हैं, "हम काठ के पुतले हैं, तमाशे दिखाने के लिए खड़े किये गये हैं। इसलिए हमें डोरी के इशारे पर नाचना चाहिए। यह हमारी खामखयाली है कि हम अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि समझते हैं। जाति हम जैसों को, जिनका अस्तित्व ही उसके रक्त पर अवलम्बित है, कभी अपना प्रतिनिधि न बनायेगी। जिस दिन जाति में अपना हानि-लाभ समझने की शक्ति होगी, हम और आप खेतों में कुदाल चलाते नज़र आयेंगे।"[५]

---

१. पृष्ठ ११८-११९.

२. पृष्ठ १२५.

३. पृष्ठ. १२७.

४. पृष्ठ १२८.

५. पृष्ठ ४१७.

उच्च शिक्षा के बारे में राजा साहब कहते हैं, "इस उच्च शिक्षा ने हममें सिवा विलास-लालसा और सम्मान प्रेम (झूठा सम्मान प्रेम) स्वार्थसिद्धि और अहम्मन्यता के और कौन-सा सुधार कर दिया......जाति सेवा के लिए दो हज़ार मासिक, मोटर, बिजली के पंखे, फिटन, नौकर या चाकर की क्या जरूरत है। आप सूखी रोटी खाकर जाति की सेवा इससे कहीं उत्तम रीति से कर सकते हैं। आप कहेंगे, वाह, हमने परिश्रम से विद्योपार्जन किया है इस-लिए। तो जब अपने कायिक सुख भोग के लिए इतना अध्यवसाय किया है, तब जाति पर इसका क्या एहसान।"[1] अधम स्वार्थी ज्ञानशंकर से वे कहते हैं, "यह तुम्हारा दोष नहीं, तुम्हारी धर्मविहीन शिक्षा का दोष है। तुम्हें आदि से ही भौतिक शिक्षा मिली, हृदय के भाव दब गये। तुम्हारे गुरुजन स्वयं स्वार्थ के पुतले थे। उन्होंने कभी सरल सन्तोषमय जीवन का आदर्श तुम्हारे सामने नहीं रखा......तुम्हारे आत्मिक विकास की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया... तुम जो कुछ हो, अपनी शिक्षा-प्रणाली के बनाये हुए हो।"[2]

जमींदारी प्रथा का विशद विवेचन करते हुए वे कहते हैं, "इसे रियासत कहना भूल है, यह निरी दलाली है। इस भूमि पर मेरा क्या अधिकार है। मैंने इसे बाहुबल से नहीं लिया....राजविद्रोह के समय पिताजी ने तन-मन से अंग्रेजों की सहायता की। शान्ति स्थापित होने पर हमें (वही पुराना) अधिकार मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गये हैं। इसी दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से अपने हाथ रँगते हैं। इसी दीन-हत्या को हम रोब कहते हैं। इसी कारिन्दगीरी पर हम फूले नहीं समाते......तुम कहोगे, यह सब कोरी बकवाद है। रियासत इतनी बुरी चीज़ है तो उसे छोड़ क्यों नहीं देते। हाँ, यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया। हम अब किसी काम के नहीं रहे।"[3]

नये जमाने की व्यवस्था (पूँजीवादी) के बारे में वे कहते हैं, "यह सारी विडम्बना इसी जायदाद का फल है......संसार में जिधर देखो, ईर्ष्या और द्वेष, आघात और प्रत्याघात का का साम्राज्य है। भाई-भाई का बैरी, बाप बेटे का बैरी, पुरुष स्त्री का बैरी, इस जायदाद के लिए, इसी धन के लिए, जिसके हाथों इतना अनर्थ हुआ, हो रहा है और होगा। उसके देखते कहीं अच्छा था कि अधिकार की प्रथा ही मिटा दी जाती। यही वह खेत है, जहाँ छल और कपट के पौधे लहराते हैं, जिसके कारण संसार रणक्षेत्र बना हुआ है। इसने मानव-जाति को पशुओं से भी नीचे गिरा दिया है।"[4]

राय साहब के कथनों के विस्तृत उद्धरण देने का प्रयोजन है। रायसाहब खुद जमींदारी प्रथा के प्रतिनिधि हैं। वे जो भी हों, उनकी ईमानदारी पर शुबहा नहीं किया जा सकता। 'प्रेमाश्रम' में उनकी हालत उस अपराधी जैसी है, जो अपराधियों के बीच सदा रहा है, लेकिन जिसमें अपना अपराध इकबाल करने का नैतिक बल मिलता है। उसकी कही बात अनुभव की

---

१. पृष्ठ ४१८.
२. पृष्ठ ४३५.
३. पृष्ठ ४३८.
४. पृष्ठ ४३८.

बात है, यह मानकर चला जा सकता है। इसलिए उसके कथन को युग का सही विश्लेषण माना जा सकता है, जिसके साथ स्वयं प्रेमचन्द की सहमति है।

गायत्री जमींदारी प्रथा के संस्कारों से मुक्त नहीं है। गायत्री के चित्रण में जमींदारी विलास की झाँकी मिलती है, जहाँ धर्म को आडम्बर के उद्देश्य से पाखण्ड की प्रेरणा पर बरता जाता है। राधाकृष्ण के अभिनय के पीछे और क्या है?

जमींदारी के तीन रूप हमारे सामने हैं। पहला गायत्री, जो चली आती हुई परम्परा की प्रतीक है। रायसाहब में अपनी दयनीय स्थिति की वास्तविकता की चेतना है और ज्ञानशंकर में जमींदारी को पूँजीवादी ढंग से करने का आग्रह।

इसके विपरीत प्रगतिशील पात्रों के रूप में प्रेमशंकर हैं और मायाशंकर भी, जो प्रेमशंकर और उनके समाज की शिक्षा-दीक्षा में बढ़ता है।

इन प्रगतिशील चरित्रों के संबंध में जानने के पहले एक महत्वपूर्ण विषय पर जो संकेत प्रेमचन्द ने दिये हैं, उन्हें देख लें। "वरदान" से ही प्रेमचंद पुलिस संस्था को समाज के कलंक के रूप में व्यक्त करते आये हैं। यहाँ उसके हथकंडों पर ज़रा खुला आक्षेप है। एक स्थान पर लिखा है "एक मनचले पत्र ने लिखा, यह घटना इस बात का उज्ज्वल प्रमाण है कि हिन्दुस्तान की पुलिस प्रथा रक्षण के लिए नहीं वरन् भक्षण के लिए स्थापित की गई है। अगर खोज की जाय, तो पूर्णतः सिद्ध हो जायगा कि यहाँ की ८७ प्रतिशत दुर्घटनाओं का उत्तरदायित्व पुलिस के सिर है।[१] अदालत में गाँव के बिसेसर साह का बयान पुलिस के हथकंडों और कूटनीति का विशद और शिक्षाप्रद निरूपण था।"[२]

ज्ञानशंकर-समाज के कुछ लोग पहले समाज के विरुद्ध आचरण करते हैं, प्रेमचन्द उनके चरित्र-परिष्कार के द्वारा मानव मन के सत् पक्ष में अपना विश्वास प्रकट करते हैं।

यह चरित्र परिष्कार प्रेमशंकर की सत्प्रेरणा से होता है। प्रेमशंकर 'प्रेमाश्रम' के आदर्श पात्र हैं। वे अमेरिका से कृषि-शास्त्र का अध्ययन करके लौटे हैं। अमेरिका के बारे में राय साहब से प्रेमचन्द ने कहलवाया है कि वहाँ की जलवायु बंधु प्रेम की पोषक नहीं है। व्यक्तिगत स्वार्थ वहाँ के जीवन का मूल तत्व है।[३] प्रेमशंकर ने वहाँ धन और प्रभुत्व की क्रूर लीलाएँ देखीं।[४]

लेकिन प्रेमशंकर वहाँ से सरलता और सेवा का आदर्श बनकर लौटते हैं। स्वराज्य आन्दोलन में हिस्सा लेने की वजह से वे पुलिस की आँखों में चढ़ गये थे, इसलिए अमेरिका चले गये। वहाँ से लौटने पर उनकी धारणा थी कि "अच्छा हुआ, स्वराज्यान्दोलन शिथिल पड़ गया। अब लोग बातें करने की जगह काम करेंगे, हमें बातें करते एक युग बीत गया। मुझे भी शब्दों पर विश्वास नहीं रहा। हमें अब संगठन की, परस्पर प्रेम-व्यवहार की और

---

१. पृष्ठ ५६५.

२. पृष्ठ ५६४

३. पृष्ठ १५९.

४. पृष्ठ १६६.

सामाजिक अन्याय को मिटाने की जरूरत है। हमारी आर्थिक दशा भी खराब हो रही है। मेरा विचार कृषि विधान में संशोधन करने का है।[1]

प्रेमशंकर को ज्ञानशंकर की धूर्तता और पत्नी श्रद्धा की अंधपरम्परासक्ति से अपने काम में बाधा पड़ी। समाज के अगुआ भी ऐसे कामों में सरकार के मुखापेक्षी थे और प्रेमशंकर को किसी ने उत्साहित नहीं किया। लेकिन वे जिस उद्देश्य को लेकर चले, उसके प्रति उनकी निष्ठा और साधना अमन्द रही।

उन्होंने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया और उनके बीच सेवा-सहायता का कार्यक्रम लेकर जुट गये। गांव में बाढ़ आई, दिन रात एक करके उन्होंने काम किया और सहकारिता के आधार पर गाँव की पुनर्व्यवस्था का श्रीगणेश किया। जमींदारी के अपने हिस्से को छोड़ते हुए वे ज्ञानशंकर से कहते हैं, "मैं अपने श्रम की रोटी खाना चाहता हूँ। बीच का दलाल बनना नहीं चाहता।"[2] और उनके इस निर्णय को सुनकर ज्ञानशंकर को लगा कि यह साम्यवादी आदर्श को व्यावहारिक रूप देकर भाई साहब ने समाज संगठन का महान् आदर्श रखा है।[3] अपने साम्यवादी आदर्श को प्रेमशंकर स्पष्ट करते हुए ज्वालासिंह से कहते हैं, "भूमि उसकी है, जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती ही नहीं हो सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।

ज्वाला—"महाशय इन विचारों से तो आप देश में क्रान्ति मचा देंगे। आपके सिद्धान्त के अनुसार हमारे बड़े-बड़े जमींदारों, ताल्लुकेदारों और रईसों का समाज में कोई स्थान नहीं है, सब के सब डाकू हैं।"

प्रेमशंकर—"इसमें इनका कोई दोष नहीं, प्रथा का दोष है। इस प्रथा के कारण देश की कितनी आत्मिक और नैतिक अवनति हो रही है, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे समाज का वह भाग जो बल-बुद्धि-विद्या में सर्वोपरि है, जो हृदय और मस्तिष्क के गुणों से अलंकृत है, केवल इसी प्रथा के वश आलस्य, विलास और अविचार में जकड़ा हुआ है।"[4]

प्रेमशंकर किसानों की दुरवस्था पर विचार करते थे। लेकिन प्रेमशंकर समस्या पर उस रास्ते नहीं पहुंचते थे, जिस रास्ते से उस समय के विचारक पहुँचा करते थे। प्रेमशंकर समस्या में और गहरे उतरते हैं। प्रेमशंकर की यह गंभीर दृष्टि शोषण की परिस्थितियों को किसानों की दुरवस्था का कारण मानती है। प्रेमशंकर सोचते हैं—उनकी (किसानों की) दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है, जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है और यह परिस्थितियाँ क्या हैं। आपस की फूट, स्वार्थपरता और एक ऐसी संस्था का विकास, जो उनके पाँव की बेड़ी बनी हुई है। लेकिन ज़रा और विचार

---

१. पृष्ठ १६६.
२. पृष्ठ २१४.
३. पृष्ठ २१५.
४. पृष्ठ २३०-२३१.

कीजिए तो तीनों टहनियाँ एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी और यह वही संस्था है, जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है।"[1] यह संस्था वर्तमान शासन है जिसने शोषण की संस्था का विकास करके देश में अपनी जड़ें जमा दी हैं। इन्हीं के परिणाम-स्वरूप आपस की फूट और स्वार्थपरता जैसे दुर्गुण आ गये हैं। अमेरिका के कृषि विशारद प्रेमशंकर कहते हैं, "मैं कृषकों को शायद ही कोई ऐसी बात बता सकता हूँ, जिसका उन्हें ज्ञान न हो। परिश्रमी तो इनसे अधिक कोई संसार में न होगा। मितव्ययिता में, आत्म-संयम में, गृह-प्रबंध में वे निपुण हैं।"[2] तो कृषकों की समस्या का हल दो बाधाएँ रोके हुए हैं—शासक और शोषक। प्रेमशंकर आगे कहते हैं, "यह शासन इन (परस्पर प्रेम और विश्वास) सद्भावों को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता।"[3]

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द इस समस्या का हल देते समय उस पर विचार करते हैं। वे जानते हैं कि "परस्पर विरोध का सबसे दुःखजनक फल क्या है, भूमि का क्रमशः अत्यन्त अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि। प्रेमशंकर इस शासन के सुधार को तो मानव शक्ति से परे समझते थे, लेकिन भूमि के बँटवारे को रोकना उन्हें साध्य जान पड़ता था।"[4] 'प्रेमाश्रम' जिस जमाने में लिखा गया था, उस जमाने में गांधीजी द्वारा प्रारंभ किये गये क्रमागत अहिंसक असहयोग की बातें चल रही थीं और इस साधन से अनाचार की समाप्ति और स्वराज्य की स्थापना का स्वप्न देखा जा रहा था। प्रेमचन्द का मुख्य पात्र तत्कालीन शासन को सुधारने की क्षमता अपने में न पाकर सीधे ही किसानों के बीच संगठन और सुधार का काम करना चाहता है।

गौस खाँ की मौत जागे हुए किसानों की उत्तेजना के फलस्वरूप है। यह एक व्यक्तिगत घटना नहीं है। ज्ञानशंकर भी जानते हैं कि यह प्रश्न "जमींदारों और किसानों का है।"[5] किसानों की उत्तेजना को शान्त करने के लिए दमन का अवलम्ब लिया जाता है और जान पड़ने लगता है कि सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गया।[6] १९२०–२२ के सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति नहीं थी, यह घटनाओं से मालूम पड़ता है। इस दमन की रामबाण औषधि का प्रयोग ज्ञानशंकर पुलिस और शासन दोनों से मिलकर करता है। प्रेमशंकर के प्रयत्नों से समाज के लोगों का हृदय परिवर्तन होता है। ज्वालासिंह, इर्फ़ानअली, प्रियनाथ और ईजादहुसैन सभी अपनी स्वार्थान्धता पर शर्मिन्दा होते हैं और समाज-सेवक बनकर काम करने के लिए प्रवृत्त हो जाते हैं। समाज के अनाथ किसानों को नाथ मिलते हैं और इन सदाशय लोगों के संरक्षण में ज्ञानशंकर के आगे की पीढ़ी विकसित होती है। मायाशंकर

---

१. पृष्ठ ३१०.
२. वही
३. पृष्ठ ३११.
४. पृष्ठ ३११.
५. पृष्ठ ३५६
६. पृष्ठ ३७५

इस पीढ़ी के जमींदारों का प्रतीक है जो नए वातावरण में किसानों के शोषक नहीं पोषक बन जाते हैं।

प्रेमशंकर ने शासन तंत्र के दो विभाग--न्याय और पुलिस की आलोचना की है और कहा है--"सच्चे न्याय की आशा तो तभी हो सकती है, जब वकीलों को अदालत स्वयं नियुक्त करे। अदालत भी राजनैतिक भावों और अन्य दुस्संस्कारों से मुक्त हो। मेरे विचार म गवर्नमेन्ट की पुलिस में सुयोग्य और सच्चरित्र आदमी छाँट-छाँटकर रखने चाहिए। अभी तक इस विभाग में सच्चरित्रता पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया। वही लोग भरती किये जाते हैं, जो जनता को दबा सकें, उन पर रोब जमा सकें, न्याय का विचार नहीं किया जाता है।"[१]......पुलिस के संबंध में कहा है--"किसी विषय का सत्यासत्य निर्णय करने के लिए आवश्यक है कि साक्षियों पर निष्पक्ष भाव से विचार किया जाय और उनके आधार पर कोई धारणा स्थिर की जाय, लेकिन पुलिस के अधिकारी वर्ग ठीक उल्टे चलते हैं। वे पहले एक धारणा स्थिर कर लेते हैं और तब उसको सिद्ध करने के लिए साक्षियों और प्रमाणों की तलाश करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में वे कार्य से कारण की ओर चलते हैं और अपनी मनोनीत धारणा में कोई संशोधन करने के बदले प्रमाणों को ही तोड़-मरोड़ कर अपनी कल्पनाओं के साँचे में ढाल देते हैं। यह उल्टी चाल क्यों चली जाती है, इसका अनुमान करना कठिन है, पर प्रस्तुत अभियोग में कठिन नहीं। एक समूह जितना भार सँभाल सकता है, उतना एक व्यक्ति के लिए असाध्य है।"[२] क्या यह खुला हुआ आक्षेप नहीं है।

प्रेमशंकर के प्रयत्नों से एक नये समाज की रचना हो चुकी थी। "वह विद्वज्जनों की एक छोटी सी संगत थी, विद्वानों के पक्षपात और अहंकार से मुक्त। वास्तव में वह सारल्य, संतोष और सुविचार की तपोभूमि थी। यहाँ न ईर्षा का संताप था, न लोभ का उन्माद, न तृष्णा का प्रकोप। यहाँ धन की पूजा न होती थी और न दीनता पैरों तले कुचली जाती थी। यहाँ न एक गद्दी लगाकर बैठता था और न दूसरा अपराधियों की भाँति उसके सामने हाथ बाँधकर खड़ा होता था। वहाँ स्वामी की घुड़कियाँ न थीं न सेवक की दीन ठकुरसोहातियाँ। यहाँ सब एक दूसरे के सेवक, एक दूसरे के मित्र और हितैषी थे।"[३] श्रम का महत्व था। सभी अपना काम अपने हाथ से करते थे। हस्तोद्योगों का प्रचलन था।

इस समाज को ज्ञानशंकर साम्यवाद का प्रयोग मानते हैं।[४] लेकिन प्रेमशंकर कहते हैं, "यहाँ साम्यवाद की तो कभी चर्चा नहीं हुई।"[५] इसी वातावरण में ज्ञानशंकर का पुत्र पढ़ता-लिखता है। वह केवल किताबों से नहीं सीखता, बल्कि दौरे कर करके अनुभव से भी प्राप्त करता है।

---

१. पृष्ठ ५८१
२. पृष्ठ ५८२
३. पृष्ठ ६१४
४. पृष्ठ ६१५
५. पृष्ठ ६१६

"प्रेमाश्रम-समाज में लोग जीवन का आदर्श उपस्थित करते हैं। इसी बीच स्थानीय राजसभा के चुनावों में इस समाज के सभी व्यक्ति सफल होते हैं। लेकिन जहाँ राजसभा के अन्य व्यक्ति राजसभा में जाकर सो गये, वहाँ प्रेमाश्रम-समाज के लोगों में वह शिथिलता न थी। वहाँ लोग पहले से ही सेवाधर्म के अनुगामी थे, अब उन्हें अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने का सुअवसर मिला।"[1]

प्रेमचन्द मानों कहना चाहते हैं कि राजसभा में जाने वाले प्रतिनिधि ऐसे लोग हों, जैसे प्रेमाश्रम समाज के हैं।

मायाशंकर प्रेमाश्रम समाज में रहकर साम्यवाद का सरल पाठ पढ़ लेता है।[2] फलस्वरूप जब उसे अपने इलाके के शासनाधिकार मिलते हैं, तो वह उस अवसर पर बड़ा क्रान्तिकारी काम करता है। वह अपने भाषण में कहता है—

"ताल्लुकेदार इसलिए नहीं है कि प्रजा के पसीने की कमाई को विलास और विषय-भोग में उड़ाये, उनके टूटे-फूटे झोपड़ों के सामने अपना ऊँचा महल खड़ा करे, उनकी नम्रता को अपने रत्नजटित वस्त्रों से अपमानित करे। उनकी संतोषमय सरलता को अपने पार्थिव वैभव से लज्जित करे, अपनी स्वादलिप्सा से उनकी क्षुधा पीड़ा का उपहास करे। अपने स्वत्वों पर जान देता हो, पर अपने कर्तव्य से अनभिज्ञ हो...अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है, तो इस प्रथा को वर्तमान समाज का कलंक समझना चाहिए.....मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ, जो प्रथा, नियम और समाज-व्यवस्था ने मुझे सौंप दिये हैं।"[3]

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' के अंत में उपसंहार के अंतर्गत उस नये समाज का चित्र उपस्थित किया है, जो मायाशंकर के स्वेच्छा से अधिकार परित्याग के पश्चात् स्वरूप धारण करता है।

'प्रेमाश्रम' किसानों के संघर्ष की कहानी है, सेवक और समर्थ नेताओं के प्रयत्नों की कहानी है और जमींदारों के किसानों के साथ न्याय करने की कहानी है। इसमें जहाँ तक यथार्थ का चित्रण है, उसके सत्य से क्या किसी को इन्कार होगा। लेकिन आदर्श के संबंध में कहा जा सकता है कि यह भावुकता और स्वप्न की प्रेरणावश दिया गया है।

इस संबंध में स्पष्टीकरण दिया जा सकता है कि प्रेमचन्द-साहित्य उस दुकूलिनी के समान है जिसके इस ओर यथार्थ है, उस ओर आदर्श। इस छोर पर खड़े प्रेमचन्द उस छोर का स्वप्न सजाते हैं और समाज को उस तक पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं।

---

१. पृष्ठ ६२९

२. पृष्ठ ६३२

३. पृष्ठ ६३८

प्रतिज्ञा और निर्मला

'प्रतिज्ञा' (१९०६) और 'निर्मला' (१९२३) दोनों में यह समानता है कि दोनों शुद्ध सामाजिक उपन्यास हैं। जिस प्रकार प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों में राजनैतिक समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में आ ही गई हैं, यहाँ तक कि 'सेवा-सदन' और 'ग़बन' में भी प्रासंगिक तौर पर राजनैतिक प्रश्न कम, ज्यादा रूप में विद्यमान है, उस प्रकार इन उपन्यासों को इनसे एकदम अलग रखा गया है। प्रेमचन्द की प्रारंभिक कृतियाँ सामाजिक समस्याओं को लेकर चली हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों को सामाजिक और राजनैतिक वर्गों में विभाजित करनेवालों ने वरदान, सेवासदन, प्रतिज्ञा, निर्मला और ग़बन को सामाजिक उपन्यास माना है। ये सभी उपन्यास नारी-समस्या को लेकर लिखे गये हैं। इनमें से "वरदान" की कहानी रोमांस की पृष्ठभूमि पर समाज-सेवा के आदर्श को व्यक्त करती है और गबन में नारी की आभूषण-प्रियता की कमजोरी की पृष्ठभूमि पर मध्यवर्ग के सामाजिक और राजनैतिक मन का चित्रांकन किया गया है। शेष उपन्यास विवाह-समस्या के भिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। 'वरदान' में इस विवाह समस्या को ज़रा सा छुआ गया। यहाँ वित्त के आधार पर सामाजिक वैषम्य को लेकर प्रेम और विवाह-समस्या की दुखान्तता वर्णित की गई है। "वरदान" में गरीब और अमीर वरों के बीच चुनाव करते वक्त गरीब विधवा के बेटे पर डिप्टी के लड़के को तरजीह दी जाती है, यद्यपि विधवा के बेटे के साथ लड़की का प्रेम "लरिकाई का प्रेम" है। 'सेवा सदन' की समस्या अमीर लड़की को दहेज देने की असमर्थता के कारण गरीब के घर ब्याह देने की दुखान्तता का करुण चित्रण है। किन्तु इन दोनों प्रसंगों में क्या अपने इस केन्द्र को छोड़कर दूसरे लक्ष्य की ओर बढ़ जाती है। 'वरदान' का महत्व इसलिए है कि इसमें पहली बार नारी के अंतर्मन में सहृदयतापूर्वक झाँकने की कोशिश मिलती है। साथ ही 'वरदान' में प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष को समाज में प्रतिफलित दिखाया गया है। 'सेवा सदन' में कहानी विवाह के प्रश्न को उठाकर समाज के एक बहुत बड़े कलंक को उघारकर दिखाने में लग जाती है।

'वरदान' में विरजन और प्रताप का विवाह इसलिए नहीं हो पाता कि एक गरीब बेटा है और दूसरी अमीर बेटी। इस विवाह की संपूर्ण दुखांतता कमलाप्रसाद की मौत में और आदर्शवादिता विरजन के चारित्रिक भव्यीकरण में है। 'सेवा सदन' में दुखान्तता अमीर बेटी और गरीब बेटे को लेकर है। यहाँ भी नायक की मौत और नायिका का उदारतापूर्ण भव्यीकरण मिलता है। 'सेवा सदन' में विवाह का दूसरा प्रसंग शान्ता-सदन परिणय है, जहाँ दुर्बल मन सदन को शान्ता की अनन्य निष्ठा प्रेरणा देकर कर्तव्य पथ पर ला देती है। 'वरदान' और 'सेवा सदन' में नारी की उदारता उज्ज्वल वर्णों में प्रकट हुई है।

लेकिन 'प्रतिज्ञा' और 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने विवाह के प्रश्न को ही एकमात्र प्रमुखता दी है। भारतीय समाज में विवाह के प्रश्न में सबसे भयंकर अभिशाप दहेज प्रथा का है। इसी प्रथा के कारण सुमन को वेश्या बनना पड़ा। इसी प्रथा के कारण निर्मला की ट्रेजेडी हुई। प्रेमचन्द ने दहेज की प्रथा के विरोध में जहाँ भी अवसर मिला है, कड़े शब्दों में अपने विचार प्रकट किये हैं।

भारतीय विवाह प्रथा की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसे इतना अधिक सामाजिक महत्व दे दिया गया है कि जिसके कारण यह सोचना भी जैसे गुनाह माना जाता है कि इसका कोई व्यक्तिगत पहलू भी हो सकता है। जिनकी शादी होना है, उनके विचारों को जाने बिना उनके बुजुर्गों के द्वारा तै की गई शादियों के कुपरिणाम प्रेमचन्द ने जगह-जगह बताये हैं। जिनकी शादी होना है, उनके विचारों को जाने बिना अक्सर विवाहित व्यक्ति विरोधी विचार रखने के कारण अपने जीवन में सामंजस्य नहीं रख पाते और इसलिए संतुलन खो बैठते हैं। विचारों के अनमेल के कारण पारिवारिक संघर्ष के अच्छे उदाहरण "प्रतिज्ञा" के कमला प्रसाद और सुमित्रा तथा 'कर्मभूमि' के अमरकान्त और सुखदा हैं। विचार वैषम्य तो जीवन की परिस्थितियों के बीच सामंजस्य में बदल सकता है, लेकिन वय के अनमेल के कारण बाल-विवाह और उनके आनुषंगिक वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह के कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों में किसी प्रकार के समझौते की गुंजाइश नहीं रहती। बाल-विवाह कच्ची कलियों के असमय अविकसित रूप में ही फूलों जैसा आचरण करने की अस्वाभाविकता है, वृद्ध-विवाह और विधवा-विवाह में वयों के बीच दीर्घान्तर के कारण उत्पन्न अनेक विकारों को प्रश्रय मिलता है। प्रेमचन्द ने बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह के संबंध में विस्तार से नहीं लिखा है, शायद इसलिए कि ये दोनों इतनी गर्हित और भर्त्सित संस्थाएँ हैं (थीं) कि जिनके संबंध में आम तौर पर जनमत विरोधात्मक है (था)। जनता स्वयं जानती है (थी) कि ये विवाह-संस्थाएँ बुरी हैं। लेकिन विधवा-विवाह एक ऐसी क्रान्तिकारी योजना थी कि जिसके प्रति परम्परा-विकृत जनता का मन कभी अनुकूल नहीं हो सकता था। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि भारतीय समाज को सुधार की ओर ले जाने में प्रयत्नशील आर्य समाज ने विधवाओं की बदतर जिन्दगी को मानवतावादी बौद्धिक दृष्टिकोण से देखकर, उसके प्रति न्याय करने के उद्देश्य से विधवा-विवाह का प्रचार जोर-शोर से किया था। प्रेमचन्द के विधवा-जीवन के अपने देखे हुए अनुभव थे। उनके पिता ने खुद बुढ़ापे में शादी की थी जिसके संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा है कि "यों वह बड़े विचारशील, जीवन पथ पर आँखें खोलकर चलनेवाले आदमी थे, लेकिन आखिरी दिनों में एक ठोकर खा ही गये।" अपने पिता की अविचारशीलता से प्रेमचन्द ने लाभ उठाया। जब उनकी बचपन की शादी जीवन-पोषी न हो सकी, तो उन्होंने अपना दूसरा विवाह एक विधवा से ही किया।

'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' एक ही समस्या को लेकर लिखे गये दो उपन्यास हैं। दोनों में एक ही समस्या है, यह कथन थोड़ी-सी स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। 'निर्मला' की समस्या एक दुहाजू के कुमारी कन्या के साथ दूसरे विवाह के भयंकर दुष्परिणामों को व्यक्त करती है। 'प्रतिज्ञा' में मानों इस समस्या का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द विधवा-विवाह की समस्या को सुलझाना चाहते हैं। प्रतिज्ञा में कथा के दो पक्ष हैं। एक पक्ष विधवा-जीवन की करुणा चित्रित करता है, दूसरा दुहाजू के इस निश्चय को प्रकट करता है कि उसे यदि शादी करना ही है, यदि उसके लिए शादी अनिवार्य आवश्यकता बन गई है, तो उसे यह अधिकार नहीं है कि वह किसी कुमारी की सुकुमार अभिलाषाओं को नष्ट करे। वरन् किसी विधवा ही से विवाह करे। इस प्रकार दोनों उपन्यास मिलकर विधवा-विवाह के प्रश्न पर विभिन्न रुखों से प्रकाश डालते हैं। 'प्रतिज्ञा' की पूर्णा विधवा-जीवन के अभिशापों को

झेलती हुई मिलती है। यदि पति मर जाय तो नारी के लिए सिवा इसके कोई चारा नहीं है कि वह दबी-दबी, वंचिता, निरवलंबिता, असमय मुरझाई कली की भाँति रह जाये। लेकिन निर्मला के मुंशी तोताराम का चरित्र समाज के नारी के प्रति अन्याय करके पुरुष के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार को चरितार्थ करता है। नारी विधवा होकर सहे, लेकिन पुरुष विधुर होकर चाहे तो विवाह रचा ले। यह पक्षपात तो बुरा है ही, लेकिन इस प्रकार के इस सामाजिक प्रसंग का एक व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। यह निर्मला के परिवार की ट्रेजेडी में साफ-साफ झलकता है, इसलिए इस समस्या का सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों रूपों से हल इसी में है कि विधुर किसी विधवा से शादी कर ले। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' एक दूसरे के पूरक नज़र आते हैं। एक यदि समस्या पेश करता है, तो दूसरा उसका हल देता है। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों पर वहाँ यह आरोप लगाया जाता है कि वे समस्याओं का कल्पित, अस्वाभाविक हल देते हैं, वहाँ "प्रतिज्ञा" में यह आरोप गलत साबित होगा। अभी-अभी लोकसभा में बहुमत की यह आवाज उठी है कि विशेष विवाह विधेयक में यह अधिनियम रहना चाहिए कि विधुर विधवा से ही विवाह करे।

ऊपरिलिखित दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यहाँ 'प्रतिज्ञा' और 'निर्मला' पर साथ-साथ विचार किया जा रहा है और यह जानकर भी कि समय-क्रम से निर्मला' 'प्रतिज्ञा' के बाद की कृति है, 'निर्मला' पर पहले और 'प्रतिज्ञा' पर बाद में विचार होगा।

"निर्मला" की कहानी तीन परिवारों की कहानी है। बाबू उदयभान लाल का परिवार, मुंशीजी का परिवार और डाक्टर सिन्हा का परिवार। उदयभान लाल का परिवार पारिवारिक कलह के कारण विशृंखल होता है, यों इसका अपराध कथाकार विधि के हाथों सौंपते-सौंपते दहेज प्रथा के प्रति हमारी कटुता जाग्रत कर देना चाहता है। विवाह में कितना रुपया खर्च हो, इस बात को लेकर पति-पत्नी के बीच विवाद पैदा होता है और बढ़ जाता है। मन में, नहीं मालूम, कब कौन-सी चीज़ गहरे उतरकर "लग" जाती है। उदयभान लाल को भी पत्नी की बात लग गई और वे पत्नी को शिक्षा देने के उद्देश्य से, उस पर अपना प्रभुत्व पुनर्स्थापित करने के उद्देश्य से तय करते हैं कि गंगातट पर अपना कुर्ता घाट किनारे रखकर पाँच दिन के लिए मिर्ज़ापुर चले जायँ। सोचते हैं जब देख लूँगा, घमण्ड धूल में मिल गया है और मिज़ाज ठण्डा हो गया है, तो लौट आऊँगा।

यहाँ प्रसंगवश स्वयं प्रेमचन्द के जीवन की एक घटना स्मरण हो आती है। "एक दिन घर में पत्नी से कहा-सुनी हो गई। बस, प्रेमचन्दजी ने तय कर लिया कि आज मरकर ही दिखाना होगा।

"वे घर से निकल पड़े, दिन भर घूमते रहे कि आज घर नहीं जाना है, आज तो मरना ही है, किसी-न-किसी तरह। लेकिन यों नहीं, पिकेटिंग करनेवाले कांग्रेसी स्वयं-सेवकों के जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। अपनी इस कोशिश में वे शाम तक भटकते रहे पर कहीं भी उनका सिर नहीं टूटा।

"जब बत्तियाँ जलीं, तो तीन घण्टे तक अकेले बाग में मौत का इंतजार करते रहे,

मगर मौत को न आना था, और न आई। लाचार हो, ग्यारह बजे वे आहिस्ता-आहिस्ता घर लौट आए।"[१]

लेकिन उदयभानु को न चाहकर भी इतना निराश नहीं होना पड़ा। संयोग ने उनके जीवन की इतिश्री कर दी और दहेज का दानव खिलखिलाकर हँस पड़ा। उदयभानु की बड़ी बेटी, निर्मला की शादी बाबू भालचन्द सिन्हा के ज्येष्ठ पुत्र भुवनमोहन सिन्हा से पक्की हो गई थी। यद्यपि धनलोलुप सिन्हा बाप-बेटों ने दहेज तय नहीं किया था, लेकिन उन्हें उम्मीद थी कि अति सम्पन्न बाबू साहब से आशा से अधिक ही प्राप्त होगा। बाबू साहब की मौत के बाद सभ्यता के आवरण को फाड़कर यह लोलुपता नंगे रूप में प्रकट हो गई। यद्यपि सिन्हा-गृहणी बाबू साहब की विधवा के प्रति उदारता दिखाना चाहती थी, लेकिन सिन्हा के हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के अलग-अलग थे और लड़के भुवनमोहन ने तो साफ-साफ कह दिया कि "कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए कि खूब रुपया मिले और न सही एक लाख का तो डौल हो।"[२] इसके लिए वह इस बात पर भी तैयार था कि चाहे औरत कैसी मिले क्योंकि "धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे वह गालियाँ भी सुनाए, तो भी चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है।"[३]

विवश होकर पर्याप्त दहेज न दे सकने के कारण निर्मला की विधवा माँ उसकी शादी एक दुहाजू सम्पन्न वकील साहब, मुंशी तोताराम से कर देती है।

निर्मला एक अच्छे घर की पुत्री है, जो विषम परिस्थितियों के बीच अपने से कोई तीन गुनी अधिक वय के दुहाजू से ब्याह दी जाती है, इसे वृद्ध-विवाह ही कह लीजिए। यद्यपि ब्राह्मण ने लड़के की उम्र पैंतीस साल ही बताई थी और स्वयं वे चालीस साल से अधिक के न थे, लेकिन रोगों के शिकार रहते थे। निर्मला मुंशी तोताराम के घर में तीन बच्चों के लिए विमाता, एक अधेड़ के लिए विकसित यौवना, अतृप्त लालसा पत्नी और एक वृद्धा के लिए गृहस्थी के एकछत्र अधिकार को हथियाने वाली नासमझ और असहृदय बहू के रूप में प्रवेश करती है। यह साफ दीख पड़ता है कि उसका जीवन अनेक तूफानी लहरों के बीच डाँवाँडोल है। वह विमाता है, इसलिए हजार ढंग से स्नेहपूर्ण व्यवहारों के बाद भी वह अपनी जाति पर अनन्तकाल से लगा कलंक धो नहीं सकती। इतने पर भी जले पर नमक की भाँति उसके इस अत्यधिक स्नेह प्रदर्शन को पति सन्देह की दृष्टि से देखता है, क्योंकि उनका सबसे बड़ा पुत्र यौवन के द्वार पर पहुँच गया है। वह अपने पत्नी-धर्म के प्रति सच्ची होकर भी पति की सहवासिनी नहीं हो पाती, होते झिझकती है, क्योंकि उसके पति उसके पिता के हम-उम्र लगते हैं। वह गृहस्थी को सुचारु संचालित करने के लिए उत्सुक है, किन्तु एकाएक वृद्धा ननद से गृहस्थी की व्यवस्था का अधिकार छीन भी नहीं सकती।

निर्मला के चरित्र को उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से अंकित किया है। निर्मला की दुखान्तता का आभास पहले ही दृश्य में मिल जाता है, जहाँ वह स्वप्नों में डूबकर अपने

१. न० भा० दी० ५४ : पृष्ठ २११

२. नि० पृष्ठ २८

३ पृष्ठ २७

अंत की साफ तसवीर देखती है। यह स्वप्न-चित्र जैसे रवीन्द्रनाथ की 'सेमारंतरी' की याद दिलाता है।

निर्मला के जीवन से शान्ति उसी क्षण विदा हो जाती है जिस क्षण वह वधू बनकर अपने नये घर में प्रवेश करती है। उसकी इस अस्थिर मनोदशा का चित्र प्रेमचन्द ने बड़ा मार्मिक खींचा है--

"निर्मला जब वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौंदर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वालामुखी सी उठती। मन में आता, इस घर में आग लगा दूं। अपनी माता पर क्रोध आता, पर सबसे अधिक क्रोध बेचारे निरपराध (!) तोताराम पर आता। वह सदैव इस बात से जला करती। बाँका सवार बूढ़े लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा, चाहे उसे पैदल ही क्यों न चलना पड़े। निर्मला की दशा उसी बाँके सवार की-सी थी। वह उस पर सवार होकर उड़ना चाहती थी। उस उल्लासमयी विद्युतगति का आनन्द उठाना चाहती थी। टट्टू के हिनहिनाने और कनौतियाँ खड़ी करने से क्या आशा होती। संभव था कि बच्चों के साथ हँसने-खेलने से वह अपनी दशा को थोड़ी देर के लिए भूल जाती, कुछ मन हरा हो जाता, लेकिन रुक्मणी देवी लड़कों को उसके पास फटकने भी न देतीं, मानों वह कोई पिशाचनी है जो उन्हें निगल जायगी। रुक्मणी देवी का स्वभाव सारे संसार से निराला था। (लेकिन था वही, जो परम्पराग्रस्त सास-ननद का होता है।)..... अगर निर्मला अपने कमरे में बैठी रहती तो कहतीं, न जाने कहाँ की मनहूसिन है। अगर वह कोठे पर चढ़ जाती या महरियों से बातें करती, तो छाती पीटने लगतीं। न लाज है, न शरम, ...जब से वकील साहब ने निर्मला के हाथ में रुपये पैसे देने शुरू किये, रुक्मिणी उसकी आलोचना करने पर आरूढ़ हो गई थीं, उन्हें मालूम होता था कि अब प्रलय होने में बहुत थोड़ी कसर रह गई है।[१]

इस परिस्थिति के बीच और इस मनोदशा को लेकर निर्मला घर में आती है। निर्मला अनाथ बच्चों की करुणा से वह आत्मवेदन अनुभव करती है, जिसके बिना आँख नहीं खुलती, अपना कर्त्तव्य-मार्ग नहीं सूझता।"[२] इस आत्म-वेदनानुभूति, में उसे अपना कर्तव्य-पथ दिखाई पड़ने लगता है। एक ओर जितना ही अधिक संतुलन और संयम लेकर निर्मला अपनी इस परिस्थिति से समझौता करती है, दूसरी ओर तोताराम उतने ही अधिक असंयत और अनियंत्रित ढंग से अपने पुरुषोचित अभाव की कमी को असत्य साबित करने के हास्यास्पद कृत्य साधते हैं। छठा परिच्छेद इस पक्ष को बड़े परिहास के साथ व्यक्त करता है। एक ओर कर्तव्यशीलता की रुक्ष साधना है, दूसरी ओर पके फल का फूल बन जाने का पागलपन।

स्वयं तोताराम अपनी परिस्थिति से अपरिचित नहीं हैं। इसीलिए जितना ही निर्मला अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाती है, उतनी ही वेदना उन्हें होती है। एक दृश्य देखिए—

"दूसरे दिन वकील साहब कचहरी से आये, तो देखा—निर्मला की सहास मूर्ति अपने

१. पृष्ठ ४०

२. पृष्ठ ४४

कमरे के द्वार पर खड़ी है। वह अनिन्द्य छवि देखकर उनकी आँखें तृप्त हो गईं। आज बहुत दिनों के बाद उन्हें यह कमल खिला हुआ दिखलाई दिया। कमरे में एक बड़ा-सा आईना दीवार से लटका हुआ था। उस पर एक परदा पड़ा रहता था। आज उसका परदा उठा हुआ था। वकील साहब ने कमरे में कदम रखा तो शीशे पर निगाह पड़ी। अपनी सूरत साफ-साफ दिखाई दी। उनके हृदय में चोट-सी लग गई। दिनभर के परिश्रम से मुख की कान्ति मलिन हो गई थी। भाँति-भाँति के पौष्टिक पदार्थ खाने पर भी गालों की झुर्रियाँ साफ दिखाई दे रही थीं। तोंद कसी होने पर भी किसी मुँहजोर घोड़े की भाँति बाहर निकली हुई थी। आईने ही के सामने, किन्तु दूसरी ओर ताकती हुई निर्मला भी खड़ी थी। दोनों सूरतों में कितना अन्तर था—एक रत्नजटित विशाल भवन था, दूसरा टूटा-फूटा खण्डहर। वह उस आईने की ओर और न देख सके। अपनी वह दीनावस्था उनके लिए असाध्य थी। वह आईने के सामने से हट गये। उन्हें अपनी ही सूरत से घृणा होने लगी। फिर इस रूपवती कामिनी को उससे घृणा करना कोई आश्चर्य की बात न थी। निर्मला की ओर ताकने का भी उन्हें साहस न हुआ। उसकी यह अनुपम छवि उनके हृदय का शूल बन गयी।"[१]

तोताराम के हृदय में निर्मला का रूप-यौवन शूल भी पैदा करता है और संशय भी और ऐसा अविवेकपूर्ण संशय कि स्वयं उसके बेटे के प्रति निर्मला के स्नेह में वह प्रणय का भ्रम करता है। यों संशय में विवेक कहाँ होता है और यह न अस्वाभाविक था, न असंगत, क्योंकि इस प्रश्न का जो विश्लेषण स्वयं निर्मला करती है उसमें इसके प्रमाण मौजूद हैं। निर्मला कृष्णा से कहती है, "वह लड़का (मंसाराम) ही ऐसा था कि जो देखता था, प्यार करता था।......कृष्णा, मैं सच कहती हूँ, जब वह मेरे पास आकर बैठ जाता, तो मैं अपने को भूल जाती थी......मेरे मन में पाप का लेश भी न था......पर न जाने क्यों उसे अपने पास देखकर मेरा हृदय फूला न समाता था। इसीलिए मैंने पढ़ने का स्वांग रचा......यह मैं जानती हूँ कि अगर उसके मन में पाप होता, तो मैं उसके लिए सब कुछ कर सकती थी।"[२]

"निर्मला" में नायिका और नायक दोनों के चरित्रों का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रेमचन्द ने किया है। इस बेमेल विवाह का दुष्परिणाम यह होता है कि सारा घर तबाह हो जाता है। तोताराम के तीनों बेटों में से दो मर जाते हैं। तीसरा भाग जाता है। सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। इज्जत खत्म हो जाती है। मन की शान्ति खत्म हो जाती है। वे खुद घर से ऊब कर भाग जाते हैं। स्वयं निर्मला घुल-घुल कर मर जाती है। मरते समय के उसके उद्गार कथा का निष्कर्ष प्रकट करते हैं—

"दीदीजी, अब मुझे किसी वैद्य की दवा फायदा न करेगी। आप मेरी चिन्ता न करें, बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती रहे, तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर सकी। केवल जन्म

---

१. पृष्ठ ५३
२. पृष्ठ १२०

देने भर की अपराधिनी हूँ। चाहे क्वाँरी रखियेगा, चाहे विष देकर मार डालियेगा, पर कुपात्र के गले न मढ़ियेगा। इतनी ही आपसे मेरी विनय है।"[१]

"निर्मला" की कथा का तीसरा हिस्सा डा० सिन्हा के परिवार से संबंध रखता है। वृद्ध सिन्हा और उनका बड़ा बेटा, दोनों धन की लोलुपता के कारण उस निर्मला का जीवन नष्ट कर देते हैं, जिसके रूप के लिए बाद में डा० सिन्हा के मन में कलुष जागता है। लेकिन अपनी इस भूल का प्रायश्चित्त यह परिवार, अपने दूसरे बेटे की शादी निर्मला की बहिन से करके करता है।

तो "निर्मला" की समस्या मूल में दहेज की समस्या है। बेमेल विवाह स्वयं खत्म हो जायेंगे, जब विवाह की प्रथा के साथ व्यापार न जुड़ा हुआ होगा। दूसरी लड़की की शादी योग्य वर से हो जाती है क्योंकि उसमें दहेज की बाधा नहीं है।

'निर्मला' घोर यथार्थवादी रचना है। उस अर्थ में यथार्थवादी नहीं, जिस अर्थ में इस शब्द का अर्थ आज समझा जाता है। आज के ढंग की यथार्थ-वादिता तो तब होती, जब निर्मला और मंसाराम के प्रेम का चिपचिपाता हुआ वर्णन उसमें होता। एक ओर प्रेमचन्द यथार्थवाद में भी संयम, संस्कृति और आदर्श का पल्ला कभी छोड़ते नहीं हैं, दूसरी ओर बहुत कुछ कथनीय वे संकेत से, संक्षेप में कहकर छोड़ देते हैं। प्रेमचन्द एक उद्देश्य लेकर चलते हैं और उस उद्देश्य के निर्वाह में सतर्कता से आगे बढ़ते हैं।

निर्मला की ट्रेजेडी का दृश्य स्तम्भित कर देनेवाला है। निर्मला के चरित्रद्वन्द्व द्वारा उपन्यासकार ने समाज की एक बहुत बड़ी कमजोरी की ओर गहरा संकेत किया है। हमारी अनियमित विवाह व्यवस्था से निर्मला को योग्य वर न मिला, क्योंकि उसके यहाँ देने के लिए पर्याप्त दहेज न था। इसी के साथ जो समाज के खिलाफ आरोप रखा गया है वह है, बेमेल विवाह का। उसके दुष्परिणामों को दिखाकर उपन्यासकार समाज की आँखें खोलना चाहता है। प्रौढ़ पति और नवयौवना पत्नी के बीच के संबंध कितने नाजुक होते हैं, कितने अविचारगत, कितने शंका भरे, फिर भी कितने यथार्थ। एक सम्पन्न परिवार के विनाश की जिम्मेदारी इस बेमेल विवाह पर सौंपकर उपन्यासकार समाज को चुनौती देता है।

प्रेमचन्द के बारे में कहा जाता है कि "समाज का डिसेक्शन करके प्रेमचन्द उसका मर्ज जाँच सकते हैं, बखूबी; लेकिन डाक्टर वे नहीं हैं। दवा देना वे नहीं जानते। मर्ज के विषय में सारा ज्ञातव्य दे सकते हैं, मर्ज की दवा नहीं।" अनेक उपन्यासों में उन्होंने जहाँ समस्या का हल देना चाहा है, वह वास्तव से दूर, काल्पनिक है। लेकिन 'निर्मला' में उन्होंने हल देना भी नहीं चाहा है, उन्होंने परिस्थिति का गहरा विश्लेषण करके छोड़ दिया है। किसी झूठे संतोष का पल्ला नहीं पकड़ना चाहा है।

"प्रतिज्ञा" "निर्मला" की पूरक रचना है। 'निर्मला' में अन्तिम दृश्य में नायिका कहती है—"बेटी को कुपात्र के गले न मढ़ियेगा।" प्रस्तुत प्रसंग में कुपात्रता यही तो है कि एक कुमारी के साथ अधेड़ दुहाजू का ब्याह हो जाये। 'प्रतिज्ञा' के प्रारंभ में दुहाजू नायक निश्चय

---

१. पृष्ठ १९९

करता है कि वह वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबला के साथ अपने कर्तव्य का पालन करेगा। वह विधवा-विवाह करेगा और विधवा से विवाह कर्तव्यपालन के रूप में करेगा।

यों 'प्रतिज्ञा' में विवाह के प्रश्न पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। 'प्रतिज्ञा' में एक जोड़ा है—वसन्तकुमार और पूर्णा का, एक है कमला प्रसाद और सुमित्रा का, एक अन्य दाननाथ और प्रेमा का।

वसन्तकुमार और पूर्णा एक अत्यन्त सुखी दम्पत्ति हैं जिन्हें अपनी गरीबी में भी सन्तोष का धन प्राप्त है, क्योंकि दोनों में प्रेम है, सामंजस्य है। दुर्भाग्य इस परिवार से खिलवाड़ करता है और पूर्णा विधवा हो जाती है। "प्रतिज्ञा" में विधवा पूर्णा के बेबस जीवन के चित्र मिलते हैं। निरवलम्बिता पूर्णा पाखण्डी कमलाप्रसाद की कामुकतामयी घातों से किसी प्रकार बचकर अमृतराय के आश्रम में आश्रय पाती है। पूर्णा के चरित्र के माध्यम से प्रेमचन्द ने कुशलता से उन हथकण्डों को दर्शाया है, जिनका सहारा लेकर पुरुष की कामुकता नारी के शरीर के साथ आमोद करना चाहती है। विधवा पूर्णा जब कमला प्रसाद के यहाँ आश्रय लेने आ जाती है, उसके बाद कमलाप्रसाद की मनोवृत्ति में जो परिवर्तन आता है, उसका विश्लेषण प्रेमचन्द ने बड़ा स्वाभाविक किया है, "कदाचित पूर्णा की सरलता, दीनता और आश्रयहीनता ने उसकी (कमलाप्रसाद की) कुप्रवृत्ति को जगा दिया। उसकी कृपणता और कायरता ही उसके सदाचार का आधार थी। विलासिता महँगी वस्तु है। जेब से रुपये खर्च करके भी किसी आफत में फँस जाने की जहाँ प्रतिक्षण सम्भावना हो, ऐसे काम में कमला-प्रसाद जैसा चतुर आदमी न पड़ सकता था। पूर्णा के विषय में उसे कोई भय न था। वह इतनी सरल थी कि उसे काबू में लाने के लिए किसी बड़े साधन की जरूरत न थी और फिर यहाँ तो किसी का भय नहीं, न फँसने का भय, न पिट जाने की शंका।"[1] विधवा का जीवन ऐसा ही होता है और अगर इसके बाद भी फँस गये, तो कलंक का भागी पुरुष नहीं होता, नारी होती है। 'कर्मभूमि' की रेणुका की तरह अमीर विधवा हुई, तो अपने को सुरक्षित रख भी ले, लेकिन गरीब विधवा के लिए हर पुरुष का मन क्रीड़ा के लिए ललचाता है। यहाँ तक कि उसका सुदृढ़ मन डाँवाँडोल होने लगता है। कमलाप्रसाद की लोलुपता से पूर्णा को रक्षा करने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। कमला का नाटक एक बार जैसे उसे भी निरस्त कर देता है। तभी तो कमलाप्रसाद की पत्नी सुमित्रा पूर्णा से कहकर मानों सभी विधवाओं से कहती है, "अगर तुम्हें कोई न छेड़ता, तो तुम जीवन पर्यन्त अपने व्रत पर स्थिर रहतीं। लेकिन पानी में रहकर हलकोरों से बचे रहना तुम्हारी शक्ति के बाहर था। बेलंगर की नाव लहरों में थिर नहीं रह सकती।"[2] कमला ने जाल फेंका। पूर्णा सोचती है—हा! भगवान वैधव्य क्या कलंक का दूसरा नाम है? लेकिन वह कितनी निराश्रिता है।......लेकिन इस घर को त्याग देने का संकल्प करके भी पूर्णा निकल न सकी। कहाँ जायगी। जा ही कहाँ सकती है। इतनी जल्दी चला जाना, क्या इस लांछन को और भी सुदृढ़ न कर देगा। विधवा पर दोषारोपण करना कितना आसान है। जनता को उसके विषय में नीची से नीची धारणा

---

१. पृष्ठ ४८

२. पृष्ठ १११

करते देर नहीं लगती, मानों कुवासना ही वैधव्य की स्वाभाविक वृत्ति है, मानो विधवा हो जाना मन की सारी दुर्वासनाओं, सारी दुर्बलताओं का उमड़ आना है।"[१] पूर्णा किसी तरह अपने को बचा पाती है और भाग कर अमृतराय के विधवाश्रम में सहारा पाती है।

पूर्णा विधवा है। अमृतराय दुहाजू हैं। अमृतराय का संकल्प है कि विधवा के साथ ही विवाह करेंगे। स्वयं पूर्णा समझदार है और जान पड़ता है, उसका विवेक पुनर्विवाह से इनकार नहीं करता। फिर इस उपन्यास के अंत को प्रेमचन्द यह क्रान्तिकारी रूप देते क्यों रुक गये। वे चाहते तो पूर्णा और अमृतराय का विवाह हो सकता था। अमृतराय न सेवा-पथ ले लिया था। तो सेवा-पथ में सहधर्मिणी साधक ही होती, बाधक नहीं। अगर यह तर्क है कि प्रेमचंद अमृतराय को कुआलोचनाओं से बचाना चाहते हैं, तो कुआलोचनाएं तो अमृतराय के विरुद्ध पैदा की गई थीं और जिन्होंने पैदा की थीं, वे भी अब अमृतराय के साथ थे, दाननाथ भी और कमलाप्रसाद भी। तो क्या समाज के सामने इस क्रान्तिकारी हल की संभावना बताकर इसे किसी के जीवन में घटित करके दिखाने का साहस प्रेमचंद में नहीं था। क्या मध्यवर्गीय कथनी-करनी का फर्क यहाँ भी प्रेमचन्द में मिलता है।

कमलाप्रसाद और सुमित्रा के बीच सामंजस्य नहीं है। इसके कारण का विश्लेषण करते हुए लेखक बताता है, "आज से तीन साल पहले सुमित्रा ने कमला को पाकर अपने को धन्य माना था। दो तीन महीने उसके दिन सुख से कटे। लेकिन ज्यों-ज्यों दोनों की प्रकृति का विरोध प्रकट होने लगा, दोनों एक दूसरे से खिंचने लगे।.....सुमित्रा में नम्रता, विनय और दया थी; कमला में घमण्ड, उच्छृंखलता और स्वार्थ। एक वृक्ष का जीव था, दूसरा पृथ्वी पर रेंगनवाला। उनमें मेल कैसे होता। धर्म का ज्ञान जो दाम्पत्य-जीवन का सुख-मूल है, दोनों में किसी को न था।"[२] सुमित्रा "प्रतिज्ञा" की बागी नारी पात्र है। वह यह बर्दाश्त नहीं कर सकती कि "पुरुष चाहे जैसा हो, चोर हो, ठग हो, व्यभिचारी हो, शराबी हो, स्त्री का धर्म है कि उसकी चरण-रज धो-धोकर पिये।"[१] वह सोचना चाहती है कि आखिर क्यों पुरुष की ऐसी वशवर्तिनी नारी को बन जाना पड़ा है। वह किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाती, लेकिन उसका मन विद्रोह करता है। यह ठीक है कि वह मान करती है, रूठती है, मनाना चाहती है, लेकिन उसके मन का यह आन्तरिक विद्रोही भाव विद्यमान रहता है। वह भावुक नहीं है इसलिए जब उसके पति को सबक मिल जाता है तो वह बैठकर उसका रोना नहीं रोती। प्रेमचन्द ने इस सबक मिलने के बाद कमलाप्रसाद और सुमित्रा का मिलन-दृश्य नहीं बताया है। कमला के सुधरने की सूचना सुमित्रा के माध्यम से दी है।

यहाँ कुछ अधूरा-अधूरा लगता है। सुमित्रा और कमलाप्रसाद के बीच सामंजस्य क्या स्थापित हो गया? या कमलाप्रसाद की विपत्ति ने सुमित्रा को कमला के प्रति अनुकूल बना दिया। प्रारंभ में सुमित्रा जैसे नारी जाति का पक्ष लेकर बात करती है, अन्त में वह जैसे अपने समाज रूप से सिकुड़ कर व्यक्तित्व में आ जाती है।

---

१. पृष्ठ ५४
२. पृष्ठ ४७, ४८
३. पृष्ठ ५५

प्रेमा भारतीय संस्कृति के वातावरण में पली हुई, पढ़ी-लिखी नारी है, जो अपने आपको परिस्थिति में अधिक-से-अधिक अनुकूल बना लेना चाहती है। पहले वह दाननाथ से ब्याही जानेवाली थी। बीच में परिस्थितियाँ न बदल गई होतीं, तो वह आज दाननाथ के यहाँ होती। बड़ी बहिन की मृत्यु के बाद जीजा से उसका सम्बन्ध तय कर दिया गया। वह अमृतराय की पूजा करने लगी। अब अमृतराय की प्रतिज्ञा के बाद दाननाथ का नाम फिर सामने आया तो वह दाननाथ के अनुकूल हो गई। दाननाथ को हृदय में प्रतिष्ठित करने में उसे कोई क्षोभ नहीं हुआ। प्रेमा के इस मन का विश्लेषण उसके बाप ने इन शब्दों में किया है, "इन पढ़ी-लिखी लड़कियों का स्वभाव कुछ और हो जाता है। अगर उनके प्रेम और कर्तव्य में विरोध हो गया, तो उनका समस्त जीवन दुखमय हो जाता है। वे प्रेम और कर्तव्य पर उत्सर्ग करना नहीं जानतीं या नहीं चाहतीं। हाँ, प्रेम और कर्तव्य में संयोग हो जाये तो उनका जीवन आदर्श हो जाता है। ऐसा ही स्वभाव प्रेमा का भी जान पड़ता है।"[1] शायद पिता ने अपनी बेटी को ठीक ही समझा, क्योंकि "आदर्श हिन्दू बालिका" की भाँति प्रेमा पति के घर आकर पति की हो गई थी।[2] अब उसने प्रेम पति को दे दिया, लेकिन अमृतराय के प्रति उसकी श्रद्धा अक्षुण्ण रही। इस श्रद्धा में प्रेम का भ्रम करके दाननाथ बहुत दिन प्रेमा को संशयालु दृष्टि से देखते रहे। एक प्रसंग में प्रेमा अपने सामाजिक आदर्श के लिए पति के विरुद्ध अमृतराय का समर्थन करती है, लेकिन तब उसे अपने सत्कर्म का इतना विश्वास है कि वह जानती है कि पति को मना लूँगी।

'प्रतिज्ञा' 'सेवासदन,' 'प्रेमाश्रम' की भाँति सुधारवादी उपन्यास है, क्योंकि यहाँ भी विधवा की निष्कृति वनिताश्रम में बताई गई है। अगर अधिक आदर्शवादी न होकर प्रेमचन्द पूर्णा और अमृतराय का परिणय करा देते, तो यह जरूर क्रान्तिकारी हल हो सकता था।

"प्रतिज्ञा" प्रेमचन्द की एक और विशेषता को सामने ला देती है। प्रेमचन्द व्यक्ति की ऐकांतिक सत्ता, उसके समाजनिरपेक्ष रूप को लेकर नहीं चलते। इसलिए वे चरित्र के अति सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान नहीं देते। वे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को ही प्रमुखता देते हैं। इसीलिए कमला और पूर्णा को लेकर या कमला और सुमित्रा को लेकर अथवा प्रेमा के चरित्र को लेकर उन्होंने उनके मन की गहराइयों में उतना ही झाँका है, जितना इनके सामाजिक व्यक्तित्व के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। यहीं से शरत् और प्रेमचन्द के रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं।

रंगभूमि

जिस प्रकार 'प्रेमाश्रम' में किसान मजदूर संघर्ष की कल्पना मिलती है, उसी प्रकार 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने देशी राज्यों में आन्दोलन का आभास दिया है। जिन देशी राज्यों की ओर देश की प्रतिनिधि प्रगतिशील संस्था कांग्रेस का ध्यान सन् १९३९ के पूर्व ठीक-ठीक आकर्षित नहीं हुआ था, उसके संबंध में सन् १९२४ में प्रेमचन्द गम्भीरता से सोचने लगे थे। 'रंगभूमि' में देशी राज्य में हिंसक-क्रान्ति का प्रचारक वीरपालसिंह कहता है--

---

१. पृष्ठ ४३
२. पृष्ठ ६५

"वीरपालसिंह मैं ही हूँ, राज्य के नौकरों को नेस्तनाबूद करने का प्रण कर लिया है... ये लोग प्रजा को दोनों हाथों से लूट रहे हैं। इनमें न दया है, न धर्म.....जिसे घूस न दीजिए, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइये। कोई आपसे न बोलेगा। बस, कर्मचारियों की मुट्ठी गरम करते रहिए। दिनदहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस का पूरा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायेंगे, आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा.....यह समझ लीजिए कि हिंसक जंतुओं का एक गोल है। सबके सब मिलकर शिकार करते हैं और मिल-जुलकर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू.....या तो बिलायत की सैर करेगा या यहाँ अंग्रेजों के साथ शिकार खेलेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा। इसके सिवा उसे कोई काम नहीं। प्रजा जिये या मरे, उसकी बला से।.....राजा में यदि विवेक होता, तो राज्य की यह दशा क्यों होती।"[१]

"बनारस से जसवन्तनगर में आकर सेवा-समिति के कार्यकर्ता विनयसिंह ने यथासाध्य अपने कर्तव्य का पालन किया। जसवन्तनगर के प्रान्त में एक बच्चा भी नहीं है, जो उन्हें न पहचानता हो। देहात के लोग उनके इतने भक्त हो गये हैं कि ज्योंही वह किसी गाँव में जा पहुँचते हैं, सारा गाँव उनके दर्शनों के लिए एकत्र हो जाता है। उन्होंने उन्हें अपनी मदद आप करना सिखाया है। इस प्रान्त के लोग अब अन्य जन्तुओं को भगाने के लिए पुलिस के यहाँ नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित होकर उन्हें भगाते हैं। जरा-जरा सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता कर लेते हैं। जहाँ कभी कुएँ न थे, वहाँ अब पक्के कुएं तैयार हो गये हैं, सफाई की ओर भी लोग ध्यान देने लगे हैं, दरवाजों पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किये जाते। सारांश यह कि प्रत्येक व्यक्ति अब केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी है। वह अब अपने को प्रतिद्वन्द्वियों से घिरा हुआ नहीं, मित्रों और सहयोगियों से घिरा हुआ समझता है। सामूहिक-जीवन का पुनरुद्धार होने लगा है।"[२]

यह ठीक है कि प्रेमचन्द देशी राज्य में किसी विशिष्ट प्रकार के सुनिश्चित, सुयोजित आन्दोलन की कल्पना नहीं कर पाये, लेकिन ऊपर के दो उद्धरणों से स्पष्ट है कि देशी राज्यों की स्थिति प्रतिक्रियात्मक है और वहाँ शासक और शासित का सम्बन्ध शोषक और शोषित से अधिक कुछ भी नहीं है। 'रंगभूमि' के प्रकाशन के वर्षों बाद, जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है, "एक ओर प्रजा की अत्यन्त पिछली और दारुण स्थिति है, दूसरी ओर राजा के महल का चकाचौंधभरा आडम्बर। राज्य की कितनी संपत्ति महलों में राजा के व्यक्तिगत आवश्यकताओं और विलास में व्यय होती है और कितनी कम जनसेवा में लगाई जाती है।"[३] प्रेमचन्द का उद्देश्य, राष्ट्र के सामने यह बात जोरदार शब्दों में उपस्थित करने का है कि इधर भी आग लगी है, जरा नजर करना। और सेवासमिति के विनयसिंह की असफलता, इस बात की द्योतक है कि देशी राज्यों की बीमारी का हल सेवा-समिति के छोटे-मोटे सेवा-कार्यों में नहीं है। बीमारी गहरी है और इसलिए उसका इलाज गम्भीरतापूर्वक करना होगा।

१. पृष्ठ १९९, २००
२. पृष्ठ १९५–१९६
३. आत्मकथा पृष्ठ ५३१

देशी राज्य अंग्रेजी साम्राज्यवाद के गढ़ हैं। राज्य का अंग्रेज रेज़ीडेन्ट एक स्थान पर कहता है—

"हमारा साम्राज्य तभी तक अजेय रह सकता है, जब तक प्रजा पर हमारा आतंक छाया रहे, जब तक वह हमें अपना हितचिंतक, अपना रक्षक, अपना आश्रय समझती रहे, जब तक हमारे न्याय पर उसका अटल विश्वास हो। जिस दिन प्रजा के दिल से हमारे प्रति विश्वास उठ जायगा, उसी दिन हमारे साम्राज्य का अन्त हो जायेगा।"[१] रेज़ीडेन्ट के इस कथन में एक बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि देशी राज्यों में भी, नाम भले ही राजा का हो, राज्य रेजीडेन्ट का, अंग्रेजों का होता है और अपने इस राज्य को सुदृढ़, सुरक्षित रखने के लिए वे आतंक पैदा किये रखना चाहते हैं।

एक अन्य स्थान पर क्लार्क कहता है—

"अंग्रेज जाति भारत को अनन्त काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाए रखना चाहती है। कंजरवेटिव हो या लिबरल, रेडीकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं...अंग्रेज जाति कभी त्याग के लिए, उच्च सिद्धान्तों पर प्राण देने के लिए प्रसिद्ध नहीं रही। हम सब के सब साम्राज्यवादी हैं।"[२]

और राजाओं की हालत का बयान खुद राजा के मुँह से सुनिए—

"हमारी दशा साधारण अपराधियों से भी गई-बीती है। उन्हें तो सफाई देने का अवसर दिया जाता है......हमसे कौन सफाई लेता है। हमारे लिए कौन-सा न्यायालय है...... हमारे लिए न कोई कानून है, न कोई धारा। जो अपराध चाहा, लगा दिया। जो दण्ड चाहा दे दिया। न कहीं अपील है, न फरियाद।"[३]

और अंग्रेज रेजीडेन्ट के सामने इनकी हालत ठीक गुलामों जैसी रहती है। विनय सोचता है—"इतना नैतिक पतन, इतनी कायरता, यों राज्य करने से डूब मरना अच्छा है।"[४]

'रंगभूमि' में देशी राज्यों का जो खाका मिलता है, वह उस वर्णन की भूमिका है, जो उनके अगले उपन्यास "कायाकल्प" में विस्तार से दिया गया है। 'रंगभूमि' का विनय, 'कायाकल्प' के चक्रधर का पूर्वज है, जो उसे असंतोष के लिए, जमीन तैयार कर रहा है, जिस पर चक्रधर आगे बढ़ेगा।

"रंगभूमि" के संबंध में स्वयं प्रेमचन्द ने दो बातें लिखीं हैं, "एक तो यह कि सूरदास की कल्पना हमें अपने गाँव के अन्धे भिखारी से मिली है और दूसरी यह कि सोफ़िया की प्रेरणा एनीबेसेन्ट से हमने पाई है।"

एनीबेसेन्ट की प्रेरणा से सोफ़िया के द्वारा प्रेमचन्द थियासाफिस्ट मत के समान सब धर्मों के मूल तक पहुँचने का आग्रह दिखाते हैं। सोफ़िया ईसाई है, लेकिन ईसाइयों के आड-

---

१. पृष्ठ ३००

२. पृष्ठ ४१५

३. पृष्ठ ४१८

४. पृष्ठ ४१९

म्बरपूर्ण कर्मकाण्ड में उसका विश्वास नहीं है। प्रेमचन्द बताते हैं कि "सोफिया सत्यासत्य के निरूपण में सदैव रत रहती थी। धर्म-तत्वों को बुद्धि की कसौटी पर कसना उसका स्वाभाविक गुण था और जब तक तर्क बुद्धि स्वीकार न करे, वह केवल धर्म-ग्रन्थों के आधार पर किसी सिद्धांत को न मान सकती थी।"[१] ......सोफ़ी कहती है, "महात्मा ईसा के प्रति कभी मेरे मुँह से कोई अनुचित शब्द नहीं निकला। मैं उन्हें धर्म, त्याग और सद्विचार का अवतार समझती हूँ। लेकिन उनके प्रति श्रद्धा रखने का यह आशय नहीं है कि भक्तों ने उनके उपदेशों में जो असंगत बातें भर दी हैं, या उनके नाम से जो विभूतियाँ प्रसिद्ध कर रखी हैं, उन पर भी ईमान लाऊँ और यह अनर्थ कुछ प्रभु मसीह ही के साथ नहीं किया गया, संसार के सभी महात्माओं के साथ यही अनर्थ किया गया है।"[२]

सोफ़ी मानवता और कर्म पर विश्वास करती है और आरम्भ से अंत तक इन्हीं के लिए अपने जीवन को लगाये रहती है। विनय में उसे अपनी आशा और आदर्श के अनुरूप व्यक्ति मिला और उसने विनय के लिए अपने आपको न्यौछावर कर दिया, उस विनय के लिए जिसमें सेवा, सहानुभूति और देशानुराग है। वह कहती है, "मैंने इसलिए तुम्हें अपना उपास्यदेव बनाया था कि तुम्हारे जीवन का आदर्श उच्च था। तुममें प्रभु मसीह की दया, भगवान बुद्ध के विराग और लूथर की सत्यनिष्ठा की झलक थी।"[३] और इसीलिए जसवन्त-नगर में जब विनय पथभ्रष्ट हो जाता है, तो वह उसे भर्त्सित करती है। उसके प्रति पवित्र कोप का प्रदर्शन करती है। इसी प्रसंग में वह जीवन का एक सत्य बड़ी दृढ़ता के साथ प्रकट करती है। वह कहती है, "मुझे उस वस्तु से घृणा है, जिसे लोग सफल-जीवन कहते हैं। सफल-जीवन पर्याय है, खुशामद, अत्याचार और धूर्तता का। मैं जिन महात्माओं को संसार में सर्वश्रेष्ठ समझती हूँ, उनके जीवन सफल न थे।" सांसारिक दृष्टि से वे साधारण मनुष्यों से भी गये गुजरे थ, जिन्होंने कष्ट झेले, निर्वासित हुए, पत्थरों से मारे गये, कोसे गये और अंत में संसार ने उन्हें बिना आँसू की एक बूंद गिराये बिदा कर दिया, सुरधाम को भेज दिया।"[४] सोफ़ी का हृदय इतना क्रोध विह्वल हो जाता है कि वह हिंसा-अहिंसा के भेद भूल-कर अत्याचार के विरुद्ध उबल पड़ती है, "उन पापियों से खून का बदला लूँगी, जिन्होंने प्रजा की गर्दन पर छुरियाँ चलाई हैं। एक-एक को जहन्नुम की आग में झोंक दूँगी, तब मेरी आत्मा तृप्त होगी। जो लोग आज निरपराधियों की हत्या करके सम्मान और कीर्ति का उप-भोग कर रहे हैं, उन्हें नरक के अग्निकुंड में जलाऊँगी और जब तक अत्याचारियों के इस जत्थे का मूलोच्छेदन कर दूँगी, चैन न लूँगी; चाहे इस अनुष्ठान में मुझे प्राणों ही से क्यों न हाथ धोना पड़े, चाहे रियासत में विप्लव ही क्यों न हो जाय, चाहे रियासत का निशान ही क्यों न मिट जाय।"[५]

सोफ़ी के इन उद्गारों का विश्लेषण करें, तो जान पड़ेगा कि वह धर्म के दो रूप

१. पृष्ठ २८
२. पृष्ठ २९
३. पृष्ठ ३४५
४. पृष्ठ ३४४
५. पृष्ठ ३४६

मानती है---प्रेम धर्म और सेवा धर्म और कर्म को परिस्थितियों के अनुसार हिंसात्मक या अहिंसात्मक स्वरूप देने में संकोच नहीं करती।

विनय और सोफ़ी का प्रेम इस बात का प्रतीक है कि हृदयों को बाँधनेवाले बंधन बाहरी नहीं होते, आन्तरिक होते हैं और जहाँ बंधन आंतरिक है, वहाँ बाहरी बाधाएँ उन पर कोई असर नहीं डाल सकतीं।

देशी राज्यों के प्रसंग के सिवा "रंगभूमि" की शेष कथा भारतीय कृषि जीवन में औद्योगीकरण के प्रवेश की कथा है। इसमें एक ओर गाँव का वह परम्परागत जीवन है, जहाँ सहकारिता है, पंचायत है, और दूसरी ओर आक्रमक औद्योगीकरण है, जो गाँव के सामूहिक जीवन को छिन्न-भिन्न करके रख देता है। 'रंगभूमि' कोरमकोर यथार्थ चित्रण है, जिसमें कोई 'सेवासदन' नहीं, कोई 'प्रेमाश्रम' नहीं। यहाँ संस्थावाद के बजाय व्यक्ति के आन्तरिक गौरव का महत्व है। मानों प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि समाज की कमजोरियों को दूर करने का यह संस्थावादी ढंग असफल भी हो सकता है। यदि संस्था का संचालक ठीक व्यक्ति नहीं हुआ, तो संस्था अपने आदर्श और उद्देश्य से च्युत हो जायगी। कहीं उन्होंने व्यक्त किया भी है, "संस्थाएँ भी व्यक्ति की मुँहताज रहती हैं।" इसलिए यदि समाज-परिष्कार के लिए संस्था चाहिए, तो संस्था-संचालन के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है। पिछले उपन्यासों में हमें संस्थाएँ मिलती हैं, 'रंगभूमि' में व्यक्ति। सूरदास का व्यक्तित्व सारे 'रंगभूमि' पर छाया हुआ है।

"रंगभूमि" का प्रारंभ भिखारी सूरदास के परिचय से होता है। सूरदास एकदम काल्पनिक पात्र नहीं है। उसकी प्रेरणा प्रेमचन्द को अपने गाँव के अंधे भिखारी से मिली थी। जीवन-सार (३) हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'रंगभूमि' लिखने के दिनों में प्रेमचन्द की मनः-स्थिति में एक स्पष्ट विकास मिलता है। पारिवारिक और व्यक्तिगत कठिनाइयों के बीच प्रेमचन्द न अपने मन में अचल दृढ़ता प्राप्त कर ली थी। वे जीवन को खेल मानकर निस्पृह भाव से उस लेख में प्रवृत्त हो गये थे। अगर भावात्मक ढंग से सूरदास का परिचय दें, तो कह सकते हैं कि सूरदास विश्रृंखलित भारतीय समाज का असहाय-विपन्न व्यक्ति है, लेकिन ऐसा व्यक्ति जिसमें परिस्थितियों की विषमता से लड़कर उन्हें अनुकूल बनाने की अनुपम क्षमता है। चाहें तो आप उसे गांधी का प्रतिरूप कह लीजिए। गांधी के साथ सादृश्य का एक और पक्ष है। गांधी की भाँति सूरदास भी औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है। वह भारतीय पुरातन सादे जीवन का हामी है।

'रंगभूमि' का पहला ही दृश्य सूरदास का अद्‌भुत व्यक्तित्व हमारे सामने प्रकट कर देता है। वह ऐसा था, जिसकी बाह्य दृष्टि बन्द और अन्तर्दृष्टि खुली हुई थी। वह ऐसा था, जो संसार में रहकर भी संसार का न था, विरागी था, त्यागी था, निर्भीक था। यदि हम चाहें तो इस पहले दृश्य को प्रतीकात्मक मान सकते हैं। सूरदास, विश्रृंखलित भारतीय समाज का असहाय विपन्न व्यक्ति है, जिसमें उस समाज की सहकारिता, परमार्थता और धर्मवृत्ति है। जानसेवक आगत औद्योगीकरण का प्रतीक है। जानसेवक शहर बनारस में रहते हैं, सूरदास पास ही बस्ती पाण्डेपुर में। इन दोनों के बारे में प्रेमचन्द ने लिखा है---

"शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्यभाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और

उनकी मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं। बनारस में पाण्डेपुर ऐसी ही बस्ती है। वहाँ न शहरी दीपकों की ज्योति पहुँचती है, न शहरी छिड़काव के छींटे, न शहरी जलस्रोतों का प्रवाह। सड़क के किनारे छोटे-छोटे बनियों और हलवाइयों की दूकानें हैं। दो-चार घर बिगड़े सफेदपोशों के भी हैं, जिन्हें उनकी हीनावस्था ने शहर से निर्वासित कर दिया है।"[१]

शहरी सभ्यता का विकास हो रहा है। यह वही सभ्यता है, जिसे आगे चलकर प्रेमचन्द महाजनी-सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। गाँव की सभ्यता बिखर रही है। शहर का उद्योगपति गाँव की जमीन पर कारखाना बनायेगा, फिर गाँव का सामूहिक-जीवन कहाँ रहा? यों गाँव अपनी ताकतभर शहरी सभ्यता के इस प्रवेश को रोकना चाहता है। सूरदास अपनी जमीन औद्योगीकरण के लिए नहीं देगा। उस ज़मीन से उसका व्यक्तिगत कोई स्वार्थ नहीं जुड़ा है, लेकिन गाँव का फ़ायदा तो जुड़ा हुआ है।

'रंगभूमि' की कथा सूरदास के उस संघर्ष की कथा है, जिसमें वह गाँव की संस्कृति को बचाने के लिए, महाजनी राक्षस द्वारा आत्मसात् होने से बचाने के लिए जी जान से कोशिश करता है।

गाँव के सामूहिक सहकारी जीवन का बड़ा सजीव चित्र 'रंगभूमि' के दूसरे अध्याय में मिलता है। इसी अध्याय में प्रेमचन्द गाँव के जीवन और समाज-दर्शन पर संक्षेप में प्रकाश डालते हैं। बजरंगी कहता है, "सच्ची कमाई उन्हीं की है, जो छाती फाड़कर धरती से धन निकालते हैं।"[२] सूरदास कहता है, "भाई खेती सबसे उत्तम है, बान उससे मद्धिम है... हाँ सेवा, निरधिन है।"[३] लेकिन सूरदास भविष्य से सशंकित है, तभी गाँव वालों से कहता है, "अभी तक तो तुम्हारे ऊपर भगवान की दया है, अपना-अपना काम करते हो, मगर ऐसे बुरे दिन आ रहे हैं, जब तुम्हें सेवा और टहल करके पेट पालना पड़ेगा। जब तुम अपने नौकर नहीं, पराये के नौकर हो जाओगे। जब तुममें नीति-धरम का निसान भी न रहेगा।"[४]

जैसे इस आशंका को यथार्थता प्रदान करता हुआ सूरदास स्वयं कहता है कि "तमाखू का कारखाना खुलेगा। उसके लिए उसकी जमीन माँगी जा रही है। कारखाने का खुलना ही हमारे लिए बिपत का आना है।"[५] गाँववाले काँप उठते हैं। जब कारिंदा ताहिरअली जान-सेवक की ओर से इस जमीन के लिए गाँव में बात करने आता है, तो सारा गाँव एक स्वर से विरोध करता है। ताहिरअली यह धमकी देकर चला जाता है कि "रेलों के मालिक क्या ज़मीन अपने साथ लाये थे। हमारी ही ज़मीन तो ली है। क्या उसी कायदे से यह ज़मीन नहीं निकल सकती।"[६] और सूरदास चुनौती देता है कि "मेरे जीते जी तो जमीन न मिलेगी। हाँ, मर जाऊँ तो भले ही मिल जाय।"[७]

---

१. पृष्ठ ५
२. पृष्ठ २१
३. पृष्ठ २२
४. पृष्ठ २२
५. पृष्ठ २२
६. पृष्ठ २३
७. पृष्ठ २१

लेकिन परिवर्तित स्थिति में गाँव की सहकारिता और मेल की भावना स्वार्थ पर बलि हो जाती है। ताहिरअली के जाने के बाद शराब बेचने वाला भैरो कहता है, "दुनियाँ अपना ही फायदा देखती है, दूसरे जियें या मरें। बजरंगी, तुम्हारी तो गायें चरती हैं, इसलिए तुम्हारी भलाई तो इसी में है कि ज़मीन बनी रहे। मेरी कौन गाय चरती है। कारखाना खुला तो मेरी बिक्री चौगुनी हो जायगी। यह बात तुम्हारे ध्यान में क्यों नहीं आई। तुम सबकी तरफ से वकालत करनेवाले कौन हो। सूरे की ज़मीन है। वह बेचे या रखे, तुम कौन होते हो बीच में कूदनेवाले।"[1] गाँव के सामूहिक जीवन में क्रय-विक्रय घुस आया, स्वार्थ घुस आया, व्यक्तिगत हानि-लाभ घुस आया, रुपया-आना-पाई का प्रवेश हो गया।

सूरदास की लड़ाई दो मोर्चों पर है। एक ओर वह आँधी की तरह आती हुई औद्योगीकरण और पूँजीवाद की प्रवृत्तियों से लड़ता है, दूसरी ओर स्वार्थ में बावले हो जाते हुए गाँव के लोगों की ईर्षालु प्रवृत्तियों से लड़ता है। मानों एक हाथ से वह मशीन के दानव को रोकना चाहता है, दूसरे हाथ से गाँव को अनीति के रास्ते पर चलने से रोकता है। क्या यह व्यक्ति गांधी का प्रतिरूप नहीं है?

और इसकी लड़ाई के शस्त्र हैं--सत्य, अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह, जिन्हें लेकर वह दोनों मोर्चों पर खड़ा रहता है। उसकी शक्ति आत्म-शक्ति है, जो उसे सत्य-पथ से डिगने नहीं देती और अनीति से लड़ने की क्षमता प्रदान करती है। यह आत्मशक्ति उसे एक प्रकार के आध्यात्मिक संतुलन से प्राप्त होती है। ये ही सब बातें तो गांधी में मिलती हैं। गांधी की तरह सूरदास अच्छी सिद्धि के लिए अच्छे साधनों को आवश्यक मानता है।

सूरदास औद्योगीकरण के पक्ष में नहीं है और इसके लिए वह जो तर्क देता है, वे तर्क वही हैं जिनके बारे में एंजिल्स ने लिखा है और जिनका अवलंब लेकर स्वयं गांधी ने विरोध किया है। वह राजा साहब से कहता है--

"सरकार, बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी से लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी शराब का भी तो परचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे। कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और बुरे आचरण अपने गाँव में फैलायेंगे। देहातों की लड़कियाँ-बहुएँ मजूरी करने जायेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही यहाँ हो जायगी।"[2]

और उसके हज़ार रोकने के बाद भी मिल बन जाती है तो वह संबंधित अधिकारियों से कहता है, "अब एक अरज आप से भी है साहब। आप पुतलीघर के मजूरों के लिए घर क्यों नहीं बना देते। ये सारी बस्ती में फैले हुए हैं और रोज उधम मचाते रहते हैं। हमारे मुहल्ले में किसी ने औरतों को नहीं छेड़ा था, न कभी इतनी चोरियाँ हुईं, न कभी इतने धड़ल्ले से जुआ हुआ, न शराबियों का ऐसा हुल्लड़ रहा। जब तक मजूर

---

१. पृष्ठ २४

२. पृष्ठ ८६

लोग यहाँ काम पर नहीं आ जाते, औरतें घरों से पानी भरने नहीं निकलतीं। रात को इतना हुल्लड़ होता है कि नींद नहीं आती। किसी को समझाओ, तो लड़ने पर उतारू हो जाता है।"[१]

"रंगभूमि" के अन्त तक प्रेमचन्द उद्योगी जानसेवक के मन में औद्योगीकरण के विरुद्ध एक तुच्छता का विचार पैदा कर देते हैं। जानसेवक 'रंगभूमि' के प्रारंभिक पृष्ठों में यह कहते हैं कि,

"हमारी जाति का उद्धार कला, कौशल और उद्योग की उन्नति में है। इस सिगरेट के कारखाने से कम से कम एक हज़ार आदमियों के जीवन की समस्या हल हो जायगी और खेतों के सिर से उनका बोझ टल जायगा। जितनी ज़मीन एक आदमी अच्छी तरह जोत-बो सकता है, उसमें घरभर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारखाना ऐसे बेकारों को अपनी रोटी कमाने का अवसर देगा......व्यवसायी लोगों का लक्ष्य केवल वर्तमान परिस्थितियों पर रहता है, हम देखते हैं कि इस देश में करोड़ों रुपयों की सिगरेट और सिगार आते हैं। हमारा कर्तव्य है कि इस धन-प्रवाह को विदेश जाने से रोकें। इसके बिना हमारा आर्थिक जीवन कभी पनप नहीं सकता।"[२] वे ही जानसेवक कथा के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते दूसरे ढंग से सोचने लगते हैं—

उन्हें बार-बार यह कारखाना खोलने का अफसोस था, जो असाध्य रोग की भाँति उनके गले पड़ गया था। इसके कारण पारिवारिक शान्ति में विघ्न पड़ा, सारा कुनबा तीन-तेरह हो गया, शहर में बदनामी हुई। सारा सम्मान मिट्टी में मिल गया, घर के हजारों रुपये खर्च हो गये और अभी तक नफे की कोई आशा नहीं। अब कारीगर और कुली भी काम छोड़-छोड़कर अपने घर भागे जा रहे थे, उधर शहर और प्रान्त में इस कारखाने के विरुद्ध आन्दोलन किया जा रहा था।[३]

लेकिन मिल चलती है। उद्योगों की उन्नति होती है। मिस्टर जानसेवक निराशामय धैर्य के साथ प्रातःकाल से संध्या तक अपने व्यावसायिक धंधों में रत रहते हैं। उन्हें अब संसार में कोई अभिलाषा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है। धन से उन्हें निस्स्वार्थ प्रेम है, कुछ वही अनुराग जो भक्तों को अपने उपास्य से होता है। धन उनके लिए किसी लक्ष्य का साधन नहीं है। स्वयं लक्ष्य है। न दिन को दिन समझते हैं, न रात को रात। कारबार दिन-दिन बढ़ता जाता है। लाभ दिन-दिन बढ़ता जाता है या नहीं, इसमें सन्देह है। देश में गली-गली, दूकान-दूकान इस कारखाने के सिगार और सिगरेटों की रेल-पेल है। वह अब पटने में एक तम्बाकू की मिल खोलने की आयोजना कर रहे हैं क्योंकि बिहार प्रान्त में तम्बाकू कसरत से पैदा होती है। उनकी धन-कामना विद्याव्यसन की भाँति तृप्त नहीं होती। मानों औद्योगीकरण के रथ पर चढ़कर पूंजीवाद देश में दाखिल हो गया है और गली-गली उसका असर फैल गया है।

यह ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि 'रंगभूमि' में एक संघर्ष मिलता है, गाँव की चिरपुरातन सहकारी-सभ्यता और आगम-औद्योगीकरण के बीच। सूरदास गाँव की ताकत

१. पृष्ठ ३९४
२. पृष्ठ ५२.
३. पृष्ठ ५४३

का प्रतीक है। वह सत्यनिष्ठ है, निस्स्वार्थ है, आत्मदृढ़ता सम्पन्न है। वह औद्योगीकरण का विरोधी है और गाँव की सरलता का हामी है। उसका मिल के काम के लिए ज़मीन न देने का आग्रह इस बात का प्रमाण है कि वह जी जान से औद्योगीकरण का विरोध करके गाँव के अस्तित्व को मिटने से बचाना चाहता है। वह साधारण आदमी नहीं है। सचाई पर खड़े रहने के लिए वह सत्ता का विरोध करता है, जनता को ललकारकर जगाता है, अपकीर्ति सहकर भी विचलित नहीं होता और बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी दृढ़ खड़ा रहता है। सारी पुस्तक में जगह-जगह उसके चरित्र को व्यक्त करनेवाली घटनाएँ बिखरी पड़ी हैं लेकिन उसका जीवन प्रकट करनेवाली एक घटना बराबर आकर्षित कर लेती है--

सूरदास के झोंपड़े में आग लगा दी गई है। झोंपड़ा जलकर राख हो गया है। वहीं जमीन में गड़ी हुई उसकी पूँजी भी खोदकर ले जाई जा चुकी है। लेकिन सूरदास जिस मानसिक संतुलन की जमीन पर खड़ा है, वहाँ जीवन की इन हार-जीतों का उस पर असर नहीं होता। उसने तर्क से नहीं व्यवहार से, अनुभव से जीवन का जो दर्शन पा लिया है, वह सचमुच अद्भुत है। वह मौत से थोड़ी देर पहले इस जीवन-दर्शन को व्यक्त करता है। वह कहता है--

"बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो। तुम जीते मैं हारा। यह बाज़ी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो। दम नहीं उखड़ता। खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाड़ी हैं। बस, इतना ही फर्क है। तालियाँ क्यों बजाते हो, वह तो जीतनेवालों का धरम नहीं। तुम्हारा धरम तो है, हमारी पीठ ठोंकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम लेने दो। हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी--अवश्य होगी।"[१]

कितना अटूट आशावाद है, तभी तो अपनी झोंपड़ी जल जाने के बाद वह विचलित नहीं होता। दार्शनिक की तरह कहता है--

"वाह मैं तो खेल में रोता हूँ। कितनी बुरी बात है। लड़के भी खेल में रोना बुरा समझते हैं, रोनेवाले को चिढ़ाते हैं और मैं खेल में रोता हूँ। सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं। बाज़ी पर बाज़ी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं पर मैदान में डँटे रहते हैं। उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती। दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा। खेल हँसने के लिए, दिल बहलाव के लिए है, रोने के लिए नहीं।"[२]

ऐसा ही आदमी संहारों के बीच भी निर्माण की वह अडिग साधना लेकर चल सकता है जो इस कथोपकथन में प्रकट है--

---

१. पृउ ५५३
२. पृष्ठ १३५.

मिठुआ ने पूछा : दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?

सूरदास : दूसरा घर बनायेंगे।

मिठुआ : और कोई फिर आग लगा दे।

सूरदास : तो फिर बनायेंगे।

मिठुआ : और फिर लगा दे।

सूरदास : तो हम भी फिर बनायेंगे।

मिठुआ : और जो कोई हज़ार बार लगा दे।

सूरदास : तो हज़ार बार बनायेंगे।[1]

जो नाश को निर्माण की ऐसी अदम्य चुनौती दे सकता है, उसकी जीवनी-शक्ति सचमुच अद्‌भुत है।

गाँव का अनपढ़ सूरदास मार्क्स की विचारावली से अपरिचित है। वह नहीं जानता कि सामन्तवाद के आगे विकास की स्थिति पूँजीवाद है। लेकिन गाँव के सरल वातावरण में रहकर वह नई सभ्यता को यदि दानवी माने और उसका प्राणपण से विरोध करें, तो अस्वाभाविक नहीं है। "मैं अपनी ज़मीन नहीं दूंगा," कहकर वह जो अन्तर्भावना प्रकट कर रहा है, उसके पीछे आत्मगौरव का भाव भी है और परमार्थ का भी। स्वत्व को बेचना आत्म-विक्रय नहीं तो क्या है ? और फिर इस जमीन के साथ जब सारे गाँव का हित जुड़ा हुआ है, तब उसका इनकार करना क्या परमार्थ की प्रेरणा का सुबूत नहीं है।

यदि और कुछ नहीं, तो सूरदास उस अदम्य जीवनी शक्ति का प्रतीक है, जो संहार को चुनौती देती है, जो हार से नई प्रेरणा संचित करती है और जीत से नया विश्वास। औद्योगिक युग में जब मनुष्य को मशीन का एक पुर्जा बना देने का उपक्रम चल रहा है, तब सूरदास क्या इस बात की याद नहीं दिलाना चाहता कि—

"साबार उपरि मानव सत्य
तहार उपरि नय"

उसकी मृत्यु के समय प्रेमचन्द ने इन शब्दों में उसे श्रद्धांजलि अर्पित की है—

"हाँ वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था, एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे पड़े थे। गुण केवल एक था। किन्तु ये सभी दुर्गुण उस पर, गुण के सम्पर्क से नमक की खान में जाकर नमक हो जानेवाली वस्तुओं की भाँति, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे—क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था और अहंकार आत्माभिमान के वेश में और वह गुण क्या था ? न्याय, प्रेम, सत्य, भक्ति परोपकार, दर्द या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"[2]

---

१. पृष्ठ १२५–१२६
२. पृष्ठ ५५४.

('रंगभूमि' का अन्त दो बातों को पाठक के मन पर अंकित कर देता है, एक तो औद्योगीकरण और पूँजीवाद का देश में सुनिश्चित रूप से स्थापन और दूसरा सूरदास का गौरवमय जीवन और भव्य अन्त। इधर सूरदास की मूर्ति की स्थापना होती है उधर मिल के मजदूरों के लिए टोले के शिलान्यास की तैयारियाँ होती हैं।) यहाँ एक घटना घटित होती है. जो अति महत्वपूर्ण है—

यहाँ दिन में सूरदास की मूर्ति की स्थापना का समारोह होता है और रात में मूर्ति तोड़कर गिरा दी जाती है। गिरानेवाले हैं राजा महेन्द्रकुमारसिंह, जिनके संबंध में प्रेमचन्द ने कहा है; "जब तक जिये, सूरदास से बैर-भाव रखा। मरने के बाद भी द्वेषभाव न छोड़ा......जब तक जिये, सूरदास से नीचा देखा, मरे भी तो उसी के नीचे दब कर। जाति का द्रोही, दम्भी, दगाबाज और इनसे भी कठोर शब्दों में उनकी चर्चा हुई।[१] महेन्द्रकुमार महाजन और रईस तबके के व्यक्ति थे जिन्होंने आजीवन लोकसत्तात्मक दल से विरोध पाला, जनवादी शक्तियों को सदैव तुच्छ समझा। जिनके जीवन में शक्ति थी धन की और प्रेरणा थी कीर्ति लाभ की।[२] सूरदास के साथ महेन्द्रकुमार का संघर्ष, धन और यश का, आत्मशक्ति और सेवा के साथ संघर्ष है। महेन्द्रकुमार के पतन के द्वारा प्रेमचन्द धन के ऊपर आत्मशक्ति और सेवाधर्म की विजय का उद्घोष करना चाहते हैं।

यह दृश्य मन पर एक और छाप छोड़ जाना चाहता है। गिरी हुई मूर्ति के संबंध में प्रेमचन्द कहते हैं, "कारीगरों ने फिर मसालों से मूर्ति के पैर जोड़े और उसे खड़ा किया, लेकिन उस आघात के चिह्न अभी तक पैरों पर बने हुए हैं और मुख भी विकृत हो गया है।[३] यह कथन जैसे संकेतात्मक मालूम होता है। नये युग की परिस्थितियों में, पूँजीवादी व्यवस्था में मानव का गौरव खण्ड-खण्ड हो गया है, और स्वार्थ की चेष्टाओं ने उसका मुख विकृत कर दिया है। सूरदास के शरीर पर जैसे इस व्यवस्था की विकृति के दाग साफ नज़र आ रहे हैं और इतने साफ़ हैं कि मसालों के जोड़े जुड़ तो गये हैं, लेकिन अंग-भंग के चिह्न मिट नहीं पाये हैं। पूँजीवाद के रथ ने अपनी जययात्रा के मद में यदि कुछ मिटाया है, तो यह मानव का गौरव। इस दृश्य के आगेवाले दृश्य में हमें मालूम होता है कि औद्योगिक-प्रगति पूँजीवाद को साथ लेकर निरंतर अपने पथ पर बढ़ी चली जा रही है और उसे यह याद भी नहीं है कि पीछे मानव का गौरव, उसके कारण खण्ड-खण्ड हुआ पड़ा है। क्या 'रंगभूमि' इस बात को प्रकट नहीं करती। एक जगह प्रेमचन्द ने कहा है—"धन का देवता आत्मा का बलिदान पाये बिना प्रसन्न नहीं होता।"[४] पूँजीवाद तो आ गया। सूरदास के आत्मबल के रोके भी न रुका। लेकिन याद रखो, इस पूँजीवाद में यंत्रों के दानव के हाथों मानव का गौरव जो खण्ड-खण्ड हो गया है, उसे फिर अखण्ड करने की साधना, उसका पुनस्थापन करना होगा। यंत्रों की जययात्रा में मन की विकृति की कथा को प्रेमचन्द पाठक के सामने सजग रखना चाहते हैं।

---

१. पृष्ठ ५७०.
२. पृष्ठ ५६४.
३. पृष्ठ ५७०.
४. पृष्ठ ५५.

"रंगभूमि" का महत्व एक और पात्र के कारण भी है। वह पात्र है प्रभुसेवक। प्रभुसेवक कवि है और कवि की निर्द्वन्द्वता, स्वच्छन्दता उसमें आद्यन्त मिलती है। अन्तर इतना ही है कि प्रारंभ में वह आत्मसेवी के रूप में मिलता है, बाद में जनसेवी के रूप में। प्रारंभ में वह कहता है—

"मैं कुछ नहीं समझता और न कुछ समझना ही चाहता हूँ। भोजन, निद्रा और विनोद, ये ही मनुष्य-जीवन के तीन तत्व हैं। इसके सिवा सब गोरखधंधा है।"[1] एक अन्य स्थान पर वह कहता है—"मैं निर्द्वन्द्व, निश्चिन्त, निर्लिप्त रहना चाहता हूँ। एक रम्य उपवन में किसी सघन वृक्ष के नीचे, पक्षियों का मधुर कलरव सुनता हुआ काव्य-चिन्तन में मग्न पड़ा रहूँ, यही मेरे जीवन का आदर्श है।"[2] प्रभुसेवक का परिचय प्रेमचन्द ने इन शब्दों में दिया है—

"प्रभुसेवक को धर्म पर सोफ़ी से कहीं कम श्रद्धा थी, किन्तु वह अपने विचारों को अपने मन ही में संचित रखते थे। गिरजा चले जाते थे, पारिवारिक प्रार्थनाओं में भाग लेते थे। यहाँ तक कि धार्मिक भजन भी गा लेते थे। वे धर्म को गम्भीर विचार के क्षेत्र से बाहर समझते थे। वह गिरजा उसी भाव से जाते थे, जैसे थियेटर देखने जाते।"[3] और सोफ़ी, अपनी बहिन को उनकी सलाह थी, "अपने मन में चाहे जो विचार रखो, जिन बातों को जी चाहे मानो; जिनको जी न चाहे, न मानो, पर इस तरह ढिंढोरा पीटने से क्या फायदा। समाज में नक्कू बनने की क्या जरूरत। कौन तुम्हारे दिल के अन्दर देखने जाता है।"[4]

धर्म के आडम्बर और पाखण्ड के बारे में सोफ़िया और प्रभुसेवक एकमत हैं। फर्क इतना ही है कि एक धर्म के प्रश्न को गम्भीर समझती है, दूसरा अपनी निश्चिन्तता के बीच इस प्रश्न पर विचार भी नहीं करना चाहता, लेकिन क्रमशः वह इतना निरपेक्ष नहीं रह जाता। वह अपने पिता द्वारा सूरदास की ज़मीन छीनने के प्रयत्नों को अधर्म और अन्याय कहता है।[5]

प्रभुसेवक भावुक व्यक्ति है और भावना के आवेश में उसे नीति-अनीति का ध्यान नहीं रहता। तभी शान्तिप्रिय गाँववालों से सहानुभूति रखने पर भी, वह जरा से आवेश में क्रोधोन्मत्त हो जाता है[6] और आवेश के कम होते ही वह अपने किये पर पछताता है।

धीरे-धीरे प्रभुसेवक के विचारों में विस्तार आता है। उसका सख्त मन अन्याय का अकर्मण्य दर्शक बनकर नहीं रहना चाहता। एक स्थान पर वह कहता है, "प्रजा की सहनशक्ति की भी कोई सीमा होनी चाहिए और होती है। उसकी अवहेलना करके कानून ही नहीं रह सकता। उस समय उस कानून को भंग करना ही प्रत्येक विचारशील प्राणी का कर्तव्य हो जाता है......जिस आज्ञा का आधार केवल पशुबल हो, उसका पालन करना

---

१. पृष्ठ २८.
२. पृष्ठ १६३.
३ पृष्ठ ३१.
४. पृष्ठ ३१.
५. पृष्ठ ७७.
६. पृष्ठ १४२, १४३.

आवश्यक नहीं।[1]......प्रभुसेवक यह नेताओं का कर्तव्य मानता है कि प्रजा को अपने स्वत्व की रक्षा के लिए उत्तेजित करें।[2]

पिता की प्रतारणा से वाक्वीर प्रभुसेवक कर्म की ओर अग्रसर होता है। लेकिन वह केवल सेवक और सुधारवादी बनकर संतोष नहीं करता। "रिश्वतखोर कर्मचारियों पर, ज़ालिम ज़मींदारों पर, स्वार्थी अधिकारियों पर वह सदैव ताक लगाये रहते थे......उनका विचार था कि प्रजा में असंतोष पैदा करना भी सेवकों का मुख्य कर्तव्य है।[3]

'रंगभूमि' का अन्त डाक्टर गांगुली के इन शब्दों के साथ होता है, जो वे गवर्नर को संबोधित करके कहते हैं, "आप पशुबल से मुझे चुप करना चाहते हैं, इसलिए कि आपमें धर्म और न्याय का बल नहीं है। आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया, जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेंट हमारे ऊपर न्याय-बल से शासन करना चाहती है। आज उस न्याय-बल की कलई खुल गई। हमारी आँखों से परदा उठ गया और हम गवर्नमेंट को उसके नग्न, आवरणहीन रूप में देख रहे हैं। अब हमें स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि केवल हमको पीस कर तेल निकालने के लिए, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए, हमको अनन्तकाल तक चक्की का बैल बनाये रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है। अब तक जो कोई मुझसे ऐसी बातें कहता था, मैं उससे लड़ने पर तत्पर हो जाता था। मैं रिपन, ह्यूम और बेसेण्ट आदि की कीर्ति का उल्लेख करके उसे निरुत्तर करने की चेष्टा करता था। पर अब विदित हो गया कि उद्देश्य सबका एक ही है, केवल साधनों में अन्तर है।

सब मिलाकर 'रंगभूमि' राजनैतिक पक्ष में भारतीय जनता को (और नेताओं को भी) सावधान करना चाहती है कि शासकों से किसी भी प्रकार की आशा रखना गलत है। जनता को चाहिए कि अन्याय को सहने से इन्कार कर दे, नेताओं को चाहिए कि जनता में असंतोष पैदा करें। आर्थिक और सामाजिक पक्ष में 'रंगभूमि' यह याद हमेशा ताजा रखना चाहती है कि सूरदास की मूर्ति टूट गई है। कारीगरों ने मसालों से जोड़कर उसे खड़ा तो कर दिया है, लेकिन आघात के चिह्न अभी तक पैरों पर बने हुए हैं और मुख भी विकृत हो गया है। 'रंगभूमि' कहना चाहती है कि ऐसा असंतोष पैदा करो कि जनता जागकर, अपने रास्ते के रोड़ों को अलग कर सके और ऐसी मंजिल पर पहुँच सके, जहाँ उसके परों पर (प्रगति पर) पूँजीवाद के दाग न हों, जहाँ उसका मुख पूँजीवाद से विकृत न हो।

कायाकल्प

"कायाकल्प" प्रेमचन्द का ऐसा उपन्यास है, जिसकी बड़ी आलोचना हुई है। प्रायः कहा गया है कि "कायाकल्प" का मर्म स्पष्ट नहीं होता और संभवतः किसी आलोचक ने 'कायाकल्प' को ही लक्ष्य करके उन पर समय-साधना का आरोप लगाते हुए लिखा है, "राष्ट्रीय

---

१. पृष्ठ २७६.
२. पृष्ठ २७७.
३. पृष्ठ ४४२,४४३.

आन्दोलन के शिथिल पड़ जाने पर सन् २४, २५, २६ में प्रेमचन्द्र जी हिन्दू-संघटन के नेता का रूप धारण कर चुके थे और सामयिक आन्दोलन को ही वे राष्ट्रीयता का नाम देते हैं। जो इस आन्दोलन के जितना ही साथ है, वह उतना ही राष्ट्रीय है। राष्ट्रीयता की इस धारा को वे सामान्य मनुष्य धारा मानकर पूरे विश्वास के साथ राष्ट्र धर्म को मनुष्य धर्म के रूप में ग्रहण कर लेते हैं।"[१]

'कायाकल्प' की कथा के तीन भाग हैं--एक भाग का सम्बन्ध हिन्दू-मुसलिम-समस्या से है, दूसरे का किसान, प्रजा और राजा से है और तीसरा भाग राजा के अन्तःपुर का यथार्थ चित्रण है।

इस पहले भाग के संबंध में कहा गया है कि प्रेमचन्द हिन्दू-संघटन के नेता हैं। इस प्रसंग को इसी दृष्टिकोण से देखें कि प्रेमचन्द क्या संप्रदायवादी हैं। यशोदानन्दन और महमूद कालेज में पढ़ते समय सेवा-समिति के कार्यकर्ता हैं, जो साम्प्रदायिक भेदों को भूलकर जन-सेवा में संलग्न हैं। पन्द्रह वर्षों बाद देश में फैल गये साम्प्रदायिक वातावरण के बीच दोनों साम्प्रदायिकता का रास्ता पकड़ लेते हैं और जब आगरे में गाय की कुर्बानी के प्रश्न को लेकर दंगा हो जाता है तो दोनों एक दूसरे के सामने दुश्मनों की तरह खड़े हो जाते हैं। दोनों अपने-अपने धार्मिक हक़ों की बातें ज़ोर-ज़ोर से करते हैं, जिससे यह विवाद दोनों सम्प्रदायों के बीच और अधिक तनाव पैदा कर देता है। चक्रधर इन उत्तेजित हिन्दू-मुसलमानों को अपनी निर्भीकता और उदारता से जीत लेता है। उनका विवेक जागृत करके उन्हें हिंसा, द्वेष और घृणा के पथ से विरत करता है।

अध्याय २५ में देश में फैले साम्प्रदायिक वैमनस्य का यथार्थ चित्र प्रेमचन्द देते हैं।

आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती थीं। ज़रा-ज़रा सी बात पर दोनों दलों के सिरफिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग-भंग हो जाते। कहीं बनिए ने डंडी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दूकान पर धावा कर दिया। कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मुहल्ले में फौजदारी हो गई। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लुट गये। दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए, क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मज़हब के नशे में चूर थे। मुसलमानों ने वजाजे खोले, हिन्दू नचे बाँधने लगे। सुबह को ख्वाजा साहब (महमूद) हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों अपनी राजभक्ति का राग अलापते। दोनों के देवताओं के भाग्य जगे। जहाँ कुत्ते निद्रोपासना किया करते थे, वहाँ पुजारी जी की भंग घुटने लगी। मसजिदों के दिन फिरे। मुल्लाओं ने अबाबीलों को बेदखल कर दिया। जहाँ साँड़ जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हंडिया चढ़ी। हिन्दुओं ने महावीर का दल बनाया। मुसलमानों ने अली-गोल सजाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी। मसजिदों में नमाज़ की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया--जो मुसल-

---

१. पृष्ठ ९,१०.

मान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाये, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पण्डितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध, एक लाख गौदानों से श्रेष्ठ है।[१]

हिन्दू-मुसलिम समस्या के संबंध में पहली बार प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' उपन्यास में लिखा था। लखनऊ पैक्ट के बाद यह समस्या यदि हल नहीं हो गई थी, तो कम से कम इस सम्बन्ध में आरज़ी समझौता तो हो गया था। प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन के बाद देश का साम्प्रदायिक वातावरण फिर दूषित हुआ। 'कायाकल्प' ऐसे ही समय की रचना है और ऊपर की पंक्तियाँ उस दूषित वातावरण का एक दृश्य उपस्थित करती हैं। इस वातावरण में प्रेमचन्द हिन्दू संगठन के नेता हैं, ऐसा माननेवालों के लिए ख्वाजा महमूद की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं, जो उन्होंने यशोदानन्दन के दंगे में मारे जाने के बाद कही हैं—

"खुदा गवाह है, मैंने हमेशा इत्तहाद की कोशिश की। अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तहाद ही से इस बदनसीब कौम की नजात होगी। यशोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था, जितना मैं; शायद मुझसे भी ज्यादा लेकिन खुदा जाने वह कौन सी ताक़त थी, जो हम दोनों को बरसरेजंग रखती थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे, पर हमारी मर्जी के खिलाफ़ कोई ग़ैबी ताकत हमको लड़ाती रहती थी।"[२] यशोदानन्दन की पत्नी इस प्रसंग में कहती है, "नित्य समझाती रही, इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़े मरते हो। न तुम्हारे निगले वे निगले जायेंगे न उनके निगले तुम निगले जाओगे, मिलजुल कर रहो।"[३] ख्वाजा महमूद एक अन्य स्थान पर कहते हैं, "दोनों कौमों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी इज्ज़त और सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है.......मेरा तो कौल है कि हिन्दू रहो, चाहे मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बन्दे रहो। सारी खूबियाँ किसी एक ही कौम के हिस्से में नहीं आई। न सब मुसलमान देवता हैं, इसी तरह न सभी हिन्दू काफिर हैं, न सभी मुसलमान मोमिन। जो आदमी दूसरी क़ौम से जितनी ही नफ़रत करता है, समझ लीजिए कि वह खुदा से उतनी ही दूर है।"[४] यह ख्वाजा महमूद वह आदमी है, जिसने एक हिन्दू लड़की के साथ बलात्कार करने के प्रयत्न में हुए अपने बेटे के कत्ल पर एक आँसू नहीं बहाया, बल्कि कहा कि, "उसने वह फेल किया, जो इन्सानियत के दरजे से गिरा हुआ था।"[५]

प्रेमचन्द ने "कायाकल्प" में हिन्दू-मुसलिम दंगों के द्वारा उस समय की दूषित साम्प्रदायिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। यशोदानन्दन की साम्प्रदायिकता विवेक नहीं जानती। ख्वाजा इस साम्प्रदायिकता का रहस्य जानते हैं, और व्यक्त करते हैं। उनकी

१. पृष्ठ २५६.
२. पृष्ठ २६१.
३. पृष्ठ २५९, २६०.
४. पृष्ठ ४२७.
५. पृष्ठ २६६.

साम्प्रदायिकता विवशता के कारण उदित होती है और इन्सानियत के आग्रह से दब जाती है। यशोदानन्दन के साथ प्रेमचन्द ने कहीं कोई ऐसी सहानुभूति प्रकट नहीं की है, जिससे उनपर हिन्दू-संगठन के नेता का आरोप साबित हो सके। इस चित्रण के द्वारा यथार्थ परिस्थिति बताते हुए प्रेमचन्द ने निर्भीकता और अन्तर्भेदिनी दृष्टि के साथ कहा है कि इस देश में हिन्दू-मुसलिम एकता ही स्वाभाविक स्थिति है, संघर्ष की अस्वाभाविक परिस्थितियों के लिए कोई तीसरी ताकत जिम्मेदार है, जिसके हाथ में कुछ स्वार्थ के पुतले खेलने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। इस अस्वाभाविक परिस्थिति से मुक्ति का मार्ग इन्सानियत का आग्रह है और 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द साम्प्रदायिक घृणा को, मानव प्रेम से जीतने के प्रयत्न में लगे दीखते हैं। एक जगह चक्रधर कहते हैं, "मैं तो नीति को ही धर्म समझता हूँ, और सभी सम्प्रदायों की नीति एक-सी है.......बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू।"[१]

कथा का दूसरा पक्ष देशी राजाओं और उनकी खेतिहर प्रजा से संबंधित है। 'रंगभूमि' में विनय के साथ प्रेमचन्द हमें देशी राज्यों के भीतर तक ले तो गये हैं, किन्तु वहाँ की आन्तरिक परिस्थितियों से हमारा आत्मीय परिचय नहीं हो पाया है। 'कायाकल्प' में राजा और प्रजा की वास्तविक दशाओं का चित्रण करके प्रेमचन्द हमें उनके वैषम्य से परिचित कराते हैं।

जगदीशपुर रियासत इस समय रानी देवप्रिया के पास है। देवप्रिया के बाद इस रियासत का अधिकार उनके चचेरे देवर ठाकुर विशालसिंह को प्राप्त होगा। राज्य-प्राप्ति के पूर्व और उसके पश्चात् इन ठाकुर विशालसिंह की मनोवृत्ति में जो परिवर्तन होता है, उसका विस्तार से चित्रण करके प्रेमचन्द मानों यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ये देशी राज्य "काजल की कोठरी" हैं, जिनमें कैसा भी सयाना जाय, दाग़ अवश्य लगेगा।

राज्याधिकार-प्राप्ति के पहले ठाकुर विशालसिंह उदार विचारों वाले थे, जो बेगार को बुरा समझते थे और प्रजा पर अत्याचार को घोर अन्याय, जो महाजनों को जोंकें मानते थे। बेगार के बारे में वे कहते हैं, "यह महा अन्याय है। बेचारी प्रजा तबाह हुई जाती है। आप देखेंगे कि मैं इस प्रथा को क्योंकर जड़ से उठा लेता हूँ।"[२] ठाकुर साहब बदलते हुए ज़माने की दुहाई देते हुए कहते हैं, "चमारों को इलाके से निकालना दिल्लगी नहीं है.... चारों तरफ देखते हैं कि जमाना पलट गया, यहाँ तक कि किसान और मज़दूर राज करने लगे, पर अब भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं। इस देश से न जाने कब यह प्रथा मिटेगी। प्रजा तबाह हुई जाती है। आप देखेंगे, मैं रियासत को क्या से क्या कर दिखाता हूँ। काया-पलट कर दूँगा। सुनता हूँ, पुलिस आये दिन इलाके में तूफ़ान मचाती रहती है। मैं पुलिस को वहाँ कदम न रखने दूँगा। इन जातियों के हाथों प्रजा तबाह हुई जाती है।"[३] महाजनों के बारे में वे कहते हैं, "ये बला के चघड़ होते हैं। मुझे तो इनके नाम से चिढ़ है। मेरा

---

१. पृष्ठ २२७.
२. पृष्ठ ५०.
३. पृष्ठ ५०.

वश चले, तो आज इन सबों को तोप पर उड़ा दूँ। जितना डर मुझे इनसे लगता है, उतना साँप से भी नहीं।"[१] रियासत के सुधार के संबंध में उनकी अपनी योजना है, जिसमें अन्याय, अत्याचार और पुलिस के अनाचारों को दूर करने के सिवा वे सड़कों को दुरुस्त करना चाहते हैं। शक्कर की मिल खोलकर उद्योगों को प्रोत्साहन देना चाहते हैं......वे कहते हैं, "इलाके में एकबार रामराज्य स्थापित कर दूँगा, कंचन बरसने लगेगा।"[२]

ठाकुर विशालसिंह इतने उदार व्यक्ति हैं कि चक्रधर की सेवासमिति के सदस्य बन जाते हैं[३] और जब उन्हें राज्याधिकार प्राप्त होते हैं, वे उस अवसर पर कहते हैं, "मैं इस समय यह भी जताना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि मैं अत्याचार का घोर शत्रु हूँ और ऐसे पुरुषों को, जो प्रजा पर अत्याचार करने में अभ्यस्त हो रहे हैं, मुझसे ज़रा भी नरमी की आशा न रखनी चाहिए।[४] और निश्चय करते हैं कि गद्दी के उत्सव के लिए मैं प्रजा का गला नहीं दबाऊँगा।"[५]

लेकिन यह तब की बात है, जब ठाकुर साहब ने "काजल की कोठरी" में पैर नहीं रखा था। पैर रखते ही परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। उत्सव के लिए नज़राना इकट्ठा किया जाता है और यद्यपि राजा साहिब ने केवल खुशी से वसूल करने की हिदायत दी थी, वसूली करने में सख्ती भी बरती जाती है। नतीजा यह होता है कि एक ओर प्रजा और सेवा-समिति के लोग हो जाते हैं, दूसरी ओर राजा विशालसिंह और उनके कर्मचारी। जो चक्रधर अब तक विशालसिंह के गुण गाते न थकता था, यह कहने के लिए विवश हो जाता है—

"सारा देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, फिर भी हम अपने भाइयों की गर्दन पर छुरी रखने से बाज़ नहीं आते। इतनी दुर्दशा पर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। जिनसे लड़ना चाहिए उनके तो तलवे चाटते हैं और जिनसे गले मिलना चाहिए, उनकी गर्दन दबाते हैं और यह सारा जुल्म हमारे पढ़े-लिखे भाई ही कर रहे हैं........हमारी शिक्षा ने हमें पशु बना दिया है। राजा साहब की जात से लोगों को कैसी-कैसी आशाएँ थीं, लेकिन अभी गद्दी पर बैठे छः महीने भी नहीं हुए और इन्होंने भी वही पुराना ढंग अख्तियार कर लिया। प्रजा से डंडों के जोर से रुपये वसूल किये जा रहे हैं और कोई फ़रियाद नहीं सुनता।"[६] सरल हृदय मनोरमा के इस कथन में बड़ा तथ्य है, "यह तो मरे को मारना हुआ। इसे हुकूमत नहीं कहते। यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मुर्दे और गिद्ध का तमाशा है।"[७]

गद्दी के उत्सव के समय जो दृश्य विशेष विस्तार के साथ दीख पड़ता है, वही अपने संक्षिप्त रूप में देशी राज्यों की दैनिक स्वाभाविकता है। एक ओर विलास का नंगा नाच और दूसरी ओर वे मज़दूर जो छाती फाड़-फाड़ कर काम कर रहे थे, भूखों मरते थे। कोई उनकी खबर तक न लेता था। काम लेने को सब थे, पर भोजन पूछनेवाला कोई न

---

१. पृष्ठ ५१.
२. पृष्ठ ५१.
३. पृष्ठ ९२.
४. पृष्ठ १०५.
५. पृष्ठ १११
६. पृष्ठ १३२.
७. पृष्ठ १३३.

था........दिन भर धूप में जलते, रात क्षुधा की आग में............असंतोष बढ़ता जाता था ।[१]

और निस्संदेह असंतोष बढ़कर भड़का भी। चक्रधर इस विद्रोह के नेता थे। इस प्रसंग में राजा विशालसिंह स्वीकार करते हैं कि, "मैं प्रजा का गुलाम नहीं हूँ। प्रजा मेरे पैरों की धूल है। मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूँ, वैसा सलूक करूँ। किसी को हमारे और हमारी प्रजा के बीच में बोलने का हक नहीं है।"[२] वे राजा की निरंकुश सत्ता के प्रतीक नजर आते हैं। चक्रधर उन्हें जवाब देता है, "आपको अपने मुँह से ये शब्द निकालते हुए शर्म आनी चाहिए थी। अगर संपत्ति से इतना पतन हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज संसार में कोई नहीं। आपके भाव कितने पवित्र थे, कितने ऊँचे। आप प्रजा पर अपने को अर्पण कर देना चाहते थे। आप कहते थे, मैं प्रजा को अपने पास बेरोक-टोक आने दूँगा। उनके लिए मेरे द्वार हमेशा खुले रहेंगे। आप कहते थे, मेरे कर्मचारी उनकी ओर टेढ़ी निगाह से भी देखेंगे, तो उनकी शामत आ जायगी। वे सारी बातें क्या आपको भूल गई? और इतनी जल्द?"[३]

संघर्ष होता है, निरस्त्र जनता मारी जाती है। चक्रधर गिरफ्तार होता है, उस पर मुकदमा चलाया जाता है। संघर्ष का विश्लेषण करते हुए चक्रधर से राजा साहब का कथन है कि आप उनके आत्मसम्मान की रक्षा करते हैं और मैं उनके प्राणों की।[४] लेकिन यह तो अर्ध सत्य है। असंतोष भड़काकर प्रेमचन्द उन गरीबों में आत्मसम्मान तो जाग्रत करना चाहते हैं लेकिन राजा साहब क्या सचमुच प्रजा के प्राणों की रक्षा करते हैं। तभी चक्रधर कहते हैं, "जब तक असंतोष के कारण दूर न होंगे, ऐसी दुर्घटनाएँ होंगी और फिर होंगी। मुझे आप पकड़ सकते हैं, कैद कर सकते हैं। इससे चाहे आपको शान्ति हो, पर वह असंतोष अणुमात्र भी कम न होगा, जिससे प्रजा का जीवन असह्य हो गया है। असंतोष को भड़काकर आप प्रजा को शान्त नहीं कर सकते। हाँ, उन्हें कायर बना सकते हैं।[५] लेकिन कायर बनाए रखना भी एक सीमा तक ही संभव है, इसके बाद विद्रोह।"

राजा साहब बुरे नहीं, परिस्थितियोंवश बुरे हो जाते हैं। वे कहते हैं, "ईश्वर जानता है, मेरे मन में प्रजा हित के कैसे-कैसे हौसले थे। मैं अपनी रियासत में रामराज्य का युग लाना चाहता था, पर दुर्भाग्य से परिस्थिति कुछ ऐसी होती जाती है कि मुझे वे सभी काम करने पड़ते हैं, जिनसे मुझे घृणा थी। न जाने वह कौन सी शक्ति है, जो मुझे अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने के लिए मजबूर कर देती है.......मैं हिंसक-जन्तुओं से घिरा हुआ हूँ।"[६]

और चक्रधर की विचारधारा में प्रगति के तत्व तेजी से प्रकट हो रहे थे। वे सोचते,

---

१. पृष्ठ १३५, १३६.
२. पृष्ठ १४४.
३. पृष्ठ १४५.
४. पृष्ठ १५३.
५. पृष्ठ १५४, १५५
६. पृष्ठ १६०.

ईश्वर ने ऐसी सृष्टि की रचना ही क्यों की जहाँ इतना स्वार्थ, द्वेष और अन्याय है। क्या ऐसी पृथ्वी न बन सकती थी, जहाँ सभी मनुष्य, सभी जातियाँ, प्रेम और आनन्द के साथ संसार में रहतीं? यह कौन-सा इन्साफ है कि कोई तो दुनियाँ के मज़े उड़ाये, कोई धक्के खाये। एक जाति दूसरी का रक्त चूसे और मूँछों पर ताव दे, दूसरी कुचली जाय और दाने को तरसे। ऐसा अन्यायमय संसार ईश्वर की सृष्टि नहीं हो सकती। पूर्वसंस्कार का सिद्धान्त ढोंग मालूम होता है, जो लोगों ने दुखियों और दुर्बलों के आँसू पोंछने के लिए गढ़ लिए हैं।[१]

इसी के साथ पराधीनता को चक्रधर शिक्षालय मानते हैं, जो हमें स्वराज्य के सिद्धान्त सिखाता है, हमारे पुराने संस्कारों को मिटाता है, हमारी मुंदी हुई आँखें खोलता है।[२]

चक्रधर जेल से छूटने के बाद यह धारणा और निश्चय लेकर लौटता है कि "हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हे नहीं मालूम होती, न उन्हें वह शक्ति ही हाथ आती है, न जनता पर उनका वह प्रभाव ही पड़ता है, जिसके बग़ैर राजनीति सफल हो ही नहीं सकती।"[३]

लेकिन काजल की कोठरी में पहुँचते ही उनकी भी सद्वृत्तियाँ गायब हो जाती हैं। उनमें परिवर्तन होने लगते हैं। दया का पुतला क्रोध की मूर्ति बन जाता है। गाँव के एक किसान पर वे अत्याचार कर बैठते हैं, जिसे देखकर उनपर श्रद्धा करने वाला और उनकी प्रेरणा से सत्यपथ पर लग जानेवाला धन्ना सिंह कह उठता है, "यह तुम कैसे बदल गये। अगर आँखों से न देखता होता, तो मुझे कभी विश्वास न आता। जरूर तुम्हें कोई ओहदा या जायदाद मिल गयी।"[४]

निस्संदेह यह काजल की कोठरी सत्ता और दौलत की ईंटों से बनी है, जिसमें दम्भ और स्वार्थ आ बैठे हैं और जिसका यह गुण है कि सद्वृत्तियों को दबाकर कुवृत्तियों को उभारती हैं। ठाकुर विशालसिंह बदल जाते हैं, चक्रधर बदल जाते हैं।

इस घटना का चक्रधर पर गहरा असर पड़ता है। वे सोचते हैं, "जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्होंने एक निर्बल प्राणी पर हाथ उठाया था। जिसका समस्त जीवन दीन-जनों की सहायता में गुजरा हो, उसमें यह कायापलट नैतिक पतन से कम न थी। आह, मुझ पर भी प्रभुता का जादू चल गया.......अब मुझे अनुभव हो गया कि इस वातावरण में रहकर मेरे लिए अपनी मनोवृत्तियों को स्थिर रखना असाध्य है।"[५]

चक्रधर की आत्मा अभी मरी नहीं है, इसलिए वे इस प्रभुता के प्रभाव से अपने को मुक्त करने में समर्थ हो पाते हैं। वे एक आधी रात में सबको सोता छोड़कर निष्क्रमण करते हैं। जिस समय वे चुपचाप घर से बाहर कदम रखते हैं, इस प्रभुता का प्रतीक राजा विशाल-सिंह का महल, उन्हें सहस्र नेत्रोंवाले पिशाच की भाँति जान पड़ा, जिसने उनका सर्वनाश

---

१. पृष्ठ २२१.

२. पृष्ठ २२१.

३. पृष्ठ २५३.

४. पृष्ठ ३२४.

५. पृष्ठ ३३३.

कर दिया था। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर देखकर हँस रहा है और कह रहा है, क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चले जाने से यहाँ किसी को दुख होगा ? इसकी चिन्ता न करो, यहाँ यही बहार रहेगी, यों ही चैन की वंशी बजेगी। तुम्हारे लिए कोई दो बूँद आँसू भी न बहायेगा। जो लोग मेरे आश्रय में आते हैं, उनकी मैं कायाकल्प कर देता हूँ। उनकी आत्मा को महानिद्रा की गोद में सुला देता हूँ।[१]

चक्रधर ने परिस्थितियों से बचने के लिए जीवन से वैराग्य ले लिया।

आज के मानव-जीवन में यह धन एक पिशाच की तरह है, जो आत्मा को सुला देता है और सद्वृत्तियों का "कायाकल्प" कर देता है। कायाकल्प यहाँ आमूल परिवर्तन के अर्थ में प्रयुक्त मानना चाहिए। क्या उपन्यास का 'कायाकल्प' नाम इसी आधार पर है ?

हिन्दू-मुसलिम समस्या के साथ यह राजसी धन के दानव की कथा जोड़ने में प्रेमचन्द का क्या कोई उद्देश्य निहित है ? शायद हाँ। भारतीय परिस्थितियों में दोनों एक विशिष्ट सत्ता के साथ इस देश में प्रविष्ट हुए हैं और उसी सत्ता के अनुग्रह पर जीवित हैं। हिन्दू-मुसलिम संघर्ष के संबंध में ख्वाजा महमूद कहते हैं कि हमारी मर्जी के खिलाफ कोई ग़ैबी ताकत हमको लड़ाती रहती है। इसी तरह देशी राज्यों के राजसी पिशाच के संबंध में राजा विशालसिंह कहते हैं, "न जाने कौन सी शक्ति है, जो मुझे अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने के लिए मजबूर कर देती है।"

प्रेमचन्द 'कायाकल्प' (सन् १९२८) में इस बात की ओर इशारा करना चाहते हैं कि देश की वर्तमान परिस्थितियों में दुर्भाग्य के कीटाणु किसी "ग़ैबी या न जाने कौन-सी" ताकत की प्रेरणा से मालीय वातावरण में फैल गये हैं और जिनके कारण देश की हवा दूषित हो गई है और देश का स्वास्थ्य बिगड़ गया है। 'कायाकल्प' में साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को एक साथ रखकर प्रेमचन्द दोनों के प्रति भारतीय-मन में साथ-साथ असंतोष पैदा करना चाहते हैं।

'कायाकल्प' की कथा का तीसरा हिस्सा ऐसा है, जिसके संबंध में प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है कि उपन्यासकार अपने रचनाकाल में एक ऐसी भी कृति लिखकर छोड़ जाना चाहता है, जिसमें वह जन-जीवन के रहस्यों के भीतर पैठकर कुछ चिरन्तन तत्त्व बाहर ला सकता है। इसी हिस्से के संबंध में यह भी कहा गया है कि यह अंग्रेजी के उपन्यासकार राइडर हैगर्ड की प्रसिद्ध कृति "शी" से प्रेरित है। डा० रामरतन भटनागर इस प्रसंग के संबंध में यह कहते हैं—"जन्म-जन्मान्तर में प्रेम-प्रसंग के चित्रित करने में क्या तथ्य है ? जान पड़ता है स्त्री पुरुष के संबंध को वे दो स्तरों पर रखकर देख रहे हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रखकर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद अप्राप्य है। वासना की झाँई पड़ते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा आदर्श है, दिव्य आदर्श है। हमारे सबके लिए तो सामाजिक और व्यावहारिक स्तर ही ठीक है, जहाँ स्त्री-पुरुष के लिए विवाह के सूत्र में बाँधकर जीवन पर्यन्त और एक की मृत्यु के बाद दूसरे

---

१. पृष्ठ ३४८

को इस मर्यादा की रक्षा करनी है। जन्म-जन्मान्तरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला ही है। परन्तु विवाह तन का नहीं, मन का है।"[1] डा० रामविलास शर्मा कहते हैं, "ऐसा लगता है कि देवप्रिया को जितने नौजवान मिलते हैं, वह उन्हें अपने पूर्व जन्म का पति कहकर इस जन्म का पति भी बना लेती है।"[2]

इस कथा-भाग में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं—एक तो राजाओं का विलास-जीवन, जिसके संबंध में डा० रामविलास शर्मा कहते हैं कि "यहाँ प्रेमचन्द ने निष्काम राजाओं की काम-चेष्टाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।"[3] दूसरी है, प्रेम का तत्व दर्शन और तीसरी है प्रणय-परिणय के विभिन्न स्वरूप, जिनमें नारी का अन्तर्मन झांकता मिलता है।

'रंगभूमि' में हमने सुना है कि राजाओं का जीवन बड़ा निरंकुश और विलासपूर्ण है। यहाँ उसका सजीव चित्र मिलता है। रानी देवप्रिया का जीवन केवल दो शब्दों में समाप्त हो जाता था—विनोद और विलास।[4] रियासत उनके भोग-विलास का साधन मात्र था। प्रजा को क्या कष्ट होता है, उन पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, सूखे-झूरे की विपत्ति क्योंकर उनका सर्वनाश कर रही है? इन बातों की ओर कभी उनका ध्यान न जाता था। उन्हें जिस समय जितने धन की जरूरत हो, उतना तुरन्त देना मैनेजर का काम था। वह ऋण लेकर दे, चोरी करे या प्रजा का गला काटे, इससे उन्हें कोई प्रयोजन न था।[5]

देवप्रिया के जाने के बाद राजा विशालसिंह सत्ताधिपति हुए। पुत्र की कामना से वे एक के बाद दूसरी शादी करते चले जाते थे और पत्नी को प्रत्येक बार सूँघे हुए फूल की भाँति फेंक देते थे। उन्होंने राज्य को निरंकुशता से, स्वेच्छा से भोगा। जब प्रसन्न हैं, तो प्रजा पर अत्याचार का अनुपात कम हो जाता था, जब दम्भवश या किसी और कारणवश रुष्ट हुए तो प्रजा पर आ बनती थी। मनोरमा के सम्पर्क में राजा साहब उदार बन जाते हैं और उससे रुष्ट होने के बाद, उनके अत्याचार बढ़ जाते हैं।

राजाओं के विलासी-जीवन के प्रभाव समाज पर पड़े बिना कैसे रहें। राजाओं के लिए विलास के प्रसाधन जुटाने में जनता तबाह हो जाती है, उसके श्रम से प्राप्त की गई सम्पत्ति का अंश राजा के खजाने में से निकल कर पानी की तरह अपव्यय होता है। विलासी राजा अपने विलासों में मग्न रहने के कारण प्रजा का सेवक हो ही नहीं सकता और विलासी राजा के राज्य में विलास ही नियम हो जाता है।

देवप्रिया-प्रसंग इस विलास-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उसमें से कोई निष्कर्ष निकालना चाहता है। देवप्रिया राजा विशालसिंह के अग्रज की विधवा है। विलास और विनोद में जिसका जीवन समाप्त है, ऐसी देवप्रिया बुढ़ापे में अतृप्त तृष्णा और अपूर्ण विलासाराधना लिए हुए है। वह बीते हुए यौवन को वापिस लाने के लिए भगीरथ प्रयत्नों में लगी रहती है और

---

१. पृष्ठ १२५.

२. प्रे० यु० पृष्ठ ७९.

३. प्रे० यु० पृष्ठ ८२.

४. पृष्ठ ६४.

५. पृष्ठ ६५.

युवकों की यौवन-क्रीड़ाओं के बीच अपने बुढ़ापे को भूल जाना चाहती हैं। उसकी एक ही साध है कि मेरे सौंदर्य-दीपक पर युवक पतंगों की भाँति आकर गिरें। सुधा-सिंधु की बूँदों से बीती हुई जवानी को कुछ क्षणों के लिए वापिस लाकर वह कृतकृत्य हो जाती हैं। मनोरमा जैसी बालिका के सामने भी वह हावभावों की निर्लज्ज व्याख्या करते संकुचित नहीं होती।

जब राजकुमार इन्द्र विक्रम सिंह के साथ वह वार-वनिता जैसा आचरण करती है, तो राजकुमार अपने संयम का साथ नहीं छोड़ता। यह रानी के लिए अद्‌भुत व्यवहार था। "उन्होंने पुरुष को सदैव विलास की एक वस्तु समझा था। प्रेम से उनका हृदय कभी आन्दोलित न हुआ था। वह लालसा ही को प्रेम समझती थीं। उस प्रेम से जिसमें त्याग और भक्ति है, वह वंचित थीं। लेकिन इस समय उन्हें उसी प्रेम का अनुभव हो रहा था..... उनका अन्तःकरण उन्हें राजकुमार से वासनामय व्यवहार करने पर धिक्कार रहा था। राजकुमार का देवस्वरूप ही उनकी वासना-तृप्ति को लज्जित कर रहा था।"[१]

राजकुमार और देवप्रिया के इस दृश्य से जान पड़ता है कि झूठे यौवन के प्रेम में देवप्रिया अपने चिर-परिचित को, प्रेम के देवता को भूल जाती है, उस यौवन का नशा उतरते ही वह उसे पहिचान जाती है।[२]

नौवाँ अध्याय इस संसार के परे के लोक की काल्पनिक तस्वीर है, जिसमें जन्मान्तर-वाद को मानते हुए किन्हीं अद्‌भुत क्रियाओं के द्वारा स्मृति को जगाकर पूर्व जन्म का ज्ञान हो सकने की संभावना को सत्यता प्रदान की गई है। यहीं राजकुमार देवप्रिया के मोह को दूर करते हुए कहते हैं, "प्रिये, तुम्हें मालूम है विवाह का सम्बन्ध देह से नहीं, आत्मा से है। क्या आत्मा अनन्त और अमर नहीं है।"[३]

ये राजकुमार देवप्रिया के मृत पति ही हैं, जो पुनर्जन्म लेकर आये हैं। देवप्रिया राजपाट छोड़कर अपने पति के चरणों में अपने आपको चढ़ाकर उनके साथ चली जाती है। इस दृश्य में यह और जान पड़ता है कि पतिचरणानुरक्ता होने के बाद भी देवप्रिया का मोह और दौर्बल्य विद्यमान है।

दृश्य ३१ में देवप्रिया का पुनर्जन्म, 'कायाकल्प' होने का वर्णन है। महेन्द्र की साधना के फलस्वरूप उसे अपना विगत यौवन प्राप्त होता है। इस सफल कायाकल्प के क्षण में उसे अपने पूर्व जीवन की सारी बातें याद थीं। वैधव्य-काल की विलासिता भीषण रूप धारण करके उसके सामने खड़ी थी। एक क्षण तक लज्जा और ग्लानि के कारण वह कुछ बोल न सकी। अपने पति की इस प्रेममय तपस्या के सामने उसका विलासमय जीवन कितना घृणित, कितना लज्जास्पद था।[४]

दृश्य ३३ में महेन्द्र और देवप्रिया के मिलन की कथा है, जिसमें संयम की असह्यता के कारण वे कामवश हो जाते हैं। यह तृष्णा उनके पतन का कारण होती है।

---

१. पृष्ठ ७१, ७२
२. अध्याय ८.
३. पृष्ठ ८६.
४. पृष्ठ ३१३.

हर्षपुर के राजकुमार महेन्द्र शंखधर के रूप में जन्म लेते हैं और देवप्रिया हर्षपुर की महारानी कमला के रूप में। शंखधर को न पहिचान सकने के कारण कमला जब उनका परिचय पूछती है, तो शंखधर उत्तर देता है--

"क्या मुझे इतनी जल्दी भूल गई कमला। क्या इस रूपान्तर ही से तुम्हें यह भ्रम हो रहा है। मैं वही हूँ, जिसने न जाने कितने दिन हुए, तुम्हारे हृदय में प्रेम के रूप में जन्म लिया था और तुम्हारे प्रियतम के रूप में तुम्हारे सत, व्रत और सेवा से अमर होकर आज तक उसी अपार आनन्द की खोज में भटकता फिरता है........प्रिये, कह नहीं सकता, कितनी बार तुम्हारे हृदय-मंदिर के द्वार पर भिक्षुक बनकर आया, लेकिन दो बार आना याद है। मैंने उसे खोलकर अन्दर आना चाहा, पर दोनों ही बार असफल रहा। वही अतृप्त आकांक्षा मुझे फिर खींच लाई है और........"[1]

और कमला के रूप में देवप्रिया जब अपने प्रियतम के चरणों में अपने आपको अर्पित कर देने की बात सोचती है, तब अपनी शारीरिक अवस्था की याद से उसके उन्मत्त हृदय को ठेस लगती है। यौवन काल के रूपलावण्य के लिए उसका मन लालायित हो उठता है।[2] शंखधर रूपी महेन्द्र पुनः उसके कायाकल्प के द्वारा काल के चिह्नों को मिटा देने का संकल्प करता है।

शंखधर और कमला हर्षपुर से जगदीशपुर आते हैं। यहाँ शंखधर को लगता है कि "युवती देवप्रिया अब वह रानी कमला नहीं है, जो हर्षपुर में तप और व्रत में मग्न रहती थी। वे सभी वासनाएँ जो रमणी के हृदय में लहरें मारा करती हैं, उदित हो गयी हैं।"[3] और शंखधर स्वयं सोचते हैं, "मेरे बार-बार जन्म लेने का हेतु क्या है? क्या मेरे जीवन का उद्देश्य जवान होकर मर जाना ही है? क्या मेरे जीवन की अभिलाषाएँ कभी पूर्ण न होंगी?"[4]

किन्तु जैसे ही वासना के उन्मत्त आलिंगन में दोनों बँधते हैं, वैसे ही शंखधर का जीवन-दीप बुझने लगता है। निर्वाण के पूर्व शंखधर कहते हैं, "प्रिये, फिर मिलेंगे। यह लीला उस दिन समाप्त होगी, जब प्रेम में वासना न रहेगी।"[5] शंखधर के अवसान के बाद देवप्रिया कमला के रूप में जगदीशपुर का शासन करती है। लेकिन अब वह तपस्विनी देवप्रिया है।[6]

देवप्रिया-प्रसंग का प्रारंभ उनके विलासिनी रूप से होता है और वह तपस्विनी रूप पर खत्म होता है। इस क्रम में महेन्द्रसिंह, विक्रमसिंह और शंखधर रूप में उसके पति उसे नये-नये जन्मों में प्राप्त होते हैं। अलौकिकता के आवरण में ढाँककर यहाँ किस चिरंतन तथ्य की स्वीकृति मिलती है, वह है, मन की वासना से प्रेम में परिणति। जिस दिन तृष्णा नहीं रह जायगी, उसी दिन जीवन की मुक्ति हो जायगी। प्रेमचन्द प्रेम के आत्मिक, वासना

---

१. पृष्ठ ४३३.
२. पृष्ठ ४३४.
३. पृष्ठ ४६६.
४. पृष्ठ ४६७.
५. पृष्ठ ४६८.
६. पृष्ठ ४७५.

से परे के रूप को जीवन मुक्ति का साधन मानते हैं और उसे तपस्या से संभव मानते हैं, विलास को वे अतृप्ति और दुख का कारण समझते हैं।

ऐसे ही आध्यात्मिक निष्कर्ष प्रेमचन्द ने अहल्या और मनोरमा के जीवन-क्रम से प्राप्त किये हैं। दोनों में वैभव का प्रेम है, जो प्रेम के जीवनपोषी स्वरूप को दबा देता है।

प्रेम और प्रणय यथार्थतः नारी के अनेक रूप 'कायाकल्प' में मिलते हैं—

(१) ठाकुर हरिसेवक और लौंगी।
(२) रोहिणी और रा० विशालसिंह।
(३) मनोरमा और चक्रधर।
(४) मनोरमा और विशालसिंह।
(५) अहल्या और चक्रधर।
(६) यशोदानन्दन और वागीश्वरी।

विशालसिंह के लिए शादी विलास का एक नया आयोजन हुआ करती थी। उन्होंने तीन शादियाँ पहले कीं, जो पारिवारिक सुख और आत्मिक संतोष की दृष्टि से असफल रहीं। चौथी शादी उन्होंने मनोरमा से की। मनोरमा उन्हें प्यासे पथिक के लिए तीन गन्दे तालाबों के बीच मीठे ताज़े जल की गागर लिए जान पड़ी। लेकिन मनोरमा का जीवन राजा साहब के साथ सुखी न हो सका। उसने चक्रधर पर राजा साहब को तरज़ीह देकर, अपना भविष्य नष्ट कर लिया। मनोरमा ने कच्ची बुद्धि में यौवन जैसा अमूल्य रत्न देकर जो सोने की गुड़िया खरीदी थी, वह अब किसी पक्षी की भाँति उसके हाथों से उड़ गई थी। उसने सोचा था, "जीवन का वास्तविक सुख धन और ऐश्वर्य है, किन्तु अब बहुत दिनों से उसे ज्ञात हो रहा था कि जीवन का वास्तविक सुख कुछ और ही है और वह उससे आजीवन वंचित रही है।"[१]

इसी प्रकार अहल्या और चक्रधर का विवाहित जीवन सुखी न हो सका। उसने ऐश्वर्य भोग में अपने सुख को खो दिया। वह धनलिप्सा के जाल में फँस गई और जब मरी तो निराशा में मुरझाकर।

मनोरमा और अहल्या दोनों चक्रधर के प्रति आकृष्ट होती हैं, लेकिन दोनों उसे पाकर भी धनलिप्सा में खो बैठती हैं।

रोहिणी के जीवन की करुणा के पृष्ठ पर पुरुष के अत्याचार स्पष्ट लिखे हैं। स्वयं रोहिणी पति से कहती है, "आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। आपने वही किया, जो सभी पुरुष करते हैं।.....स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है, कभी उनके पैरों की जूती। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है। यह आपका दोष नहीं। हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसीलिए बनाया ही है। हमें यह सब चुपचाप सहना चाहिए। गिला या मान का दण्ड बहुत कठोर होता है और विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है।"[२]

---

१. पृष्ठ ४०१.
२. पृष्ठ ३७५, ७६.

इन असफल प्रेम कथाओं के बीच दो नारी पात्र बरबस ध्यान आकृष्ट करते हैं। एक है लौंगी, दूसरी है बागीश्वरी।

लौंगी ठाकुर हरिसेवक की रखैल है। मृत्यु के कुछ समय पूर्व ठाकुर साहब स्वयं लौंगी के बारे में कहते हैं, "उस दशा में (पत्नी की मृत्यु के बाद) इसी लौंगी ने मेरी रक्षा की थी। उसकी सेवा ने मुझे मुग्ध कर दिया। उसे तुम लोगों (संतानों) पर प्राण देते देखकर उस पर मेरा प्रेम हो गया। मैं उसके स्वरूप और यौवन पर न रीझा....... मैं लौंगी के हृदय पर मुग्ध हो गया।"[1] इसी प्रकार ठाकुर साहब के बड़े पुत्र लौंगी से कहते हैं, "जिस वक्त मेरी माता का स्वर्गवास हुआ, उस वक्त उनकी (पिताजी की) जवानी की उम्र थी। मगर उनका कट्टर से कट्टर शत्रु भी आज यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उनके आचरण खराब थे। यह तुम्हारी ही सेवा की जंजीर थी, जिसने उन्हें बाँध लिया। नहीं तो आज हम लोगों का कहीं पता न होता.........तुम्हारे नाम के साथ मेरी और मेरे पूर्व बाप की इज्जत बँधी हुई है।"[2] ऐसी नारी के प्रेम का प्रतिदान उसका प्रेमी इस रूप में देता है कि बेटा-बेटी को मरते वक्त कह जाता है, "लौंगी को देखो" और बेटा-बेटी भी पिता की आज्ञा के साथ-साथ सहज प्रेम के भाव से अपनी इस माँ के सच्चे बेटे बन जाते हैं।

बागीश्वरी का चरित्र-गौरव यशोदानन्दन की मृत्यु के बाद प्रकट होता है। बागीश्वरी कहती है, 'जब तक स्वामी जीते रहे, उनकी सेवा करने में सुख मानती थी। तीर्थ, व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उनकी सेवा ही में था। अब वह नहीं हैं, तो उनकी मर्यादा की सेवा कर रही हूँ। आज भी उनके भक्त मेरी मदद करने को तैयार हैं। लेकिन क्यों किसी की मदद लूँ।"[3] और सम्पत्ति पर अपने आपको खो देनेवाली उसकी बेटी, माँ के इस गौरव को देखकर लज्जित रह जाती है। बागीश्वरी की आदर्श पति-भक्ति देखकर उसकी आत्मा उसका तिरस्कार कर रही थी। अभागिनी...इसे पति-भक्ति कहते हैं। सारे कष्ट झेलकर स्वामी की मर्यादा का पालन कर रही है......सारे कष्ट झेलती है और खुशी से झेलती है।"[4]

नारी के इन रूपों के द्वारा प्रेमचन्द पुरुष-नारी सम्बन्ध की व्यंजना करते हुए प्रेम का आदर्श रूप रखना चाहते हैं। नारी और पुरुष के आदर्श सम्बन्धों का एक ही रास्ता है। सेवा का, मर्यादा का जैसा लौंगी में मिलता है, बागीश्वरी में मिलता है, अन्यथा तृषा, वैभव और संपत्ति में प्रेम वैसे ही खो जाता है जैसे आग में पानी की बूँद। तब देवप्रिया, मनोरमा और अहल्या के समान अशान्ति और निराशा ही हाथ लगती है। रोहिणी को खिलौना और जूती समझनेवाले विशालसिंह से प्रेमचन्द कहना चाहते हैं, "ठाकुर हरिसेवक को देखो।"

'कायाकल्प' में दो प्रकार के कल्प मिलते हैं, एक वह जो नित नये भोगों के लिए देवप्रिया कराती है, दूसरा वह जो धन वैभव का दानव निर्मल से निर्मल मन का कर देता है। 'कायाकल्प' वासना को प्रेम, और वैभव को सेवा में बदल देने के सत्य सामने रखता है।

---

१. पृष्ठ ३५९.

२. पृष्ठ ३७१.

३. पृष्ठ ४१६.

४. पृष्ठ ४१७.

ग़बन

'ग़बन' के लिखने में प्रेमचन्द के दो उद्देश्य निहित हैं। एक ओर वे मध्यवित्त-वर्ग का यथार्थ जीवन चित्रित करना चाहते हैं, और दूसरी ओर पुलिस के कारनामों का पर्दाफाश करके उसकी वास्तविकता से हमें परिचित कराना चाहते हैं। इस नाते 'गबन' पूर्णरूपेण यथार्थवादी उपन्यास है। यद्यपि 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' को भी यथार्थवादी उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन इनमें किसी न किसी रूप में आदर्शवाद का समावेश हो गया है। 'ग़बन' में प्रेमचन्द ने जीवन को जैसा देखा है, वैसा ही चित्रित कर दिया है। इसमें कोई समस्या को उठाकर उसका आदर्शवादी हल देने की प्रवृत्ति नहीं मिलती, किसी चरित्र पर अस्वाभाविक ढंग से आदर्शवाद का आरोप नहीं मिलता। प्रारंभ से अन्त तक जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के चित्रांकन के द्वारा प्रेमचन्द ने तीसरी दशाब्दी के अन्तिम और चौथी दशाब्दि के प्रथम चरण में देश की राजनैतिक और सामाजिक जो परिस्थिति थी, उसे अंकित कर दिया है, इसीलिए इसमें प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दर्शन नहीं होते।

'ग़बन' की कथा के दो पक्ष हैं। पूर्वार्द्ध, जो इलाहाबाद में घटित होता है और उत्तरार्द्ध जिसकी घटनाओं का क्षेत्र कलकत्ता है। पूर्वार्द्ध मध्यवित्त वर्ग के एक परिवार की कथा है और उत्तरार्द्ध राजनैतिक चेतना की पृष्ठभूमि पर पुलिस के कारनामों का विशद वर्णन है। दोनों कथाओं के परस्पर असम्बद्ध सूत्रों को उपन्यास के मुख्य पात्र रमानाथ के द्वारा जोड़ दिया है और नारी की आभूषण 'प्रियता' कथा के प्रवाह को गति प्रदान करती है।

'ग़बन' रमानाथ की कथा है। रमानाथ का परिवार एक मध्यवित्त परिवार है। मध्यवर्ग के मनोविज्ञान का प्रेमचन्द ने खूब ध्यान से अध्ययन किया है और उसकी सभी मुख्य विशेषताओं को विस्तार से वर्णित किया है।

मुंशी दीनदयाल की बेटी जालपा और दयानाथ के बेटे रमानाथ की शादी हो जाती है। शादी में दिल खोलकर खर्च किया जाता है। मुंशी दीनदयाल के लिए शादी का खर्च कोई बड़ी बात नहीं थी, क्योंकि यद्यपि उनका वेतन कुल पाँच रुपये था, "उनकी आय के और कौन से मार्ग थे, यह कौन जानता है।"[१] लेकिन दयानाथ के लिए शादी में किया गया खर्च एक समस्या बन जाता है। शादी के बाद उन्हें जान पड़ता है कि अपनी सामर्थ्य से ज्यादा वे खर्च कर चुके हैं, बड़ा कर्ज उन पर हो गया है। रमानाथ घर का खर्च घटाने के बजाय अभी घर पर भारस्वरूप हैं और बहू जालपा एक चन्द्रहार के लिए जैसे रूठी हुई है।

मध्यवित्त वर्ग की कमजोरी उसका दिखावा होता है। दयानाथ ने दिखावे के लिए शादी में खर्च कर दिया और रमानाथ का दिखावा! प्रेमचन्द ने लिखा है, "रमानाथ इधर दो साल से बिलकुल बेकार था.......दोस्तों की बदौलत शौक पूरा होता था। किसी का चेस्टर माँग लिया और शाम को हवा खाने निकल गये। किसी का पंप शू पहन लिया, किसी की घड़ी कलाई पर बाँध ली। कभी बनारसी फैशन में निकले, कभी लखनवी फैशन में। दस मित्रों ने एक-एक कपड़ा बनवा दिया तो दस सूट बदलने का साधन हो गया। सहकारिता

---

१. पृष्ठ ७.

का यह बिलकुल नया उपयोग था। लेकिन इस दिखावे की पराकाष्ठा वह है, जब घर आई नई बहू के आगे ससुर और पति दोनों अपना आडम्बर बनाये रखना चाहते हैं। उन्होंने शादी के लिए उधार जेवर लिये। अगर उधार की रकम नहीं पटा पाये तो बहू से माँगकर जेवर लौटाये जा सकते थे। लेकिन ऐसा करने में बहू और समाज दोनों के सामने लज्जित होना पड़ता, इसलिए समाज के सामने लज्जा बचाये रखने के लिये, बाप-बेटे अपनी आत्मा का सौदा करने को तैयार हो जाते हैं।

"दयानाथ को एक उपाय सूझा। बोले, 'अगर उन गहनों के बदले मुलम्मे के गहने दिये जायें।' मगर तुरन्त ही उन्हें यह ज्ञात हो गया कि यह लचर बात है। खुद ही उसका विरोध करते हुए कहा—'हाँ, बाद को जब मुलम्मा उड़ जायगा तो फिर लज्जित होना पड़ेगा। अक्ल कुछ काम नहीं करती। मुझे तो यही सूझता है कि यह सारी स्थिति उसे समझा दी जाय। ज़रा देर के लिए उसे दुःख तो जरूर होगा, लेकिन आगे के वास्ते रास्ता साफ़ हो जायगा।'

"संभव था, जैसा दयानाथ का विचार था कि जालपा रो-धोकर शान्त हो जायगी। पर रमा की इसमें किरकिरी होती थी। फिर वह मुँह न दिखा सकेगा। जब वह उससे कहेगी, तुम्हारी ज़मींदारी क्या हो गई। बैंक के रुपये क्या हुए, तो उसे क्या जवाब देगा।"[1] लेकिन जो मुलम्मे के जेवर देते लज्जित होते हैं, सही बात बहू से कह देने में लज्जा का अनुभव करते हैं, वे थोड़े से संकोच के बाद बहू के जेवर चुराकर कर्ज पूरा करने में लज्जित नहीं होते। चोरी पर किसका जोर? और फिर अब बहू हमें इतना फटेहाल नहीं समझेगी।"[2]

'ग़बन' की करुणा को आलोचक केवल नारी की आभूषण-प्रियता के कारण मानते हैं। लेकिन इस ट्रेजिडी की ज़िम्मेदारी मध्यवर्ग की उस मुलम्मेचढ़ी सामाजिक स्थिति के आडम्बर पर है, जो अपने आत्मीयों के सामने भी अपने पीतल को सोना कहने की ओट उड़ाया करता है।

इस चोरी की घटना के बाद भी यदि घर की वास्तविक स्थिति बहू के सामने अगोपन कर दी जाती, तो शायद 'ग़बन' की कथा आगे न बढ़ पाती, लेकिन जिस लज्जा और संकोच ने चोरी की स्थिति ला दी, उसी के कारण जालपा और रमानाथ पति-पत्नी होते हुए भी एक दूसरे को समझने में असमर्थ रहे। जालपा समझती रही कि इतने सम्पन्न घर में रहने पर भी वह आभूषणों की अपनी स्वाभाविक लालसा यदि पूरी नहीं कर पा रही, तो यह इन सबकी निष्ठुरता है, बेरुखी है और रमानाथ सोचता रहा कि अपने बारे में जैसी तसवीर जालपा को दी है, उसकी सच्चाई प्रमाणित करने के लिए यह आवश्यक है कि वह बहू को कुछ गहने बनवाये। लेकिन चुंगी का मुंशी इतना कमाता ही कहाँ है कि छोटे-मोटे गहने के लिए भी रुपया बचा सके।

प्रेमचन्द ग़बन के पूर्वार्द्ध को नारी की आभूषणप्रियता मात्र की ट्रेजेडी नहीं बनाना चाहते, किन्तु मध्यवर्ग के खोखलेपन को भी इसका उत्तरदायित्व सौंपना चाहते हैं। यह बात

१. पृष्ठ २३.
२. पृष्ठ २७.

इससे भी ज़ाहिर होती है कि रमानाथ बड़े घरों में मेल-जोल बढ़ाने के लिए अपनी सामर्थ्य से अधिक व्यय करता रहता है और इन सबके सामने अपने आपको रईसजादा घोषित करने में संकोच नहीं करता। ऐसे लोगों का बड़ा करुण चित्र प्रेमचन्द्र ने पन्द्रहवें अध्याय में खींचा है, जहाँ रमानाथ-परिवार वकील साहब और रतन जैसे सम्भ्रान्त नागरिकों को दावत के लिए माँगी हुई चीजों से अपने घर को सजाता है। यहाँ रवीन्द्रनाथ के "नयनजोर" के बाबुओं की याद आ जाती है। लेकिन 'नयनजोर' के बाबुओं की कथा राजा के भिखारी बनने की करुण-कथा है, रमानाथ की कथा भिखारी के राजा की नकली पोशाक पहनकर राजा अनुभव करने की दयनीय-कथा है। दोनों स्थितियाँ करुण हैं। सामाजिक आर्थिक दृष्टि से एक सामन्तवाद के खण्डहर की कहानी है और दूसरी पूंजीवादी व्यवस्था में मध्यवर्ग के ताज के महल की कहानी है।

'ग़बन' की घटना को रमानाथ नाम के किसी व्यक्ति विशेष का चरित्र-दोष नहीं मानना चाहिए, वह जैसे आज के इस कृत्रिम समाज की परिस्थितियों का अनिवार्य परिणाम है। जिस प्रकार पकड़ी गई चोरी चोरी है, नहीं तो कुशलता में उसका शुमार होता है, उसी प्रकार मारी हुई रकम का अगर पता चल गया तो ग़बन है, नहीं तो आज के समाज में उसे कमाई का एक ढंग कह सकते हैं, जिसका एक रूप रिश्वत भी है। क्या रिश्वत समाज के प्रति ग़बन नहीं है। शायद इसलिए नहीं कि उसका साधारण तौर से पता नहीं चल पाता। कानून का विश्लेषण चोरी, रिश्वत और ग़बन को अलग-अलग समझता है और उन्हें अलग-अलग धाराओं के अन्तर्गत रखता है, लेकिन समाज की नैतिकता की दृष्टि से इन तीनों में कोई फर्क नहीं है। रमानाथ के प्रसंग में घर में चोरी, समाज में रिश्वत और नौकरी में ग़बन तीनों ही बातें घटित होती हैं। इन तीनों की जिम्मेदारी क्या रमानाथ नाम के एक व्यक्ति पर है? क्या आज का सारा का सारा समाज, रमानाथ के ढाँचे में ढला हुआ नहीं है? समाज में अपवाद अगर हैं, तो नियम को सिद्ध ही करते हैं।

आज की पूँजीवादी व्यवस्था में जहाँ धन ही सब कुछ है, वहाँ धन को धर्म की तरह कमाया जाता है और धर्म की कमाई कैसे होती है? यह कलकत्ते का दातादीन बताता है। एक दानी सेठ के बारे में वह कहता है, "उसे पापी कहना चाहिए, महापापी। दया तो उसके पास से होकर ही नहीं निकली। उसकी जूट की मिल है। मजूरों के साथ जितनी निर्दयता इस मिल में होती है; और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटर से पिटवाता है, हंटरों से। चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखों कमा लिये। कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे, तो तुरन्त तलब काट लेता है। अगर साल में दो-चार हज़ार दान न कर दे तो पाप का धन बचे कैसे! ...."[१] इस अवस्था में अगर किसी की हालत दयनीय है, तो वह मध्य-वर्ग की है, जो उच्चवर्ग के साथ नाता जोड़ना चाहता है और इस सम्बन्ध-स्थापन के लिए अपने वित्त से परे प्रयत्न करता है, लेकिन जिसकी हालत निरन्तर गिरती चली जा रही है। कह सकते हैं कि मध्यवर्ग ऐसी कच्ची बुनियाद की इमारत है, जो समय के साथ धँसती चली जा रही है, लेकिन जो अपनी वास्तविक स्थिति को छिपा कर महलों के समकक्ष खड़े होने का दावा करती है।

---

१ पृष्ठ २०५.

जालपा और रमानाथ की तरह 'दो बहनें' कहानी में गुरुसेवक और रामदुलारी भी सभ्यता के नाम पर चलनेवाली चकाचौंध में फँस जाते हैं। प्रेमचन्द कहते हैं, "जिस समाज में दौलत पुजती है, जहाँ मनुष्य का मोल उसके बैंक एकाउण्ट और टीमटाम से आँका जाता है, जहाँ पग-पग पर प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ है और समाज की कुव्यवस्था आदमी में ईर्ष्या, द्वेष, अपहरण और नीचता के भावों को उकसाती और उभारती रहती हैं; गुरुसेवक और रामदुलारी उस जाल में फँस जायँ, उस प्रवाह में बह जायँ, तो कोई अचरज नहीं।"[१]

अपने को समाज में सम्भ्रान्त बनाने की महती साधना में इस वर्ग को कितने बड़े-बड़े त्याग करने पड़ते हैं, इसका उदाहरण रमानाथ है। चाहे नारी की आभूषण-प्रियता हो, चाहे अपने आपको समाज में बड़ों के समकक्ष बिठाने के लिए अच्छे रहने-पहिनने का आग्रह हो, दोनों प्रयत्नों का उद्देश्य एक ही है। लेकिन दोनों मध्यवर्ग की सामान्य औकात के परे की बातें हैं, इसीलिए यह चोरी, यह रिश्वत, यह ग़बन, ये सारे समाज-विरोधी आचरण हैं। पूँजीवाद जिस स्वार्थ की नींव पर खड़ा है, उसमें पूँजीपति रिश्वत देता है और मध्यवर्ग का व्यक्ति रिश्वत लेकर पूँजीपति का स्वार्थ साधता है और रिश्वत से भी पूरा नहीं पड़ता तो सरकारी रकमों में गोलमाल करने का नम्बर आता है। यही गोलमाल ग़बन है, जो जब तक पकड़ा नहीं जाता, ग़बन नहीं कहलाता।

इस देश में गहनों की लोकप्रियता के दुर्भाग्य के संबंध में रमेश बाबू के द्वारा प्रेमचन्द ने कहलाया है, "गहनों का मरज न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों के भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के लिए प्राण देते हैं......बस, यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे, वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही होगा।[२]......दस दस, बीस बीस रुपये पाने वाले क्लर्कों को देखता हूँ, जो सड़ी हुई कोठरियों में पशुओं की भाँति जीवन काटते हैं, जिन्हें सबेरे का जलपान तक मयस्सर नहीं होता उन पर भी गहनों की सनक सवार है। इस प्रथा से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। मैं तो कहता हूँ, यह गुलामी पराधीनता से कहीं बढ़कर है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।......हमारा देश योरप नहीं है। वहाँ के लोग धनी हैं। वह धन लुटायें, उन्हें शोभा देता है। हम दरिद्र हैं। हमारी कमाई का एक पैसा भी फ़जूल न खर्च होना चाहिए।"[३]

आभूषणप्रियता की आम कमजोरी जालपा में किसी विशेष अनुपात में प्रकट नहीं हुई। जालपा कहती है, "क्या मैं गहनों पर और स्त्रियों से ज्यादा जान देती हूँ।"[४] लेकिन यह कमजोरी घातक इसलिए हो गई कि रमानाथ ने अपनी और अपने घर की स्थिति के संबंध में बढ़ा-चढ़ाकर बातें कह रखी थीं। कभी-कभी वह अपनी "झूठी मर्यादा की रक्षा"[५]

---

१. पृष्ठ ९६. कफ़न

२. पृष्ठ ६५.

३. पृष्ठ ६५, ६६.

४. पृष्ठ १६०.

५. पृष्ठ ६९.

के दुष्परिणामों का अनुभव और कल्पना करके दुखी होता है। लेकिन उसने क्षणिक मोह और संकोच में पड़कर अपने जीवन के सुख और शान्ति का होम कर दिया।[१] यह समझकर कि इस प्रकार वह अपनी पत्नी को अधिक सुखी रख सकेगा, उसने उसके लिए अपने वित्त से अधिक रकम के गहने उधार लिए। जब उधार की रकम न पटा पाया, तो उसने ग़बन किया और जब सरकारी रुपयों का इन्तजाम न कर पाया, तो भाग गया।

यहाँ से कथा का उत्तरार्द्ध प्रारम्भ होता है।

रमानाथ घर से भागता है। रेल में उसकी मुलाकात देवीदीन नाम के खटीक से होती है, जो कलकत्ते में शाक-भाजी का धंधा करता है, जिसके पके हुए बालों ने समाज को भीतर-बाहर खूब देखा है। देवीदीन के यहाँ रमानाथ को न केवल आश्रय मिलता है बल्कि रमानाथ देवीदीन के घर में परिवार का एक अंग बनकर रहता है।

कलकत्ते में कुछ दिन के आवास में ही एक घटना घटित होती है। किसी दानी सेठ के यहाँ से रमानाथ कम्बल ले आया। कम्बल सम्बन्धी एक घटना 'कायाकल्प' में भी मिलती है। चक्रधर की विपन्नता से दुखी होकर उसकी पत्नी लेख लिखकर कमाती है और इन पैसों से पति के लिए कम्बल खरीदती है। यह बात चक्रधर के अहंकार को ठेस पहुँचाती है। वह सोचता है, रुपया कमाना उसका काम है, और तब उस कम्बल का रोआँ सर्प की भाँति उसे काटने दौड़ा।[२] रुपया कमाना पुरुष का पुरुषार्थ है, न कमा सके तो यह उसके लिए शर्म की बात है। यहाँ रमानाथ कमाता है तो बुद्धि से, कौशल से। वह रिश्वत लेता रहा है और इसी को पुरुषार्थ मानता रहा है। "रिश्वत बुद्धि से, कौशल पुरुषार्थ से मिलती है।"[३] यह रिश्वतखोरी समाज में लज्जा की बात है। लेकिन यह तो जघन्यता है कि पुरुष दान पर जीवित रहे। "दान पौरुषहीन कर्महीन या पाखंडियों का आधार है।"[४] 'कायाकल्प' से आगे 'ग़बन' में मध्यवर्ग का व्यक्ति पुरुषार्थ से नहीं रिश्वत से, दान से अपनी जीविका निर्वाह करता बताया गया है।

कलकत्ते आने के क्षण से लेकर पुलिस द्वारा हिरासत में लिये जाने के क्षण तक रमानाथ के चरित्र का कोई विकास नहीं मिलता है। हाँ, एक अपराधी के मनोविज्ञान के दर्शन जरूर जगह-जगह होते हैं। इस अवधि में प्रेमचन्द ने देवीदीन के चरित्र पर बड़ा गहरा प्रकाश डाला है और उसकी देशभक्ति तथा प्रगतिशील-भावनाओं के प्रति हमारा आदर जाग्रत किया है। देवीदीन स्वदेशी का अनन्य पुजारी है। स्वदेशी के व्यवहार में वह अटल नियम का पालन करता है। वह रमानाथ को विदेशी कपड़ों की दूकानों पर पिकेटिंग करने के अपने पारिवारिक संस्मरण सुनाता है। गर्व से अपने उन शहीद बेटों की याद करता है, जिन्होंने पिकेटिंग करते-करते अपनी जानें दे दीं, और तेजवान मुद्रा में कहता है, "जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न-जल खाते हैं, उसके लिए इतना भी न करें तो जीने को धिक्कार है।"[१]

---

१. पृष्ठ ८९.
२. का० क० पृ० ३०१, ३०४.
३. पृष्ठ २०५.
४. पृष्ठ २०५.

इसी प्रसंग में देवीदीन अपने समय के नेताओं की आलोचना करता है। 'कायाकल्प' में चक्रधर भी जब जेल से आता है, तो यह धारणा लेकर आता है कि "हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती।" यहाँ 'ग़बन' में प्रेमचन्द नेताओं की अपनी करनी के असामंजस्य को बड़े मार्मिक शब्दों में प्रकट करते हैं। "इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है। छोकरियों की भाँति बिसूरने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देशभक्तों को बिना बिलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, तो एक भी देसी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सब सामान बिलायती है। सबके सब भोगविलास में अंधे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी। उस पर दावा यह कि देश का उद्धार करेंगे। अरे, तुम क्या देश का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार कर लो। ग़रीबों को लूटकर बिलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसलिए तुम्हारा इस देश में जन्म हुआ है। हाँ, रोये जाव, बिलायती शराबें उड़ाओ, बिलायती मोटरें दौड़ाओ, बिलायती मुरब्बे और अचार चखो, बिलायती बरतनों में खाओ, बिलायती दवाइयाँ पीओ, पर देश के नाम को रोये जाओ। मुदा इस रोने से कुछ न होगा। रोने से माँ भी दूध पिलाती है, शेर अपना शिकार नहीं छोड़ता। रोओ उसके सामने, जिसमें दया और धरम हो। तुम धमकाकर ही क्या कर लोगे? जिस धमकी में कुछ दम नहीं है, उस धमकी की परवाह कौन करता है। एक बार यहाँ एक बड़ा भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले-कूदे। जब वह नीचे आये, तब मैंने उनसे पूछा, साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तब कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है। तुम भी बड़ी तलब लोगे, तुम भी अंग्रेजों की तरह जंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाए घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्यान होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बन्दों की जिन्दगी भले आराम और ठाट से गुजरे पर देश का तो कोई भला न होगा। बस बगलें झाँकने लगे। तुम दिन में पाँच बेर खाना चाहते हो और वह भी बढ़िया माल! गरीब किसान को एक जून चबेना भी नहीं मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हें हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उनकी ओर जाता है। अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।"[१]

इस बात पर रमानाथ तर्क करता है, "यह तो नहीं है, दादा कि पढ़े-लिखे लोग किसानों का ध्यान नहीं करते। उनमें से कितने ही खुद किसान थे, या हैं। उन्हें अगर विश्वास हो जाय कि हमारे कष्ट उठाने से किसानों का कोई उपकार होगा और जो बचत होगी, वह किसानों के लिए खर्च की जायगी, तो वह खुशी से कम वेतन पर काम करेंगे। लेकिन जब वह देखते हैं कि बचत दूसरे हड़प जाते हैं, तो वह सोचते हैं, अगर दूसरों को ही खाना है, तो हम क्यों न खायें।"[२]

---

१. पृष्ठ २१८, २१९.
२. पृष्ठ २१९.

दातादीन भविष्यभेदी वाणी में कहता है—"तो सुराज मिलने पर दस-दस, पाँच-पाँच हजार के अफ़सर नहीं रहेंगे। वकीलों की लूट नहीं रहेगी। पुलिस की लूट बन्द हो जायगी।"[१]

ये विचार प्रेमचन्द ने अपनी प्रसिद्ध कहानी "आहुति" में स्पष्टता से व्यक्त किये हैं। आनन्द और रूपमणि बातें कर रहे हैं, आनन्द ने कड़वेपन से कहा, "यही तो स्वराज्य का मजा है कि ज़मीन्दार, वकील और व्यापारी सब मरें। बस, केवल मजदूर और किसान रह जायँ..." रूपमणि ने आस्तीन चढ़ाते हुए कहा, "तो तुम क्या चाहते हो कि ज़मींदार और व्यापारी ग़रीबों को चूस-चूसकर मोटे होते जायँ और जिन सामाजिक व्यवस्थाओं में ऐसा महान अन्याय हो रहा है, उनके खिलाफ जबान तक न खोली जाय। तुम तो समाज-शास्त्र के पण्डित हो। क्या किसी अर्थ में भी यह व्यवस्था आदर्श कही जा सकती है? सभ्यता के तीन मुख्य सिद्धान्तों का ऐसी दशा में किसी न्यूनतम मात्रा में भी व्यवहार हो सकता है।'

आनन्द ने गर्म होकर कहा, "शिक्षा और संपत्ति का प्रभुत्व हमेशा रहा है और हमेशा रहेगा। हाँ, उसका रूप भले ही बदल जाय।"

रूपमणि ने आवेश में कहा—अगर स्वराज्य आने पर भी संपत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनों की धनलोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं, स्वदेशी हैं। कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जान की जगह गोविन्द बैठ जायँ। मैं समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ, जहाँ कम-से-कम विषमता को आश्रय न मिल सके।"[२]

अपनी कमज़ोरी के कारण रमानाथ पुलिस के चंगुल में फंस जाता है। फिर पुलिस के हथकण्डे उसे अपना काम निकालने के लिए तैयार करते हैं और उसका दुर्बल अपराधी मन तैयार हो जाता है। एक डाके में झूठी गवाही देने के लिए रमानाथ मजबूर किया जाता है और बदले में इलाहाबाद में उस पर कायम हो गये काल्पनिक ग़बन के जुर्म से उसे छुड़ाने और साथ ही अच्छी-खासी नौकरी का लोभ उसे दिया जाता है। डाके की गवाही के बारे में उसे समझा दिया जाता है कि उसकी गवाही से सच्चे अपराधियों को सजा दिलाने में आसानी हो सकेगी। रमानाथ पुलिस के जाल में फँस जाता है। वह पुलिस की तरफ से इकबाली गवाह, सरकारी गवाह बन जाता है।

"सरकारी गवाह का आशय छिपा हुआ नहीं है। समाज में उसकी जो निन्दा और अपकीर्ति होती है, वह भी छिपी नहीं है। सरकारी गवाह क्यों बनाये जाते हैं, किस तरह उन्हें प्रलोभन दिया जाता है, किस भाँति वह पुलिस के पुतले बनकर अपने ही मित्रों का गला घोंटते हैं, यह भी प्रकट है।"[१] तभी देवीदीन भी रमानाथ के गवाह बन जाने के बारे

---

१. पृष्ठ २१९.
२. कफ़न पृष्ठ १०६, १०७.
३. पृष्ठ २९९.

में कहता है, "इनकी दावत होगी, बंगला रहने को मिलेगा, नौकर मिलेंगे, मोटर मिलेगी।"[१] ......लेकिन जालपा सरकारी गवाह बनने को "कायरता, पतन और बेहयाई।"[२] मानती है।

रमानाथ के ग़बन करके भागने के बाद से जालपा के चरित्र का विकास होता है। चाहें तो कह सकते हैं कि पुरुष की छत्रछाया में नारी का चारित्रिक विकास स्वतंत्र रूप से न होकर पुरुष की मनोवृत्तियों के साँचे में ढलता है। रमानाथ ने विलास के रास्ते जालपा का प्रेम पाना चाहता था। इसीलिए वह उसके ऊँचे हृदय को कभी समझ नहीं पाया। उसने नारी को आभूषणों की चकाचौंध दिखाकर जीतना चाहा था, लेकिन तृष्णा के रास्ते तृप्ति नहीं होती।

जालपा के हृदय की सरलता इन आभूषणों की चकाचौंध में से साफ-साफ झलकती है। एक जगह वह भारतीय नारी की निष्ठा की मूर्ति बनकर रमानाथ से कहती है—

"मैं तुम्हारी सज्जनता पर मोहित हूँ। अब तुमसे क्या छिपाऊँ? जब मैं यहाँ आयी, तो यद्यपि तुम्हें अपना पति समझती थी, लेकिन कोई बात कहने या करते समय मुझे चिन्ता होती थी कि तुम उसे पसन्द करोग या नहीं। यदि तुम्हारे बदले मेरा विवाह किसी दूसरे पुरुष से हुआ होता तो उसके साथ भी मेरा यही व्यवहार होता। यह पत्नी और पुरुष का रिवाजी-नाता है।"[३]

एक अन्य स्थान पर वह रमानाथ के सामर्थ्य से अधिक रकम के आभूषण लाने के संबंध में अपना स्पष्ट विरोध व्यक्त करती है—

"जब तुम्हारी आमदनी इतनी कम थी, तो गहने लिये ही क्यों? मैंने तो कभी ज़िद न की थी और मान लो, मैं दो-चार बार कहती थी तो तुम्हें समझ-बूझकर काम करना चाहिए था......आदमी सारी दुनिया से परदा रखता है, लेकिन अपनी स्त्री से परदा नहीं रखता। तुम मुझसे परदा रखते हो। अगर मैं जानती, तुम्हारी आमदनी इतनी थोड़ी है तो मुझे क्या शौक चर्राया था कि मुहल्ले भर की स्त्रियों को ताँगे पर बैठा-बैठाकर सैर कराने ले जाती......मैं क्या जानती थी कि तुम मुझसे छल कर रहे हो, कोई वेश्या तो थी नहीं कि तुम्हें नोच-सोटकर अपना घर भरना मेरा काम होता। म तो भले-बुरे दोनों ही की साथिन हूँ। भले में तुम चाहे मेरी बात मत पूछो, लेकिन बुरे में तो मैं तुम्हारे गले पड़ूँगी ही।"[४]

तो 'ग़बन' की ट्रेजेडी का दायित्व नारी की आभूषण-प्रियता पर नहीं, पुरुष की वंचनावृत्ति पर है, जो मध्यवर्ग की सामान्य कमजोरी कही जा सकती है।

अगर रमानाथ का दुर्भाग्य नारी की आभूषणप्रियतावश होता, तो रमानाथ के भागने के बाद जालपा के चरित्र का गौरवशाली पृष्ठ न खुल पाता। रमानाथ के भागते ही वह आभूषण बेचकर सरकारी रुपये जमा करती है। कुछ से कर्ज चुकाती है। अपने

---

१. पृष्ठ २८७.
२. पृष्ठ २९९
३. पृष्ठ ११७.
४. पृष्ठ १४७.

शृंगार की सारी सामग्री गंगा में प्रवाहित कर देती है और इस ट्रेजिडी की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेकर अपने किये का प्रायश्चित्त करने में लग जाती है। कुशलता से रमानाथ का पता लगाकर वह कलकत्ते पहुँचती है। उसे रमानाथ की नीचता पर दुःख होता है कि वह सरकारी गवाह बन गया। जिस जालपा ने तत्परता से रमानाथ को ग़बन की बदनामी से बचाया, वह रमानाथ को आत्मिक-पतन से बचाने में लग गई। उसने गुप्त ढंग से रमानाथ के पास खबर भिजवाई कि प्रयाग में उस पर कोई मुकदमा नहीं है। लेकिन जो रमानाथ भयवश पाप की ओर प्रवृत्त हुआ था, अब लोभवश उसमें लिप्त हो जाता है। जालपा रमानाथ को साफ शब्दों में बता देती है कि "क्या तुम इतने गये-बीते हो कि अपनी रोटियों के लिए दूसरों का गला काटो। मैं इसे नहीं सह सकती। मुझे मज़दूरी करना, भूखों मर जाना मंजूर है। बड़ी से बड़ी विपत्ति जो संसार में है, वह सिर पर ले सकती हूँ, लेकिन किसी का अनभल करके स्वर्ग का राज भी नहीं ले सकती।"[1] और उसे भर्त्सित करते हुए कहती है, "अगर तुम्हें यह पाप की खेती करनी है, तो मुझे आज ही यहाँ से विदा कर दो। मैं मुँह में कालिख लगाकर यहाँ से चली जाऊँगी और फिर तुम्हें दिक करने न आऊँगी। तुम आनन्द से रहना। मैं अपना पेट मेहनत-मजूरी करके भर लूंगी।"[2]

लेकिन रमानाथ पाप के रास्ते पर लग चुका है। वह जालपा के सामने स्वीकार करता है कि इसका दुःख मुझे भी है कि मेरे हाथों इतने आदमियों का खून हो रहा है। लेकिन परिस्थिति ने मुझे भी लाचार कर दिया है। मुझमें अब ठोकरें खाने की शक्ति नहीं है। न मैं पुलिस से रार मोल ले सकता हूँ। दुनियाँ में सभी थोड़े ही आदर्श पर चलते हैं। मुझे क्यों ऊँचाई पर चढ़ाना चाहती हो, जहाँ पहुँचने की शक्ति मुझमें नहीं है।"[3]

रमानाथ नहीं सँभलता। वह झूठी शहादत देता है, जिससे बेचारे बेगुनाहों को सज़ा हो जाती है। जालपा क्रोधोन्मत्त मूर्ति बनकर रमानाथ की नीचता, कायरता और पतन पर उसकी भर्त्सना करती है।

तब कहीं रमानाथ की आँखें खुलती हैं। यहाँ जालपा पति के किये पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए एक ग़रीब अभियुक्त के यहाँ सेवा-टहल करने लगती है, वहाँ रमानाथ जज के सामने सारी हकीकत बयान कर देता है। फलस्वरूप फिर मुकदमा चलता है और अभियुक्त रिहा कर दिये जाते हैं। रमानाथ भी बरी हो जाता है।

जालपा के सिवा एक और पात्र है, जो रमानाथ के हृदय पर असर करता है, वह है ज़ौहरा वेश्या, जो पुलिस की निगरानी में रहते समय रमानाथ को बहलाने के लिए नियुक्त की गई थी। प्रेमचन्द वेश्याओं के प्रति प्रारंभ से ही सहृदय रहे हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि वेश्याएँ परिस्थितियोंवश समाज और पुरुष के अनुदार दृष्टिकोण के कारण बनती हैं। अगर उन्हें अनुकूल वातावरण मिले तो वे सुधर भी सकती हैं। ज़ौहरा इसका ज्वलंत

---

१. पृष्ठ ३२३.
२. पृष्ठ ३२४.
३. पृष्ठ ३२३.

उदाहरण है, जिसके संबंध में कहा गया है कि जालपा के त्याग, सेवा और साधना से प्रभावित होकर वह सत्य का पथ ग्रहण कर लेती है। उसके जीवन का अंत डूबते हुओं को बचाने के प्रयत्न में होता है। "जौहरा ने अपनी सेवा, आत्मत्याग और सरल स्वभाव से सभी को मुग्ध कर लिया था। अपने अतीत को मिटाने के लिए, अपने पिछले दागों को धो डालने के लिए उसके पास इसके सिवा और क्या साधन था? उसकी सारी कामनाएँ, सारी वासनाएँ सेवा में लीन हो गईं। कलकत्ते में वह विलास और मनोरंजन की वस्तु थी। शायद कोई भला आदमी उसे अपने घर में न घुसने देता......जौहरा ने कलकत्ते में जालपा से केवल उसके साथ रहने की भिक्षा माँगी थी। अपने जीवन से घृणा हो गई थी। जालपा की विश्वासमयी उदारता ने उसे आत्मशुद्धि के पथ पर डाल दिया। रतन का पवित्र निष्काम जीवन उसे प्रोत्साहित किया करता था।"[1]

'ग़बन' का सबसे दयनीय पात्र रमानाथ है और सबसे करुण रतन। 'रतन' प्रसंग को 'निर्मला' की कथा का 'पुनश्च' मानना चाहिए। नारी की विवशता इससे अधिक क्या होगी कि वह जैसे चाहे पात्र-कुपात्र के साथ ब्याह दी जाय और पति की मृत्यु के बाद अपने उचित अधिकार से भी वंचित कर दी जाये। "निर्मला" की नायिका "कुपात्र" से ब्याहे जाने के विरोध में मौत की घड़ी में भी अपना स्वर ऊँचा करती है। 'ग़बन' की रतन संयुक्त परिवार के विरोध में चिल्लाकर कहती है, "न जाने किस पापी न यह कानून बनाया था कि स्त्री का पति की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं है। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी—क्या तेरे घर में माँ-बहिनें न थीं? तुम्हें उनका अपमान करते लज्जा न आई? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती—"बहिनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नहीं छोड़ा तो तुम अकेली रहो, चाहे परिवार में, एक ही बात है। तुम अपमान और मजूरी से नहीं बच सकती। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है तो अकेली रहकर भोग सकती हो, परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काँटों की शय्या है, तुम्हारी पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जानेवाला जन्तु है।"[2]

प्रेमचन्द इन शब्दों में नारी की असहाय पारिवारिक और सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए संयुक्त परिवार-प्रथा के विरुद्ध अपना मत देते हैं। ग्राम-व्यवस्था के स्थान पर जो नई व्यवस्था आ गई है, वह सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर नहीं, व्यक्तिवाद के आधार पर है, जिसमें संयुक्त परिवार प्रथा उपयोगी नहीं, हानिकारक ही सिद्ध होगी, क्योंकि जहाँ ग्राम-व्यवस्था में परिवार का प्रत्येक व्यक्ति परिवार की जिम्मेदारी किसी-न-किसी रूप में

---

१. पृष्ठ ४१७.

२. पृष्ठ ३३७.

बाँट लेने से बच नहीं सकता था, वैसी बात अब नहीं रह गई। फिर संपत्ति-संबंधी कानूनों के बीच नारी की हालत तो इस संयुक्त परिवार प्रथा में और अधिक खराब हो गई है। प्रेमचन्द के अनुभव की बात होगी कि संयुक्त परिवार प्रथा समाज के लिए प्रगति और स्वास्थ्य की द्योतक नहीं है।

'ग़बन' का प्रारंभ शहर की हलचलों के बीच होता है और कथा जैसे-जैसे बढ़ती है वह शहर की और अधिक हलचलों के बीच पहुँच जाती है। कलकत्ते के झूठे जीवन की झाँकी देकर प्रेमचन्द कथा के अंत में उपन्यास के प्रमुख पात्रों को शान्ति की भूमि में ले जाते हैं। यह भूमि ऐसी है, जिसमें धोखा, छल, प्रपंच नहीं है; अशान्ति, अतृप्ति नहीं है, जहाँ लोग अधर्म की कमाई पर जीवित नहीं रहते, जहाँ श्रम का महत्व है।

"चैत्र की शीतल सुहावनी स्फूर्तिमयी संध्या, गंगा का तट, टेसुओं से लहलहाता हुआ ढाक का मैदान, बरगद का छतनार वृक्ष, उसके नीचे बँधी हुई गायें, भैंसें, कद्दू और लौकी की बेलों से लहराती हुई झोपड़ियाँ, न कहीं गर्द न गुबार, न शोर न गुल, सुख और शान्ति के लिए क्या इससे भी अच्छी जगह हो सकती है? नीचे स्वर्णमयी गंगा, लाल-काले-नीले आवरण से चमकती हुई मंद स्वरों में गाती, कहीं लपकती, कहीं झिझकती, कहीं चपल, कहीं गम्भीर अनन्त अंधकार की ओर चली जा रही है......

"शाम हो गई है। गायें-भैंसें हार से लौटीं। जग्गो ने उन्हें खूँटे से बाँधा और थोड़ा भूसा लाकर उसने सामने डाल दिया। इतने में देवी और गोपी बैलगाड़ी पर डाँठ लादे हुए आ पहुँचे। दयानाथ ने बरगद के नीचे ज़मीन साफ कर रखी है। वहीं डाठें उतारी गईं। यही इस बस्ती का खलिहान है....."[१]

ऐसा जान पड़ता है कि जीवन की घोर प्रवंचनाओं से ऊबकर प्रेमचन्द फिर गाँव की सादी जिन्दगी की ओर जाना चाहते हैं। एक सीमा तक यह सच भी है। प्रेमचन्द जैसा व्यक्ति, जो जीवन की सरलता का हामी है अगर इन पाखण्डों-प्रपंचों के बीच गहरी उकताहट दिखाये और श्रम और शान्ति के सरल जीवन की ओर लौटना चाहे तो कोई अचरज नहीं है। प्रेमचन्द घटनाओं की अनिवार्य गति के बीच निरंतर रास्ता बनाकर चलते हुए भी इस बात का मोह और सुखद स्वप्न कभी नहीं भूल पाये कि मशीनों के इस युग में मनुष्य खो गया है, उसके सुख शान्ति खो गये हैं, उसके भीतर की कोमल वृत्तियाँ जड़ हो गई हैं। इन सबके बीच काश, गाँव का सरल सादा सहृदय जीवन फिर वापिस आ जाता!

लेकिन ऐसा है नहीं, शायद परिस्थितियों के प्रवाह में ऐसा मुमकिन भी नहीं है। तब फिर प्रेमचन्द बैठकर परिस्थितियों से किनारा काटकर दिवास्वप्न में खो जायेंगे? नहीं, अगर यह कल्पना का जीवन वापिस नहीं आयगा, तो जो आयगा उसे वे पुरुष के पुरुषार्थ के साथ ग्रहण करेंगे। इसीलिए 'ग़बन' के अन्त का सपना एक घड़ी देखकर वे 'कर्मभूमि' में उतर पड़ते हैं।

---

१. पृष्ठ ४०९.

कर्मभूमि (१९३२)

'कर्मभूमि' की कहानी प्रेमचन्द के मध्यवर्गीय समझौतावादी मन को एकदम उघार रख देती है, जहाँ अपने पिछले उपन्यासों में प्रेमचन्द यूटोपियन ढंग से अपनी कहानी का अन्त करते हैं, वहाँ 'कर्मभूमि' में एक प्रमुख पात्र के बलिदान के बाद हुई एक ओर जनता की जीत को तुच्छ करते हुए, जनता की आवाज को नज़रअंदाज करके दूसरी ओर वे शासक और शासित में (या कहिए, शोषक और शोषित में, क्योंकि प्रेमचन्द इन दोनों में कोई फर्क नहीं करते)[१] मेल करा देते हैं। वे समस्या के सफल अंत को "कमेटीवाद" में बदलकर जनता के सारे बलिदान और त्याग को धूल में मिला देते हैं। गांधीजी का झण्डा सत्याग्रह के काल में अहिंसा के आधार पर चौरीचौरा-काण्ड के बाद सत्याग्रह को वापिस लेना इस कमेटीवाद से भिन्न है। हाँ, सन् १९३२ के गांधी-इरविन पैक्ट की आत्मा जरूर इसमें आभासित है। हरिद्वार के पास वाले गाँव में भी तो उत्तेजना उतनी ही थी जितनी बनारस में। दमन दोनों आन्दोलनों में भरपूर हुआ। फर्क इतना था कि शहरी आन्दोलन में नना शहीद हो जाती है। गाँव के आन्दोलन में कोई प्रमुख व्यक्ति का बलिदान नहीं होता। लेकिन गाँव में सलोनी काकी के साथ हुआ बर्ताव क्या कुछ कम है? और फिर चार आदमियों की मौत भी होती है। फिर यह फ़र्क क्यों कि शहरी आन्दोलन कामयाब होता है और गाँव का आन्दोलन समझौतावाद, कमेटीवाद की नज़र हो जाता है। तो क्या प्रेमचन्द यह कहना चाहते हैं कि यह गाँव का आन्दोलन बुनियादी तौर पर गलत है और शहर का ठीक है। हो सकता है। तभी तो अपने सबसे इन्कलाबी पात्र अमरकांत से प्रेमचन्द कहलाते हैं—"सेठ धनीराम ने इस समस्या (गाँव की लगान समस्या) को सुलझाने में हमारी मदद की है (कि कमेटी बनवा दी है) जैसा उनका धर्म था और इसके लिए हमें उनका मशकूर होना चाहिए। हम इसके सिवा और क्या चाहते हैं कि गरीब किसानों के साथ इन्साफ़ किया जाय और जब उस उद्देश्य को पूरा करने के इरादे से एक ऐसी कमेटी बनाई जा रही है जिससे यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह किसानों के साथ अन्याय करे तो हमारा यह धर्म है कि उसका स्वागत करें।"[२] और ऐसे "सुन्दर" हल की कल्पना करके अमरकांत अपने पिछले कृत्यों पर अफ़सोस ज़ाहिर करता है......यह सोच रहा हूँ कि मेरे हाथों इतनी जान-माल की क्षति अकारण हुई। जिस नीति से अब काम लिया गया, क्या उसी नीति से तब काम न लिया जा सकता था? उस जिम्मेदारी का भार मुझे दबाए डालता है।[३] लेकिन यह कमेटीवाद का हल कितना खोखला है, यह साफ नजर आता है। सलीम और, सेठ धनीराम में प्रश्नोत्तर होता है—

---

१. अ. गवर्नमेन्ट तो जरूरी चीज नहीं। पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाने के लिए एक संगठन बना लिया है उसी का नाम गवर्नमेण्ट है। गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेण्ट का खातमा हो जाता है।—पृष्ठ २३०.

(आ) जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के सिवा और क्या हो सकता है?-पृष्ठ २७२.

२. पृष्ठ ४०९.

३. पृष्ठ ४१०, ११.

"उस कमेटी का फैसला अन्तिम होगा।"

सेठ ने हिचकिचाकर कहा—"मेरा तो ऐसा ही ख्याल है।"

"हमें आपके ख्याल की जरूरत नहीं। हमें इसकी तहरीर मिलना चाहिए।"

"और तहरीर न मिले तो।"

"तो हमें मुआहदा मंजूर नहीं।"

"नतीजा यह होगा कि यहीं पड़े रहोगे, और रियाया तबाह होती रहेगी।"

"जो कुछ भी हो।"

"तुम्हें तो कोई खास तकलीफ नहीं है, लेकिन गरीबों पर क्या बीत रही है, सोचो।" इत्यादि।[1] मजा यह कि जो प्रारंभ से इन्कलाबी तबियत का आदमी था, वह तो समझौते के लिए तैयार हो जाता है और सलीम जो इस आन्दोलन में एकदम आखीर में आता है, तब, जब कि वह जानता है कि ये सब हथकण्डे हैं, कभी इस समझौते के लिए तैयार नहीं होता।

'कर्मभूमि' में सभी समझौतावादी नजर आते हैं। सेठ धनीराम की समझौतावादिता ऊपर बताई जा चुकी है। इस समझौतावादिता के पीछे इस व्यक्ति का मन कैसा काम कर रहा है। यह देखने योग्य है।

सेठजी ने अमर को आशीर्वाद देते हुए कहा, "संसार की आँखों में मैं कोरा पशु हूँ इसलिए कि मैं समझता हूँ, हरएक काम का समय होता है। कच्चा फल पाल में डाल देने से पकता नहीं। तभी पकता है जब पकने के लायक हो जाता है। जब मैं अपने चारों ओर फैले हुए अंधकार को देखता हूँ, तो मुझे सूर्योदय के सिवाय उसके हटने का कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता। किसी दफ्तर में जाओ, बिना रिश्वत के काम नहीं चल सकता। किसी घर में जाओ, वहाँ द्वेष का राज्य देखोगे। स्वार्थ, अज्ञान, आलस्य ने हमें जकड़ रखा है। इसे ईश्वर की इच्छा ही दूर कर सकती है। हम अपनी पुरानी संस्कृति को भूल बैठे हैं। वह आत्माप्रधान संस्कृति थी। जब तक ईश्वर की दया न होगी, उसका पुनर्विकास न होगा और जब तक उसका पुनर्विकास न होगा, हम लोग कुछ नहीं कर सकते। इस प्रकार के आन्दोलनों में मेरा विश्वास नहीं है। इनसे प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है, जब तक रोग का ठीक निदान न होगा, उसकी ठीक औषधि न होगी। केवल बाहरी टीम-टाम से रोग का नाश न होगा।"

अमर ने इस 'प्रलाप' पर उपेक्षाभाव से मुस्करा कर कहा—"तो फिर हम लोग उस शुभ समय के इन्तजार में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें।"

एक वार्डर दौड़कर कई कुर्सियाँ लाया। सेठजी और जेल के दो अधिकारी बैठे। सेठजी ने पान निकालकर खाया और इतनी देर में इस प्रश्न का जवाब भी सोचते जाते थे। तब प्रसन्नमुख होकर बोले, "नहीं, यह मैं नहीं कहता। यह आलसियों और अकर्मण्यों का काम है। हमें प्रजा में जागृति और संस्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करना चाहिए। हमारी पूरी शक्ति जाति की आत्मा को जगाने में लगना चाहिए। मैं इसे कभी नहीं मान सकता कि आज आधी मालगुजारी होते ही प्रजा सुख के शिखर पर पहुँच जायगी। उसमें सामाजिक

---

१. पृष्ठ ४०८, ४०९.

और मानसिक ऐसे कितने ही दोष हैं कि आधी तो क्या पूरी मालगुजारी भी छोड़ दी जाय, तब भी उसकी दशा में कोई अन्तर न होगा। फिर मैं यह भी स्वीकार न करूँगा कि फरियाद करने की जो विधि सोची गई और जिसका व्यवहार किया गया, उसके सिवा कोई दूसरी विधि न थी।"

अमर ने उत्तेजित होकर कहा, "हमने अंत तक हाथ-पाँव जोड़े, आखिर मजबूर होकर हमें यह आन्दोलन शुरू करना पड़ा।"

लेकिन एक क्षण में वह नम्र होकर बोला, "संभव है, हमसे गलती हुई हो, लेकिन उस वक्त हमें यही सूझ पड़ा।"

सेठजी ने शान्तिपूर्वक कहा—"हाँ, गलती हुई और बहुत बड़ी गलती हुई। सैकड़ों घर बरबाद हो जाने के सिवा और कोई नतीजा न निकला। इस विषय पर गवर्नर साहिब से मेरी बातचीत हुई है और वह भी यही कहते थे कि ऐसे जटिल मुआमले में विचार से काम नहीं लिया गया।"[१]

सेठ धनीराम का सारा कार्य ऐसा है, जो शुबहा उत्पन्न करता है या कम-से-कम प्रतिक्रियात्मक तो है ही। यही हाल सेठ समरकान्त का है। आरम्भ से वह रोड़ा बनकर अपने बेटे की राह में खड़ा हो जाता है कि बेटा गरीबों की, किसानों की हिमायत न कर पाय। चारित्रिकता के मुआमले में, उसके बारे में लिखा गया है, "लालाजी कुत्सित सम्बन्ध को 'बहुत' बुरा न समझते थे। रईसों में यह प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। वह रईस ही क्या जो इस तरह का खेल न खेले, लेकिन धर्म छोड़ने को तैयार हो जाना, खुले खजाने समाज की मर्यादाओं को तोड़ डालना, यह तो पागलपन है, बल्कि गधापन।"[२] वह खुद एक जगह कहता है—

"मैं बड़े-बड़े व्यभिचारियों के सामने मस्तक नवाता हूँ, तो फिर अपने ही घर में और उन्हीं के ऊपर जिनसे किसी प्रतिकार की शंका नहीं, धर्म और सदाचार का सारा भार लाद दिया जाय।"[३] लेकिन जिस धर्म की सुरक्षा लाला समरकान्त चाहते हैं, उस धर्म को भंगी-चमारों से डर लगता है। ठाकुरद्वारे की कथा में भंगी-चमारों का एकदम पिछली सफ़ में सबसे अलग बैठ जाना भी उन्हें गवारा नहीं होता। उनके समाज की मर्यादाएँ इन अछूतों के स्पर्श से हिल जाती हैं और वह शान्तिकुमार के अछूतों के समर्थन का व्यंग करते हुए कहता है, "इसीलिए तुम्हारे विचार में यह विकास हुआ है कि ठाकुरजी की भक्ति छोड़कर उनके द्रोही बन बैठे।"[४] काम निकालने के तरीकों में वह हर बात जायज समझता है। "इस काम के लिए दस बीस हज़ार रुपये खर्च करने पड़ेंगे—हरेक मेम्बर से अलग-अलग मिलिए, देखिए, किस मिजाज़ का, किस विचार का, किस रंग-ढंग का आदमी है। उसी तरह काबू में लाइए—खुशामद से राजी हो, खुशामद से; चाँदी से राजी हो चाँदी से; दुवा-तावीज,

१. पृष्ठ ४०७, ४०८.
२. पृष्ठ १९२.
३. पृष्ठ ३३५.
४. पृष्ठ २१०.

जन्तर-मन्तर जिस तरह काम निकले, उसी तरह निकालिए।"[१] वह बनियों को बुरा नहीं समझता। "बनियों को चाहे बदनाम कर लो, पर परमार्थ के काम में बनिये ही आगे आते हैं।"[२] गाँव के आन्दोलनकारियों को 'मेल' से ठंडा करना चाहता है। वह उन्हें समझाता है, "अगर इन्हें (सलीम को) तुम्हारी जायदाद नीलाम करने का हुक्म मिलेगा, नीलाम करेंगे, गिरफ्तार करने का हुक्म मिलेगा, गिरफ्तार करेंगे, तुम्हें बुरा न लगना चाहिए। तुम धर्म की लड़ाई लड़ रहे हो। लड़ाई नहीं यह तपस्या है। तपस्या में क्रोध और द्वेष आ जाता है, तो तपस्या भंग हो जाती है।"[३] और अन्त में कमेटी के नाम पर इन्कलाब खत्म हो जाता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि सेठ धनीराम की प्रेरणा का स्रोत गवर्नर ही है। "गवर्नर साहिब से मेरी बातचीत हुई थी और वह भी यही कहते थे कि ऐसे जटिल मुआमले में विचार से काम नहीं लिया गया।" तो ऐसा जान पड़ता है कि ये पूँजीपति सरकार की एजेण्टी करके आन्दोलनकारियों का दमन कर रहे हैं। हाँ, पूँजीपति को आखिर में प्रेमचन्द ने ग़रीबों ट्री ट्रस्टी बनाने की अविश्वसनीय कोशिश की है। समरकान्त ९०० रुपये गाँव के लोगों को देकर कहता है, "यह मत समझो कि यह रुपये मेरे हैं। मैं अपने बाप के घर से नहीं लाया। तुम्हीं से तुम्हारा ही गला दबाकर लिये थे। वह तुम्हें लौटा रहा हूँ।"[४]

तो क्या यह "गांधी इर्विन पैक्ट" के जमाने की उस समझौतावादी नीति का चित्रण है, जिसमें क्रान्ति को मेल से, पूँजी को ट्रस्टीशिप से, धर्म को उदार दृष्टिकोण से, अन्याय को प्रेम से और दमन को सहिष्णुता से जीतने की कोशिश की गई थी लेकिन जिसके नेता या तो परोक्षरूप से पूँजीपति थे या प्रत्यक्षरूप से पूँजीपति के बेटे।

तब 'कर्मभूमि' के अंत को युग का यथार्थ चित्रण और युग के यथार्थ पर गहरा व्यंग मान सकते हैं। क्या 'कर्मभूमि' यह नहीं बताना चाहता कि युग का नता अमरकान्त के समान पूँजी से विद्रोह करके भागता है, लेकिन जहाँ पूँजी ने ज़रा-सा चोला बदलकर प्रगतिशीलता का ढोंग किया कि वह भागकर फिर पूँजी की शरण में आ गया और शोषितों की फौज को, भगवान् की दया और पूँजी की, शोषकों की उदारता पर छोड़कर संतुष्ट हो रहा।

लाला समरकान्त जैसे लोगों को "फिलिस्टीन", प्रतिक्रियात्मक, असभ्य, बोदा संज्ञा देते हुए मैक्सिम गोर्की ने सन् १९२९ में एक लेख लिखा था। उसमें से कुछ उद्धरण देकर इस जाति का स्वरूप स्पष्ट करना ठीक होगा। फिलिस्टीन ऐसे आदमी को कहते हैं, जिसकी जिन्दगी परम्परागत संकीर्ण स्वभाव और विचारों के दायरे में सीमित हो रही है और जो इस दायरे में सीमित होकर यंत्रवत् आचरण करता है। व्यक्तिगत रूप से वह कहता है, "भगवान कृपा रखे।" और समाज तथा राष्ट्र के संबंध को लेकर वह कहता है, "मुझे अकेला रहने दो। मैं जैसा चाहूँ, वैसा रहने दो।" फिलिस्टीन का विश्वास है कि धर्म ही नीति का आधार है और राष्ट्र की बुनियाद धर्म बिना संभव नहीं है। लेकिन भगवान की कृपा पर और मौखिक

---

१. पृष्ठ २४१.
२. पृष्ठ २४२.
३. पृष्ठ ३५३.
४. पृष्ठ ३५४.

आदर्शवाद पर विश्वास करने के बावजूद फिलिस्टीन घोर भौतिकवादी होता है, जिसकी पहली चिन्ता अपनी आर्थिक सुरक्षा के लिए होती है। यह व्यक्ति अपने को क्रान्तिकारी शब्दावली में इस प्रकार ढांके रखना चाहता है कि उसकी आत्मा का खोखलापन उसमें से झाँक न पाये।[१]

'कर्मभूमि' में समरकान्त तो ऐसा प्रतिक्रियात्मक आदमी है ही, वह अमरकान्त को भी वैसा ही बनाये रखता है या अमरकान्त खुद बना रहता है। अमरकान्त अपने खून में से समझौतावादी कीटाणुओं को निकाल नहीं पाया, ऐसा लगता है, तभी तो बार-बार वह क्रान्त्यो-न्मुख होकर समझौते की ओर झुकता है। वह अछूतों को मरी गौ का मांस खाने से मना करता है, अच्छा-खासा हंगामा होता है। अमरकान्त अड़ा है कि चमार मरी गौ का मांस न खायें। चमार अपनी चली आई प्रथा से हटने के लिए तैयार नहीं हैं। मुन्नी की प्रेरणा से जब चमार अपनी यह आदत छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं तो अमर कहता है, 'नहीं' दादा मैं तो तुमसे कुछ सीखने, तुम्हारी कुछ सेवा करके 'अपना' उद्धार करने आया हूँ। यह तो अपनी-अपनी प्रथा है। चीन एक बहुत बड़ा देश है। वहाँ बहुत से आदमी बुद्ध भगवान को मानते हैं। उनके धर्म में किसी जानवर का मारना पाप है। इसलिए वह लोग मरे हुए जानवर भी खाते हैं। कुत्ते, बिल्ली, गीदड़ किसी को भी नहीं छोड़ते। तो क्या वह हमसे नीच हैं? कभी नहीं। हमारे ही देश में कितने ही ब्राह्मण-क्षत्री मांस खाते हैं। वह जीभ के स्वाद के लिए जीवहत्या करते हैं। तुम उनसे तो कहीं अच्छे हो।"[२] महन्त की जमींदारी के इस गाँव में लगान को लेकर हाहाकार मच गया। गंगा-तट पर गाँव के लोग पंचायत लेकर बैठे। स्वामी आत्मानन्द ने जनता को तैयार किया कि "आओ, आज हम सब चलकर महन्तजी का मकान और ठाकुरद्वारा घेर लें और जब तक वह लगान बिलकुल न छोड़ दें, कोई उत्सव न होने दें।"[३] लोग तैयार हो जाते हैं, तो अमरकान्त खड़े होकर प्रदीप्त नेत्रों से उन्हें रोकता है। वह छाती ठोंककर कहता है, "जिस रास्ते पर तुम जा रहे हो, वह उद्धार का रास्ता नहीं है, सर्वनाश का रास्ता है। तुम्हारा बैल अगर बीमार पड़ जाय तो तुम उसे जोतोगे।.........तुम पहले उसकी दवा करोगे और जब तक वह अच्छा न हो जायगा उसे न जोतोगे, क्योंकि तुम बैल को मारना नहीं चाहते। उसके मरने से तुम्हारे खेत परती पड़ जायेंगे।"[४] अमरकान्त जैसा आदमी जमींदार को बैल की भाँति किसानों का जीवन प्राण माने, यह जरा विचित्र लगता है। वह अमरकान्त जो अपनी संपत्ति उसी को समझता है जिसे परिश्रम से कमाया गया हो,[५] इस जमींदारी की दलाली को किसानों का जीवन प्राण समझे और जमींदारी भी कैसी, जिसमें धर्म के नाम पर विलास का नंगा नाच होता हो। अमरकान्त जानता था कि ऊबी हुई उत्तेजित जनता अब इस तर्क से संतुष्ट नहीं होने की। इसलिए वह फिर कहता, "घर में आग लगने पर हमारा क्या धर्म है? क्या हम आग को फैलने दें

१. सी० एण्ड पी०
२. पृष्ठ १७५.
३. पृष्ठ २९६.
४. पृष्ठ २९६.
५. पृष्ठ १५.

और घर की बची बचाई चीजें भी लाकर उसमें डाल दें......कभी नहीं, कभी नहीं......(तो क्या यह संकेत साफ नहीं है कि इस दशाब्दि के आन्दोलन का नेतृत्व समझौतावादी था?) क्यों, इसलिए कि हम घर को जलाना नहीं, बचाना चाहते हैं। हमें उस घर में रहना है। उसी में जीना है। वह विपत्ति कुछ हमारे ही ऊपर नहीं पड़ी है। सारे देश में यही हाहाकार मचा हुआ है। हमारे नेता इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा कर रहे हैं। उन्हीं के साथ हमें भी चलना है।"[1] नतीजा यह होता है कि सभा बिना कुछ निश्चय किये उठ जाती है, लेकिन बहुमत किस तरफ़ है यह किसी से छिपा नहीं है इसलिए अपनी बात को पुष्ट करने के लिए अमरकान्त एक और महन्त से मिलता है, मुलाकात के बाद संतुष्ट होकर लौटता है और उत्तेजित गाँव वालों से कहता है, "महन्त जी को तुम लोग व्यर्थ बदनाम कर रहे थे। ऐसी सज्जनता से मिले कि मैं क्या कहूँ। कहा, हमें तो कुछ मालूम ही नहीं। पहले ही क्यों न सूचना दी। नहीं, हमने वसूली बन्द कर दी होती। अब उन्होंने सरकार को लिखा है। यहाँ कारिन्दों को वसूली की मनाही हो जायगी......अगर धैर्य से काम लोगे तो सब कुछ हो जायगा। हुल्लड़ मचाओगे, तो कुछ न होगा। उल्टे और डंडे पड़ेंगे।"[2] और दूसरी ओर बगावत करनेवाले स्वामी को अफ़सरों के सामने किस प्रतिक्रियात्मक ढंग से पेश करता है और यहाँ तक सोचता है कि "सचमुच आत्मानन्द आग लगा रहा है। अगर वह गिरफ्तार हो जाय, तो इलाके में शान्ति हो जाय। स्वामी साहसी हैं, यथार्थवक्ता हैं, देश का सच्चा सेवक है, लेकिन इस वक्त उसका गिरफ्तार हो जाना ही अच्छा।"[3] एक जगह आत्मविश्लेषण करते हुए वह कहता है, "वह आवेश में आ गया था और समझौते का सुसाध्य मार्ग छोड़कर उस दुर्गम पथ की ओर झुक पड़ा था......मालूम हुआ, यह यशलालसा का, व्यक्तिगत स्पर्द्धा का, सेवा के आवरण में छिपे हुए अहंकार का खेल था।"[4] इस प्रकार की तबियत के आदमी को क्या कहिए।

तो समरकान्त और अमरकान्त या तो गांधीवादी विचारधारा के प्रतीक हैं कि एक का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह अपनी जायदाद को ग़रीबों के काम में खर्च करने का तय करता है और दूसरा क्रान्ति को धीरे किंतु दृढ़ गति से ठंडा कर करके चलाना चाहता है या दोनों फिलिस्टीन हैं ही। कम-से-कम एक, समरकान्त तो फिलिस्टीन है ही। वह ढोंग और प्रतिक्रियात्मक ढंग से इन्कलाबी बेटे को भी फिलिस्टीन बना देता है। तो क्या सन् १९३०-३२ की नेतागिरी फिलिस्टीनी-नेतागिरी थी।

'कर्मभूमि' में दो आन्दोलन हैं। एक शहर में, एक गाँव में। शहर का आन्दोलन म्युनिसिपल के खिलाफ़ है, गाँव का जमींदार के खिलाफ़। शहर का आन्दोलन सफल होता है, गाँव का असफल। उसकी समस्या को कमेटी के हाथों सौंप दिया जाता है। शहर का आन्दोलन इसीलिए सफल हुआ कि जनता की अजेय दृढ़ अविचलित ताकत उसके साथ थी। बलि-

---

१. पृष्ठ २९६.
२. पृष्ठ ३०९.
३. पृष्ठ ३१०.
४. पृष्ठ ३५६.

दानों का ताँता उसके ओज को एक सा बनाये हुए था और बलिदान की चरमता म्युनिसिपल कमेटी को घुटनों पर ला देती है। यद्यपि फिलिस्टीन समरकान्त यहाँ भी अपने हथकण्डे दिखाना चाहता है लेकिन बलिदानी केवल अपने खून से न्याय चाहते हैं, रिश्वतखोरी से नहीं। शान्तिकुमार रिश्वत देकर म्युनिसिपल से समझौता कर लेने के संबंध में कहता है, "यह फ़न तो मुझे अभी सीखना पड़ेगा, सेठजी। मुझे न रकम खाने का तजरबा है, न खिलाने का। मुझे तो किसी भले आदमी से यह प्रस्ताव करते शर्म आती है। यह ख्याल भी आता है कि वह मुझे कितना खुदगरज़ समझ रहा होगा।"[१] सुखदा कहती है, "नहीं हमें रिश्वत देना मंजूर नहीं। हम न्याय के लिए खड़े हैं। हमारे पास न्याय का बल है। हम उसी बल से विजय पायेंगे।"[२] और शान्तिकुमार साफ़ जानते हैं कि "सेठजी भी विचित्र जीव हैं। इनकी निगाह में जो कुछ है वह रुपया। मानवता भी कोई वस्तु है, इसे शायद यह मानें ही नहीं।"[३] शहर का आन्दोलन इसलिए सफल हो गया। लेकिन गाँव में जब आन्दोलन ज़ोर पकड़ चुका था, तभी न जाने क्यों उसे ठण्डा कर दिया गया। उन्मत्त गाँव का चित्र देखिए, "अंधेरा हो गया था। आतंक ने सारे गाँव को पिशाच की भाँति छिपा लिया था। लोग शोक से मौन और आतंक के भार से दबे मरनेवालों की लाशें उठा रहे थे। किसी के मुंह से रोने की आवाज न निकलती थी। जख्म ताजा था। इसलिए टीस न थी। रोना पराजय का लक्षण है। इन प्राणियों को विजय का गर्व था। रोकर अपनी दीनता प्रकट न करना चाहते थे। बच्चे भी जैसे रोना भूल गये थे।"

"मिस्टर घोष घोड़े पर सवार होकर डाक बंगले गये। सलीम एक सब-इन्स्पेक्टर और कई कान्स्टेबलों के साथ एक लारी पर सदर भेज दिया गया था। वह अहीरन युवती भी उसी लारी पर भेजी गई। पहर रात जाते-जाते चारों अर्थियाँ गंगा की ओर चलीं। सलोनी लाठी टेकती हुई आगे गाती जाती थी—

"सैयाँ मोरा रूठा जाय, सखी री।"[४]

ऐसे आन्दोलन के बारे में अमरकान्त सोचता है—"दरवाजा बन्द हो गया और अमरकान्त ने एक लम्बी साँस ली और फरियादी आँखों से छत की तरफ़ देखा। उसके सिर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। उसके हाथ कितने बेगुनाहों के खून से रंगे हुए हैं। कितने यतीम बच्चे और अबला विधवाएँ उसके दामन पकड़कर खींच रही हैं। उसने क्यों इतनी जल्दबाजी से काम किया। क्या किसानों की फरियाद के लिए यही एक साधन रह गया था और किसी तरह फरियाद की आवाज़ नहीं उठाई जा सकती थी। क्या यह इलाज बीमारी से ज्यादा असाध्य नहीं है।" इन प्रश्नों ने अमरकान्त को पथभ्रष्ट-सा कर दिया।[५] और अमरकान्त ने वहीं भूमि पर मस्तक रखकर शुद्ध अन्तःकरण से अपने कर्तव्य की जिज्ञासा की, "भगवान्,

---

१. पृष्ठ २४२.

२. पृष्ठ २४२.

३. पृष्ठ २४२.

४. पृष्ठ ३७४.

५. पृष्ठ ३८०.

मैं अंधकार में पड़ा हुआ हूँ। मुझे सीधा मार्ग दिखाइए।"[1] और जो सीधा मार्ग दिखा, वह समझौते का था।

दोनों आन्दोलनों में जनता की क्रान्ति का स्वर ऊँचा था लेकिन शहर में समरकान्त और अमरकान्त नहीं थे इसलिए कि शहर के लोग उनसे ज्यादा समझदार थे। शहर में इन्कलाब को गलत ढंग से सोचनेवालों के हाथ में नहीं पड़ना पड़ा। गाँव में फिलिस्टीन समरकान्त और दुर्बल मन अमरकान्त न सीधे मार्ग पर चलने की धुन में सारे इन्क़लाबी मन्सूबों को पथभ्रष्ट कर दिया।

अमरकान्त इस दृष्टि से बड़ा ट्रैजिक पात्र नज़र आता है, जो पिता से भागकर फिर पिता की शरण में आया, पत्नी से भागकर पत्नी की शरण में आया, सलीम से भागकर सलीम के करीब आया, कालेखाँ से घृणा करके उससे श्रद्धा करने लगा। तो जैसे सभी में विकास हुआ। अमरकान्त जहाँ खड़ा था, वहीं खड़ा रह गया। एक परिवार के बलिदानों से सीखता है, दूसरी संस्कारों पर विजय प्राप्त करती है, तीसरे के भीतर का देवत्व जागता है, चौथे को अनुभव सिखाता है और अमरकान्त इन सबके बीच जैसे अवाक् खड़ा रह जाता है।

अमरकान्त के चरित्र का प्रारंभ चरखा चलाने से होता है। चरखे को वह आत्मशुद्धि का साधन समझता है। वह धन की इच्छा नहीं करता, जीवन में परीक्षा करना चाहता है कि किस प्रकार एक मजूर भी धर्म और आत्मा की रक्षा करते हुए, जीवन का निर्वाह कर सकता है। पत्नी से उसके मन का मेल न बैठता था। जैसे-जैसे उसके राजनैतिक ज्ञान का विकास हुआ, वह देशवासियों के साथ शासक मण्डल की कोई अनीति देखकर उत्तेजित हो जाता था। जो संस्थाएँ राष्ट्रीय उत्थान के लिए उद्योग कर रही थीं उनसे उसे सहानुभूति हो गई। वह नगर की कांग्रेस कमेटी का मेम्बर बन गया और उसके कार्यक्रम में भाग लेने लगा।

जीवन और राजनीति के सक्रिय क्षेत्र में आकर अमरकान्त के चरित्र के अनेक चित्र मिलते हैं। पहला मुन्नी काण्ड है—२०० रुपये की जरूरत है। अमरकान्त समय पर लाने का वादा करता है। लेकिन "सलीम ने सोचा अमरकांत रुपये लिए आता होगा, पर आठ बजे, नौ का अमल हुआ और अमर का कहीं पता नहीं।" शान्तिकुमार घड़ी देखते हुए बोले, "आज इस लौंडे पर ऐसा गुस्सा आ रहा है कि गिनकर पचास हंटर जमाऊँ। इतने दिनों तक इस मुकदमे में सिर पटकता रहा, और आज जब फैसले का दिन आया तो लड़के का जन्मोत्सव मनाने बैठ रहा। न जाने हम लोगों में अपनी जिम्मेदारी का ख्याल कब पैदा होगा...... मैंने फटकारा तो हँसने लगा। आदमी वह है जो जीवन का एक लक्ष्य बना ले और जिन्दगी भर उसके पीछे पड़ा रहे। कभी कर्तव्य से मुख न मोड़े।"[2]

वह सकीना से प्रेम करता है और अपने इस प्रेम को अधिक-से-अधिक आदर्शवादी रूप देना चाहता है। कहता है, "औरत में रूप ही सबसे प्यारी चीज नहीं है। मैं तुमसे सच कहता हूँ, अगर मेरी शादी न हुई होती और मजहब की रुकावट न होती, तो मैं उससे

---

१. पृष्ठ १८०.

२. पृष्ठ ७१.

शादी करके अपने को भाग्यवान् समझता।"[१] एक स्थल पर वह शादी करके मुसलमान हो जाने के लिए तैयार हो जाता है।[२] लेकिन समाज के सामने इन विचारों को लेकर खड़े हो रहने की क्षमता उसमें नहीं है। इसलिए कि वह सचाई पर आश्रित नहीं है। प्रत्यक्ष ने उसकी भीतर की आँखों पर परदा डाल रखा था। इसी प्रमाद में कालेखाँ से चेतना पाकर उसकी आँखें खुल जाती हैं। उसने सकीना से प्रेम का स्वाँग किया। क्या उस उन्माद में लेशमात्र भी प्रेम की भावना थी? उस समय मालूम होता था, वह प्रेम में रत हो गया है। अपना सर्वस्व उस पर अर्पण किये देता है। पर आज उस प्रेम में लिप्सा के सिवा और उसे कुछ न दिखाई देता था। लिप्सा ही न थी, नीचता भी थी। उसने उस सरला रमणी की हीनावस्था से अपनी लिप्सा शान्त करनी चाही थी।[३] जहाँ इस प्रेम का रहस्य खुला, उसका पाखण्ड सामने आया कि वह भाग खड़ा हुआ। फिर मुन्नी उसके जीवन में आयी, निराशाओं से भग्न, कामनाओं से भरी हुई। उस देवी से उसने कितना कपट व्यवहार किया। यह सत्य है कि उसके व्यवहार में कामुकता न थी, वह इसी विचार से अपने मन को समझा लिया करता था, लेकिन अब आत्मनिरीक्षण करने पर उसे ज्ञात हो रहा था कि उस विनोद में ही, उस अनुराग में भी कामुकता का समावेश था। तो क्या वह वास्तव में कामुक है? इसका जो उत्तर उसने स्वयं अपने अन्तःकरण में पाया, वह किसी तरह श्रेयस्कर न था।[४]

अमरकान्त क्रान्ति-क्रान्ति चिल्लाता तो बहुत है, लेकिन क्रान्ति को सामने देखकर कायरों की तरह भागता है। उसमें भीतरी बल जरा भी नहीं है। इसीलिए हर घड़ी भगवान का अवलम्ब लिए रहना चाहता है। जब भगवान अनुकूल दिखा तो ठीक ही है, नहीं तो स्वयं भगवान के अस्तित्व पर शक करने लगा। इस विश्लेषण के बाद प्रेमचन्द का यह कथन उलझन में डाल देता है, "मैंने अपने प्रत्येक उपन्यास में एक आदर्श पात्र रखा है। 'कर्मभूमि' में अमरकान्त है।"[५] अगर यह व्यक्ति 'कमभूमि' का "हीरो" है तब या तो हमें यह मानना होगा कि अमरकान्त युग के नेता का अच्छा खासा व्यंग-चित्र है और नहीं तो यह मानना होगा कि अमरकान्त के द्वारा प्रेमचन्द ने फिलिस्टीनी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। अगर पहली बात ठीक है तो फिर 'कर्मभूमि' में कर्म के जीवन-दर्शन का वहन करनेवाले कौन हैं। निश्चय ही सुखदा, सलीम और शान्तिकुमार। नैना का बलिदान भावुकता का, आवेश का परिणाम है, भीतरी मंथन का नहीं। नैना के मंच पर आने में उसकी भावुकता है और आवेश है उसके बलिदान में उसके पति का पागलपन। अन्यथा सुखदा, सलीम और शान्तिकुमार के चरित्र, 'कर्मभूमि' का आन्तरिक सन्देश व्यक्त करते हैं।

इन तीनों का अध्ययन करने के पूर्व उन परिस्थितियों पर विचार कर लें, जो उपन्यास में वर्णित की गई हैं और जो समस्या बनकर (उस समय के) समाज में फैली हैं।

---

१. पृष्ठ ८७.

२. पृष्ठ ९७.

३. पृष्ठ ३७५.

४. पृष्ठ ३७६.

५. प्रे० वि० पृष्ठ १७२.

'कर्मभूमि' का प्रारंभ आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की आलोचना से होता है और अन्त किसानों की शोषित दशा के कमेटीवाद के हल के द्वारा। शहर और गाँव के अलग-अलग चित्र हैं, मानों दोनों में कोई सम्बन्ध न हो। शहर में म्युनिसिपैलिटी फिर खलनायक के रूप में आती है, पहली मर्तबा हमने उसे 'सेवासदन' में देखा था। यहाँ म्युनिसिपैलिटी मजदूरों के आन्दोलन के सामने पराजित होकर हृदय-परिवर्तन के लिए मजबूर होती है। धर्म का ज़ोर शहर और गाँव दोनों पर है। लेकिन शहर की अपेक्षा गाँव पर उसका कुप्रभाव ज्यादा है। शहर का सेठ धर्म और रोजगार अलग-अलग रखता है। गाँव का ज़मींदार धर्म को रोजगार में सानकर शोषण करता है। शिक्षा-व्यवस्था के सिवा दूसरी प्रमुख समस्या अछूतों की है कि जो शहर और गाँव दोनों में व्याप्त है। तीसरा प्रसंग नारी-जागरण का है।

शिक्षा-प्रणाली के बारे में 'कर्मभूमि' का प्रारंभ इन वाक्यों से होता है—

"हमारे कालेजों और स्कूलों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। बड़े कठोर नियम हैं......ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था कि ग़रीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जायँ। वही हृदयहीन दफ्तरी-शासन जो अन्य विभागों में है, हमारे शिक्षालयों में भी है। वह किसी के साथ रियायत नहीं करता......हमारे शिक्षालयों में नर्मी को घुसने नहीं दिया जाता। वहाँ स्थायी रूप से मार्शल-ला का व्यवहार होता है। कचहरियों में पैसे का राज है, यहाँ उससे कहीं कठोर, कहीं निर्दय। देर से आइए, तो जुर्माना, किताबें न खरीद सकिए, तो जुर्माना, कोई अपराध हो जाय, तो जुर्माना, शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है। यही हमारी पश्चिमी शिक्षा का आदर्श है, जिसकी तारीफों के पुल बाँधे जाते हैं। यदि ऐसे शिक्षालयों से पैसे पर जान देने वाले, पैसे के लिए ग़रीबों का गला घोंटनेवाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेच देनेवाले छात्र निकलते हैं, तो आश्चर्य क्या है।[१]"

सन् १९३६ में 'महाजनी सभ्यता' लिखनेवाले प्रेमचन्द ने सन् १९३२ में कहा है— "पश्चिमी सभ्यता की बुराइयाँ हम सब जानते ही हैं......एक तो यह तालीम नही है। जहाँ देखो, वहीं दूकानदारी। अदालत की दूकान, इल्म की दूकान, सेहत की दूकान।"[२]

सलीम कालेज के अध्यापकों की आलोचना करते हुए कहता है, "यह जो अनगिनती लेक्चरार और प्रोफेसर हैं क्या सबके सब सादा जिन्दगी के नमूने हैं। वह तो लिविंग का स्टैन्डर्ड ऊँचा कर रहे हैं तो फिर लड़के भी क्यों न ऊँचा करें।"[३]

डा० शान्तिकुमार जो खुद प्रोफेसर हैं, शिक्षा-प्रणाली पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं, "यह किराये की तालीम हमारे कैरेक्टर को तबाह किये डालती है। हमने तालीम को भी एक व्यापार बना लिया है। व्यापार में ज्यादा नफ़ा होगा। तालीम में ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ऊँचा ओहदा पाओगे। मैं चाहता हूँ ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए मुआफ

---

१. पृष्ठ १.

२. पृष्ठ ५.

३. पृष्ठ १६१.

हो, ताकि ग़रीब से ग़रीब आदमी भी ऊँची से ऊँची लियाकत हासिल कर सके और ऊँचे-से-ऊँचा ओहदा पा सके। युनिवर्सिटी के दरवाजे मैं सबके लिए खुला रखना चाहता हूँ। सारा ख़र्च गवर्नमेन्ट पर पड़ना चाहिए।"[१]

अमरकान्त सोचता है, "जीवन को बनाने के लिए शिक्षा की ज़रूरत है, डिग्री की नहीं। हमारी डिग्री है, हमारा सेवाभाव, हमारी नम्रता, हमारे जीवन की सरलता। अगर यह डिग्री नहीं मिली, अगर हमारी आत्मा जागरित नहीं हुई तो कागज की डिग्री व्यर्थ है। उसे इस शिक्षा ही से घृणा हो गई थी। जब वह अपने अध्यापकों को फैशन की गुलामी करते, स्वार्थ के लिए नाक रगड़ते, कम-से-कम काम करके अधिक से अधिक लाभ के लिए हाथ पसारते देखता, तो उसे घोर मानसिक वेदना होती थी और इन्हीं महानुभावों के हाथ राष्ट्र की बागडोर है। यही कौम के विधाता हैं। इन्हें इसकी परवाह नहीं कि भारत की जनता दो आने पैसों पर गुजर करती है। एक साधारण आदमी को साल भर में पचास रुपये से ज्यादा नहीं मिलते। हमारे अध्यापकों को पचास रुपये रोज चाहिए......ये अध्यापक हैं, जो किसी अंश में भी एक मामूली व्यापारी या राज्य कर्मचारी से पीछे नहीं। उनमें भी वही दम्भ है, वही धन-मद है, वही अधिकार-मद है। हमारे विद्यालय क्या हैं, राज्य के विभाग हैं और हमारे अध्यापक उसी राज्य के अंग हैं। ये खुद अंधकार म पड़े हुए हैं, प्रकाश क्या फैलायेंगे ? वे आप अपने मनोविकारों के कैदी हैं। आप अपनी इच्छाओं के गुलाम हैं और अपने शिष्यों को भी उसी क़ैद और गुलामी में डालते हैं।"[२]

अगर अमरकान्त की बात खुद प्रेमचन्द की बात है, तो प्रेमचन्द शिक्षा के प्राचीन आदर्श के हामी हैं। "तब अमर को उस अतीत की याद आती, जब हमारे गुरुजन झोंपड़ी में रहते थे, स्वार्थ से अलग, लोभ से दूर, सात्विक जीवन के आदर्श, निष्काम सेवा के उपासक। वह राष्ट्र से कम-से-कम लेकर अधिक देते थे। वह वास्तव में देवता थे।....."[३]

प्रेमचन्द शिक्षा के प्राचीन आदर्श को लेकर चलना चाहते हैं, लेकिन इस आदर्श के सिवा और कोई चारा न हो, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिस शिक्षा-प्रणाली की इतनी बुराई की गई है, उसकी ही उपज तो सलीम, शांतिकुमार और अमरकान्त हैं, जो जनता के नेतृत्व का दावा करते हैं, और कर रहे हैं। क्या जवाहरलाल और गांधीजी उसी शिक्षा की उपज नहीं हैं। तो जान पड़ता है कि प्रेमचन्द की भावना भले ही अमरकान्त के साथ हो, मन शान्तिकुमार के साथ है, जो शिक्षा को विश्वविद्यालयीय स्तर तक निःशुल्क रखना चाहते हैं, जो आदर्श को व्यवहार की नजर से देखना चाहता है।

यों आदर्श शिक्षा दान के लिए डा० शान्तिकुमार ने सेवाश्रम खोल लिया है।

मठस्थित धर्म के प्रति प्रेमचन्द कभी क्षण भर के लिए सहिष्णु नहीं हो पाये। 'सेवासदन' में हमें विलासी, निष्ठुर, पापी महंत के दर्शन पहली बार होते हैं। यहाँ लगभग सोलह वर्ष

---

१. पृष्ठ ७२.

२. पृष्ठ १०४.

३. पृष्ठ १०४.

बाद फिर हमें इस मठाधीश के दर्शन होते हैं। समय बदल चुका है। लेकिन इस वर्ग के लोगों में कोई परिवर्तन नहीं आया। अमरकान्त जब महन्त आशाराम गिरि से मिलने गया, तो उन्हें सोने की कुर्सी और मखमल के गद्दे पर बैठा पाया। बड़ी मुश्किल से दर्शन हो पाये, लेकिन बात कर सकना न हो पाया। बात करने के लिए उसे ठहरना पड़ा। इस अवधि में अमरकान्त महन्त के राजसी ठाठ देख पाया और उसके मन में विचार उठा, ठाकुरजी के नाम पर धन का कितना अपव्यय होता है।[१] गूदड़ चौधरी (अछूत) अपना अनुभव कहता है, "अब देखो भगवान् की आरती हो रही है और हम भीतर नहीं जा सकते। यहाँ के पण्डे-पुजारियों के चरित्र सुनो, तो दाँतों तले उंगली दबा लो, पर वे यहाँ के मालिक हैं और हम भीतर कदम नहीं रख सकते।"[२] बड़े विस्तार से दिये गये इस चित्रण में धर्म को भी सत्ता और पूंजी के समकक्ष बिठालकर प्रेमचन्द ने उसका शोषक-रूप स्पष्ट कर दिया है।

...और धर्म का दूसरा रूप है, उसकी अनुदारता, संकीर्णता, जो चमारों के कानों में रामायण की कथा का एक बोल भी पड़ना बर्दाश्त नहीं कर पाती। अछूतों के मन्दिर-प्रवेश की समस्या को यहाँ बड़ी सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है।

ठाकुर द्वारे में कथा चल रही है। पता लगा, दूर छोर पर चमार बैठे हैं। ब्रह्मचारीजी ने माथा पीट लिया। ये दुष्ट रोज यहाँ आते थे। रोज सबको छूते थे। इसका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ क्या हो सकता है। धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है? धर्मात्माओं के क्रोध का पारावार न रहा। कई आदमी जूते लेकर उन ग़रीबों पर पिल पड़े। भगवान के मन्दिर में, भगवान के भक्तों के हाथ, भगवान के भक्तों पर पादुका-प्रहार होने लगा।[३]

डाक्टर शान्तिकुमार ऐसे ईश्वरभक्तों को भर्त्सना देते हैं, "वाह रे ईश्वरभक्तो! वाह, क्या कहना है, तुम्हारी भक्ति का। जो जितने जूते मारेगा, भगवान उस पर उतने ही प्रसन्न होंगे......और जूतों से क्या होता है? बन्दूकें मँगाइए और विद्रोहियों का अन्त कर डालिये। सरकार तुम्हारा कुछ नहीं कर सकती—बल्कि सरकार इस प्रकार के व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रोत्साहन देती है ......और तुम धर्मद्रोहियो, तुम सबके सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको, खालो। तुम्हें इतनी खबर नहीं कि यहाँ सेठ-महाजनों के भगवान रहते हैं, तुम्हारे भगवान कहीं किसी झोपड़े में या पेड़ तले होंगे।"[४] यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रेमचन्द अछूतों की समस्या को केवल हिन्दू-धर्म की समस्या नहीं मानते। इसे भी वे वर्ग-संघर्ष का एक पहलू मानते हैं।

डा० शान्तिकुमार अछूतों को उद्बोधन देते हैं कि "मन और कर्म की शुद्धता ही धर्म का मूल तत्व है।"[५] वे उन्हें संगठित करके धर्म के नाम पर उनके साथ होने वाले सामाजिक

---

१. पृष्ठ ३०४.
२. पृष्ठ ३०४.
३. पृष्ठ २०३.
४. पृष्ठ २०३.
५. पृष्ठ ३९५.

असमानता के व्यवहार के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ते हैं। पण्डे, पुजारी और शान्ति-सुरक्षा के नाम पर सरकार एक ओर और निहत्थी किन्तु उत्साही जनता दूसरी ओर। दमन होता है, लेकिन बलिदान से पराजित होता है। वही हिन्दू समाज, जो एक घण्टा पहले इन अछूतों से घृणा करता था, इस समय उन अर्थियों पर फूलों की वर्षा कर रहा था। बलिदान में कितनी शक्ति है।

समझ में नहीं आता कि जो बलिदान शहर के दो-दो क्षेत्रों में सफल होकर दमन को झुका लेता है, वह गाँव में क्यों कमजोर साबित होता है। जान पड़ता है कि यहाँ प्रेमचन्द आदर्शवादी नहीं सुधारवादी भी नहीं, जैसा कुछ लोगों ने सुझाया है, एकदम यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर चले हैं। सन् १९३० के आन्दोलन के फलस्वरूप जनता स्थानीय स्वराज्य को, प्रतिक्रिया के प्रभावों से मुक्त करने लगी थी। जनता के सही नुमाइन्दे उसमें आने लगे थे। साथ ही अछूतों की हालत में सुधार हो चला था। इस यथार्थ को प्रेमचन्द अपनी आशा-वादिता का गहरा रंग देते हुए 'कर्मभूमि' में नजर आते हैं। किसानों की समस्या अभी यथावत् थी। बहुत कुछ सरकारी अनुकम्पा पर निर्भर नेता अभी पूँजी और परम्परा से मुक्त नहीं हो पाये थे। पढ़े-लिखे लोग जरूर दृढ़ता बरत रहे थे, जैसे सलीम और शान्तिकुमार। हाँ, नारी जाग चुकी थी। सही मानी में सन् १९३० का आन्दोलन चाहे और कुछ न कर पाया हो नारी को झकझोरकर बेदार जरूर कर पाया।

प्रेमचन्द नारी को अनन्त प्रेरणा का स्रोत मानते हैं और उस नारी को, जो युगों पुरुष की गुलाम बनकर रही, पुरुष की सहधर्मिणी, सहगामिनी और यहाँ तक कि अग्रगामिनी बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे।

यहाँ सुखदा, सकीना और नैना के रूप में नारी के तीन चित्रण हैं। सुखदा सम्पन्नता के, विलास के जीवन से मुक्त होकर सेविका का पथ लेती है। सकीना नारी की प्रेरणा, शक्ति और असीम संभावनाओं का प्रतीक है कि जिसे अवसर मिला तो अपने को सेवा द्वारा सार्थक कर पाई। नैना भारतीय नारीत्व के गौरव को सुरक्षित रखते हुए स्व को समाज पर न्यौछावर कर देती हैं। 'कर्मभूमि' के सभी पात्र इन नारियों से प्रेरणा-संग्रह करते हैं।

'कर्मभूमि' प्रेमचन्द को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से यथार्थवाद की ओर ले जानेवाले मोड़ का दूसरा पत्थर है। पहला है 'ग़बन।'

गोदान

'गोदान' निर्विवाद रूप से प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति है। एक ओर यह परिपक्व चिन्तन का परिणाम है, दूसरी ओर इसमें उपन्यास के शिल्प-विधान का अन्यतम स्वरूप मिलता है। कथा का जैसा सुसम्बद्ध रूप और कथाविकास का जो स्वाभाविक क्रम 'गोदान' में है, वह प्रेमचन्द की पिछली कृतियों में इतनी सफलता से व्यक्त नहीं हुआ।

'गोदान' के शिल्प विधान के संबंध में आलोचकों ने शिकायत की है कि इसमें दो एक-दम अलग-अलग, लगभग समानान्तर कथाओं को बड़े कमज़ोर सूत्रों से बाँधने का यत्न किया गया है। एक कथा शहर की है और एक गाँव की और 'गोदान' को संक्षिप्तीकृत

रूप में लानेवालों ने शहर की कथा का अधिकांश अलग करके यह सिद्ध करना चाहा है कि इसके बिना भी कथा के रसास्वादन में कोई विक्षेप नहीं पड़ता। संभव है, ऐसा ही हो। उपन्यास-शास्त्र की दृष्टि से यह निश्चित है कि गोदान की आधिकारिक वस्तु गाँव की कथा है और प्रासंगिक शहर की, लेकिन इस प्रकार के दृष्टिकोण के द्वारा जो दोनों को अलग-अलग और एक को प्रमुख तथा अन्य को गौण समझने की प्रवृत्ति है, वह उचित नहीं है। प्रेमचन्द 'गोदान' में गाँव और शहर को साथ-साथ रखकर आज के समाज का अखण्ड चित्र देना चाहते हैं। गाँव भारतीय पुरातन व्यवस्था का प्रतीक है, शहर पूँजीवादी व्यवस्था का, महाजनी सभ्यता का। विशृंखल होते हुए गाँव और उभरते हुए शहरों के चित्रण के द्वारा प्रेमचन्द उस संक्रान्तिकाल को व्यक्त करना चाह रहे हैं, जिसमें पुरातनता खण्ड-खण्ड हो रही थी और नई व्यवस्था की नींव पड़ती जा रही थी। सामंती प्रथा का अन्त हो चुका था। सामन्तवाद पूँजीवाद में परिणत हो चुका था। समाज पर सामन्तों, जमींदारों का शासन नहीं रह गया था, महाजनों का, पूँजीपतियों का, बैंकों का, मिल-मालिकों का शासन आ गया था। तभी 'गोदान' में जहाँ देखिए, वहीं महाजन नज़र आते हैं, गाँव के महाजन किसानों के लिए जोंक बन गये हैं, शहर के महाजन जमींदारों के लिए। समाज किसानों-जमींदारों का नहीं रह गया है, महाजनों का बनता जा रहा है। 'गोदान' गाँव और शहर में महाजनों के प्रभाव को चित्रित करने वाला उपन्यास है। गाँव और शहर की इस समानता के कारण दोनों की कथाओं को एक साथ रखकर प्रेमचन्द महाजनी सभ्यता के व्यापक प्रभाव को दर्शाना चाहते हैं। महाजनी सभ्यता रोग की तरह समाज में फैल रही है। उपन्यास का नायक होरी, जब ज़रा सम्पन्न था, तो महाजनी भी करता था और उसका बेटा गोबर, शहर में चार पैसा कमाने के बाद महाजनी का पेशा अख्तियार कर लेता है। 'गोदान' में महाजनी-सभ्यता की काली छाया गाँव और शहर दोनों पर समान रूप से व्याप्त है। गाँव में दातादीन पण्डा, झींगुर, सहुआइन, नोखेराम हैं, शहर में खन्ना हैं, तन्खा हैं और यह महाजनी-सभ्यता इतनी शक्तिशाली है कि गाँव के अदना महाजन भी जमींदार से जरा नहीं डरते। इसका कारण है कि पूँजीवादी-व्यवस्था में सबसे ताकतवर चीज है, प्रेस——समाचारपत्र, जिसे जो चाहे सो पैसा देकर खरीद लेता है। संपादक ओंकारनाथ, जो बड़ी-बड़ी डींग हाँकता है, यथार्थतः महाजनों की गुलामी या ज्यादा-से-ज्यादा उनके साथ "ब्लैकमेल" करने के और क्या करता है। 'गोदान' में एक स्थान पर गाँव के महाजन मिलकर 'रजिस्ट्री' से जमींदार के खिलाफ शिकायत शहर के 'बिजली' अखबार में भेजते डरते नहीं हैं। इस प्रकार महाजनी-सभ्यता के व्यापक प्रभाव को दिखाने के लिए शहर और गाँव एक साथ रखे गये हैं।

एक और भी कारण है। ग्राम की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। ग्राम-व्यवस्था के दो स्तम्भ हैं, एक किसान, दूसरा जमींदार। किसान गाँव में रहता है, जमींदार नई सभ्यता के बीच अपने लिए अधिक-से-अधिक सुविधाएँ और लाभ प्राप्त करने के लिए शहर में रहता है। प्रेमचन्द इस व्यवस्था को, इसके दोनों स्तम्भों को गिरते हुए दिखाने के लिए गाँव और शहर को साथ-साथ लेकर चलते हैं।

फिर परम्पराजीवी होरी गाँव में रहकर अपनी 'मरजाद' की रक्षा के लिए असफल

प्रयत्न में अपना परिवार भी खो बैठता है, खत-बैल भी खो बैठता है, और अन्ततः इस प्रयत्न में अपनी जान भी खो बैठता है। उसका बेटा किसानों की नई पीढ़ी का प्रतीक इन सबसे लड़ता है। पिता की दयनीय वृत्ति के प्रति विद्रोह व्यक्त करता है, समाज के, जाति के नियमों से लड़ता है, गाँव के पंचों से लड़ता है, महाजनों से लड़ता है। मानों किसानों की नई पीढ़ी जान गई है कि गाँव के गिरते खण्डहरों को थामने से कुछ न होगा, इन्हें सँभाले रखना संभव नहीं है और जितनी शक्ति इन्हें संभाले रखने के असफल प्रयत्न में व्यय होगी, उसे लगाकर नई व्यवस्था में अपने को उपयोगी बनाना अधिक सार्थक होगा। गोबर गाँव से भागकर शहर में ही पनाह लेता है।

इस प्रकार गाँव और शहर को साथ-साथ चित्रित करने में उपन्यास के शिल्प-विधान के किसी नियम का उल्लंघन भले हुआ हो, इसका कोई विचार न करते हुए, प्रेमचन्द ने केवल "प्रभाव शास्त्र" के आधार पर 'गोदान' की कथा को इस रूप में संघटित किया है।

'गोदान' की कथा में एक अजीब ही आकर्षण है, जो उनके पिछले उपन्यासों में नहीं मिलता। यह आकर्षण दो साधनों से सफल हुआ है, एक सजीवता और दूसरी अखण्ड क्रम-बद्धता। 'गोदान' के रचना-काल में प्रेमचन्द फिल्मी जीवन में उतर आये थे, जहाँ उन्होंने फ़िल्मी कथा लिखने के अनेक प्रयोग किये थे। फ़िल्म में कथा न नाटक की भाँति लिखी जाती है, न उपन्यास की भाँति। वह केवल कहानी जैसी होती है। फ़िल्म की कथा-सिनेरियाँ अनेक "सीक्वेन्सों" में विभाजित रहती हैं, और प्रत्येक सीक्वेन्स में अनेक "शाट" होते हैं। प्रत्येक शाट अपने आपमें पूर्ण, दृश्य योजना में सजीव, और कथोपकथनों में संश्लिष्ट और पुष्ट रहता है। प्रत्येक "शाट" अपने अगले शाट के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ रहता है और संपूर्ण कथा के विकास-क्रम में निश्चित, अनिवार्य कड़ी का काम करता है। "गोदान" की कथा में आपको फिल्मी सिनेरियों का आनन्द आता है और यदि आपकी कल्पना तनिक भी सजीव है, तो 'गोदान' की कथा आपको किसी फ़िल्म का आनन्द देगी। आप प्रत्येक दृश्य को सजीवता के साथ अपनी कल्पना की आँखों के सामने घटित देखेंगे।

"गोदान" भारतवर्ष की चौथी दशाब्दि की महा कथा कही जा सकती है। 'गोदान' में एक ओर गाँव का जीवन है, दूसरी ओर शहर का। गाँव में सीधे-सादे किसान हैं, अपढ़, विपन्न, जिनकी विपन्नता ने उनकी कोमल वृत्तियों के स्रोत सुखा दिये हैं। उनके छोटे-छोटे खेत हैं, जिनमें काम करके वे महाजनों का, जमींदारों का पेट भरते हैं, और भूखों मरते हैं। गाँव में साहूकार हैं, जो निर्ममता के साथ जोंकों की तरह किसान के खून से चिपटे रहते हैं। गाँव में जमींदार हैं, पंचायत हैं, जिसमें अब पंच परमेश्वर नहीं बसते, निर्दय आत्मसेवी बसते हैं, धर्म के भूत का दयनीय डर है, समाज के संकीर्ण नेग-नियम हैं। दूसरी ओर शहर है जहाँ सब पैसे के गुलाम बसते ह, जो पाखण्ड को समाज के अस्तित्व की अनिवार्य शर्त मानकर बरतते हैं, जो स्वार्थ का निर्लज्जता के साथ, बिना शिष्टाचार के श्वेत परिधान में टाँके, व्यवहार करते हैं, जहाँ प्रेम वासना या स्वार्थ का दूसरा नाम है और जहाँ मानवता समाज से निष्कासित होकर रास्तों में ठोकर खाती पड़ी रहती है। इस ग्राम शहर के विस्तृत चित्रण के बाद प्रेमचन्द ने पुरुष नारी के चिर-सम्बन्धों की व्यंजना, समाज की वर्तमान परिस्थितियों में उसका स्वरूप, प्रेम का रहस्य दर्शन भी 'गोदान' में अछूता नहीं छोड़ा है। "कायाकल्प"

म इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने सोचा, समझा और लिखा है, 'गोदान' में इस प्रश्न पर और गम्भीर अध्ययन चिन्तन का प्रमाण मिलता है।

'गोदान' उस मनःस्थिति में लिखी गई कृति है जिसमें "बाबाजी का भोग", "कफ़न" और "पूस की रात" जैसी कहानियाँ लिखी गई हैं, प्रेमचन्द का आदर्शवादी मन इन कहानियों में झूठे उद्‌बोध का आश्रय लेकर नहीं चलता। प्रेमचन्द परिस्थितियों की अनिवार्य गति में आदर्श का पल्ला पकड़े नहीं रह सके और उनका समझौतावादी मन धीरे-धीरे असंतोष का अवलम्ब लेकर चलने लगा। 'गोदान' में प्रेमचन्द के मन का भी संक्रान्ति काल नज़र आता है। वे यथार्थ को देखकर जैसे चिन्तन में लीन हो जाते हैं। इसीलिए 'गोदान' में प्रेमचन्द सर्वत्र वस्तु-परक (आब्जेक्टिव) कलाकार के रूप में नज़र आते हैं। समाज के प्रति उनका आत्म-परक (सबजेक्टिव) रूप जरा आगे चलकर 'मंगल-सूत्र' में प्रकट हुआ है।

'गोदान' की कथा अध्ययन की सुविधा के उद्देश्य से होरी का जीवन-वृत्त मानी जा सकती है। होरी भारतीय किसान जीवन का प्रतीक है।

होरी तीन भाई हैं : होरी, हीरा और शोभा। होरी बड़ा है। धनिया उसकी पत्नी है। जहाँ से 'गोदान' की कथा प्रारम्भ होती है, वहाँ तक होरी-धनिया के वैवाहिक जीवन के बीस वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। धनिया सोचती है, A "यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इन बीस वर्षों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी भी करत ब्योंत करो, कितना ही पेट तन काटो, चाहे एक एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक़ होना मुश्किल है......उसकी छः सन्तानों में अब केवल तीन जिन्दा हैं, एक लड़का गोबर सोलह साल का और दो लड़कियाँ सोना और रूपा बारह और आठ साल की। तीन लड़के बचपन ही में मर गये। उसका मन आज भी कहता है अगर उनकी दवा-दारू होती तो वे बच जाते, पर वह एक धेले की दवा भी न मँगवा सकी थी। उसकी भी उम्र अभी क्या थी? छत्तीसवाँ ही साल तो था, पर सारे बाल पक गये थे। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई थीं, सारी देह ढल गई थी, वह सुन्दर गेहुँआ रंग संवला गया था और आँखों से भी कम सूझने लगा था। पेट की चिन्ता ही के कारण तो। कभी तो जीवन का सुख न मिला। इस चिरस्थायी जीर्णावस्था ने उसके आत्म-सम्मान को उदासीनता का रूप दे दिया था। जिस गृहस्थी में पेट की रोटियाँ भी न मिलें, उसके लिए इतनी खुशामद क्यों?"[1]

"इस परिस्थिति से धनिया का मन बराबर विद्रोह किया करता था,"[2] क्योंकि वह इतनी व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था कि (B) "हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करे, उसके तलवे क्यों सहलाये।"[3] लेकिन होरी "व्यवहार-कुशल" है। तभी वह धनिया से कहता है, "यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं कहीं पता न लगता कि किधर

१. पृष्ठ ३,४.
२. पृष्ठ ४.
३. पृष्ठ ३.

गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आई। किस पर कुड़की नहीं आई। जब दूसरों के पाँव तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"[1]

जहाँ 'गोदान' की कथा प्रारम्भ होती है, वहाँ किसान अब गाँव का अधिराजा नहीं है, जमींदार के पैरों की जूतियाँ बनकर रह गया है और श्रम के गर्व से उसका मस्तक अब ऊंचा नहीं है। वह इसी में अपनी व्यवहार-कुशलता समझता है कि मिल-जुलकर पैर सहलाकार "बने रहो"। इस बने रहने के लिए वह जमींदार की खुशामद करता है और जानता है कि "मालिकों से मिलते-जुलते रहने ही का तो यह प्रसाद है कि सब उसका आदर करते हैं। नहीं उसे कौन पूछता। पाँच बीघे के किसान की बिसात ही क्या? यह कम आदर नहीं है कि तीन-तीन, चार-चार, हलवाले महतो भी उसके सामने सिर झुकाते हैं।"[2]

लेकिन होरी की पीढ़ी से आगे वाली पीढ़ी इस प्रकार के आचरणों को स्वीकार नहीं करना चाहती। होरी का बेटा गोबर कहता है, "यह तुम रोज़-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो? बाकी न चुके, तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है। नजर नज़राना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो?"[3]

बदली हुई परिस्थितियों में यद्यपि खेती का धंधा सभी दृष्टियों से नुकसानदेह हो गया, लेकिन किसान उसे छोड़ना नहीं चाहता। उसके साथ उसकी "मरजाद" जो जुड़ी हुई है। होरी कहता है, "हमीं को खेतों से क्या मिलता है? एक आने नफरी की मजूरी भी तो नहीं पड़ती। जो दस रुपये महीने का भी नौकर है, वह भी हमसे अच्छा खाता पहनता है, लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दें, तो और करें क्या? नौकरी कहीं मिलती है? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में नहीं है।"[4]

लेकिन "मरजाद" को बचाये रखने के लिए वह छल भी कर सकता है और यह छल उसकी नीति में छल नहीं होता। "इस तरह का छल तो वह दिन रात करता रहता था। घर में दो-चार रुपये पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कस्में खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रुई में कुछ बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज़ था।"[5]

ज़मींदार के सगुन के रुपये देने की साँसत के प्रसंग में अपनी वर्तमान विपन्नता की बड़ी करुण गाथा वह भोला अहीर पर व्यक्त करता है, "उसी की (सगुन के रुपयों की) चिन्ता तो मारे डालती है। अनाज तो सबका सब खलिहान में ही तुल गया। ज़मींदार ने अपना लिया, महाजन ने अपना लिया। मेरे लिए पाँच सेर अनाज बच रहा। यह भूसा तो रातों-रात ढोकर छिपा दिया था, नहीं तिनका भी न बचता। जमींदार तो एक ही है, मगर

---

१. पृष्ठ ३.

२. पृष्ठ ६.

३. पृष्ठ १९.

४. पृष्ठ २१.

५. पृष्ठ ९.

महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन पण्डित अलग। किसी का ब्याज भी पूरा न चुका। जमींदार के भी आधे रुपये बाकी पड़ गये। सहुआइन से फिर रुपये उधार लिये, तो काम चला। सब तरह किफ़ायत करके देख लिया, भैया, कुछ नहीं होता। हमारा जनम इसीलिए हुआ है अपना रक्त बहायें और बड़ों का घर भरें। मूल का दुगना सूद भर चुका, पर मूल ज्यों का त्यों सिर पर सवार है।"[1] आगे भोला कहता है, "कौन कहता है कि हम तुम आदमी हैं, हममें आदमियत कहाँ? आदमी वह है जिनके पास धन है, अख्तियार है, इलम है। हम लोग तो बैल हैं और जुतने के लिए पैदा हुए हैं। उस पर एक दूसरे को देख नहीं सकता। एका का नाम नहीं। एक किसान दूसरे के खेत पर न चढ़े, तो कोई जाफ़ा कैसे करे, परेम तो संसार से उठ गया।"[2] इस पर अलगोझ्या; जिस होरी ने अपनी जवानी जिनके लिए धूल में मिला दी वही उसके मुद्दई हो गये।..........ऐसे में आदमी सचाई से जीना भी चाहे, तो सम्भव नहीं है। उसे विवश होकर छल का आसरा लेना पड़ता है। तभी तो होरी अपने भाइयों से छल करके बाँसों की बिक्री का कुछ पैसा हड़प जाने का इरादा करता है। यह दूसरी बात है कि वह खुद ही एक तीसरे से छला जाता है, और तब सोचता है, "मैं कितना लोभी और स्वार्थी हूँ.....।"[3]

जिसे होरी मरजाद समझता है, वह परम्परा के अनेक बन्धनों का दूसरा नाम है: संयुक्त परिवार की मर्यादा, जाति धर्म की मर्यादा, पंचायत की मर्यादा और सबसे बड़ी मर्यादा यह कि वह नौकर नहीं है, अपने खेत का स्वामी है, भले ही वह खेत अजगर के मुँह की तरह हर चीज़ को निगलता भर हो।

उसका बेटा गोबर एक अहीरन झुनिया से प्रेम करने लगता है। जब झुनिया को गर्भ रह जाता है, तो गोबर उसे अपने घर के दरवाजे पर छोड़कर लखनऊ भाग जाता है। होरी के मन में द्वन्द्व चलता है। झुनिया को घर में कैसे रखे, जाति का मामला है, लेकिन अगर वह आश्रय न देगा तो बेचारी कहाँ जायगी। आखिर मानवता की विजय होती है। होरी झुनिया को घर में रखकर पंचायत का दण्ड स्वीकार करने का निश्चय करता है। धनिया कहती है कि "हमको कुल प्रतिष्ठा इतनी व्यापी नहीं है कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते।"[4] होरी कहता है कि "बिरादरी के डर से हत्यारे का काम नहीं कर सकता।"[5]

लेकिन गाँव के जीवन में बिरादरी का शासन सबसे बड़ा होता है। बिरादरी होरी की अनीति पर दण्ड लगाती है और होरी उस दण्ड के भुगतान में घर का सब कुछ देकर घर को भी रेहन रख देता है। "बिरादरी का वह आतंक था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानों अपने हाथों अपनी क़ब्र खोद रहा हो। ज़मींदार, साहूकार, सरकार

---

१. पृष्ठ २७, २८

२. पृष्ठ २८.

३. पृष्ठ ४२.

४. पृष्ठ १६६.

५. पृष्ठ १६८.

किसका इतना रोब था। कल बाल-बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोखे लेती थी। पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार आँकुस दिये जा रहा था। बिरादरी से पृथक्, जीवन की वह कोई कल्पना ही न कर सकता था, शादी ब्याह, मूँडन, छेदन, जन्ममरण सब कुछ। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाये हुए थी और उसकी नसें उसके रोम-रोम में बिंधी हुई थीं। बिरादरी से निकलकर उसका जीवन विश्रृंखल हो जायगा, तार-तार हो जायगा।"[1]

बिरादरी को डाँड़ देने में घर का सब कुछ चला गया। भोला अहीर से गाय ली थी, उसका पैसा न दे पाया तो भोला बैलों की जोड़ी खोलकर ले गया। बैलों के बिना खेती कैसे हो। मजबूर होकर अपने ही खेत में उसे शिकमी काश्तकार बन जाना पड़ा। दातादीन से बीज लेकर वह अपने ही खेत में नौकर की तरह काम करने के लिए विवश हो जाता है। आज़ाद किसान साहूकार के चक्कर में, चंगुल में फँस जाता है और दातादीन उसे अपना साझीदार नहीं, नौकर समझता है।

इस बीच गोबर लखनऊ से कमाकर लौटता है। वह चाहता है कि अपने पिता को इन साहूकारों के चंगुल से मुक्त करूँ लेकिन परम्परा भीरु होरी का सुधार उसके द्वारा संभव नहीं होता। गोबर अपनी पत्नी-बेटे को लेकर लखनऊ लौट जाता है, होरी अपनी दयनीयता में मरता जाता है। साहूकार उसकी लाश पर मौजों के नये-नये ढंगों का आयोजन करते जाते हैं और जानते हैं कि कानून हज़ार बन जायें, जब तक किसान खुद समर्थ नहीं हो जाता, उसकी मदद कोई नहीं कर सकता क्योंकि "कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी असामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमींदार किसी काश्तकार के साथ सख्ती न करे, मगर होता क्या है? रोज़ ही देखते हैं। जमींदार मुसक बँधवाकर पिटवाता है और महाजन लात और जूते से बात करता है......सारा कारबार इसी तरह चला जायगा, जैसे चल रहा है। कचहरी, अदालत उसी के साथ है जिसके पास पैसा है। हम लोगों को घबराने की कोई बात नहीं है।"[1]

सचमुच में साहूकारों के लिए घबराने की जैसी कोई बात नहीं होती। हाँ, किसान की लाश और चिथती चली जाती है। बड़ी बेटी सोना की शादी का समय आ जाता है। यहाँ होरी शादी के लिए रुपयों की जुगत में लगता है, वहाँ कर्ज के रुपयों की अदायगी के लिए होरी की खड़ी फसल कुर्क हो जाती है। वह तो भोला की दूसरी पत्नी, नोहरी मदद करती है, तब कहीं शादी हो पाती है।

तब तक एक बैल बैठाऊ हो जाता है। वहाँ पुनिया का एक बैल मर गया है। होता यह है कि काम लायक बैलों की जोड़ी एक दिन पुनिया के खेत पर जाती है, एक दिन होरी के। किसान की विपन्नता ऐसी है कि "किसान और किसान के बैल को जमराज ही पिंसिन दे, तो मिले।"[4]

---

१. पृष्ठ १७२.

२. पृष्ठ १७२.

३. पृष्ठ ३३१.

४. पृष्ठ ४०१.

"होरी की दशा दिन-दिन गिरती ही जा रही थी। जीवन के संघर्ष में उसे सदैव हार हुई। पर उसने कभी हिम्मत नहीं हारी। प्रत्येक हार जैसे उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति दे देती थी, मगर अब वह उस अन्तिम दशा को पहुँच गया था, जब उसमें आत्मविश्वास भी न रहा था। अगर वह अपने धर्म पर अटल रह सकता, तो भी कुछ आँसू पुँछते। मगर यह बात न थी। उसने नीयत भी बिगाड़ी, अधर्म भी कमाया, ऐसी कोई बुराई न थी, जिसमें वह न पड़ा हो, पर जीवन की कोई अभिलाषा न पूरी हुई और भले दिन मृगतृष्णा की भाँति दूर ही होते चले गये। यहाँ तक कि अब उसे धोखा भी न रह गया था। झूठी आशा की हरियाली और चमक भी अब नज़र न आती थी। हारे हुए महीप की भाँति उसने अपने को इन तीन बीघे खेत के किले में बन्द कर लिया था और उसे प्राणों की तरह बचा रहा था। फाके सहे, बदनाम हुआ, मजूरी की, पर किले को हाथ से न जाने दिया। मगर अब वह किला भी हाथ से निकला जाता था। तीन साल से लगान बाकी पड़ा हुआ था और अब पण्डित नोखेराम ने उस पर बेदखली का दावा कर दिया था। कहीं से रुपये मिलने की आशा न थी। जमीन उसके हाथ से निकल जायगी और उसके जीवन के बाकी दिन मजूरी करने में कटेंगे। भगवान की इच्छा। रायसाहब को क्यों दोष दें? असामियों ही से तो उनकी भी गुज़र है। इसी गाँव पर आधे से ज्यादा घरों पर बेदखली आ रही है। आगे औरों की जो दशा होगी, वही उसकी भी होगी।"[१]

जो हालत होरी की है, वही गाँव के आधे से ज्यादा लोगों की है। होरी पर जो गुज़र रही है, वह एक व्यक्तिगत घटना नहीं है, वह समाज का सामूहिक भाग्यदर्शन है। इसीलिए होरी व्यक्ति के साथ-साथ अपने समाज का प्रतीक भी है और होरी की कथा उसके समाज की कथा है।

जैसे इतना ही दुर्भाग्य उसके लिए बस नहीं है, इसलिए उसे अपनी छोटी बेटी रूपा का ब्याह रुपये लेकर एक प्रौढ़ दुहाजू से कर देना पड़ता है। रुपये उसे खेत बचाने के लिए चाहिए। लेकिन यह तो लड़की को बेच देना हुआ। होरी को जब ये रुपये मिलते हैं तो वह जैसे विवश ग्लानि से भर जाता है। "उसका सिर ऊपर न उठ सका, मुँह से एक शब्द न निकला, जैसे अपमान के अथाह गड्ढे में गिर पड़ा है और गिरता चला जाता है। आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानों उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है। वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है, भाइयो, मैं दया का पात्र हूँ। मैंने नहीं जाना, जेठ की लू कैसी होती है और माघ की वर्षा कैसी होती है। इस देह को चीरकर देखो, इसमें कितना प्राण रह गया है कितना जख्मों से चूर, कितना ठोकरों से कुचला हुआ। उससे पूछो, कभी तूने विश्राम के दर्शन किये, कभी तू छाँह में बैठा। उस पर यह अपमान उसका सारा विश्वास जो अगाध होकर स्थूल और अन्धा हो गया था, मानों टूक-टूक उड़ गया है।"[२]

१. पृष्ठ ४६९.
२. पृष्ठ ४७९

लेकिन क्या अपनी इस जीवनव्यापी हार के लिए स्वयं होरी जिम्मेदार है? उसका दुहाजू दामाद एक दूसरी ही बात कहता है: वह इसके लिए सारे समाज को जिम्मेदार ठहराता है। "थाना पुलिस कचहरी अदालत सब हैं, हमारी रच्छा के लिए। लेकिन रच्छा कोई नहीं करता। चारों तरफ लूट है। जो गरीब हैं बेकस हैं, उसकी गरदन काटने के लिए सभी तैयार रहते हैं.......यहाँ तो जो किसान है, वह सबका नरम चारा है। पटवारी को नज़राना और दस्तूरी न दे, तो गाँव में रहना मुश्किल। ज़मींदार के चपरासी और कारिन्दा का पेट न भरे तो निबाह न हो। थानेदार और कान्सिटिबल तो जैसे उसके दामाद हैं। जब उनका दौरा गाँव में हो जाय, किसानों का धरम है कि वह उनका आदर-सत्कार करें, नजर नियाज दें, नहीं एक रिपोर्ट में गाँव का गाँव बँध जाय। कभी कानूनगो आते हैं, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी, कभी जंट, कभी कलक्टर, कभी कमिश्नर। किसान को उनके सामने हाथ बाँधे हाजिर रहना चाहिए। उनके लिए रसद चारे, अण्डे मुर्गी, दूध-घी का इन्तजाम करना चाहिए।"[1]

इन और ऐसी ही परिस्थितियों में भारतीय किसान का जीवन खण्ड-खण्ड हो गया है। गोबर जब रूपा की शादी में आता है, तो घर की दशा देखकर उसे बड़ी निराशा होती है। घर का एक हिस्सा गिरते-गिरते हो गया था। द्वार पर केवल एक बैल बँधा हुआ था, वह भी नीम जान.......अब इस घर के सँभलने की क्या आशा है? वह गुलामी करता है, लेकिन भरपेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो, वही रोब जमाता है। गुलामी है, पर सुखी....और यह दशा कुछ होरी ही की न थी, सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक आदमी भी नहीं, जिसकी सूरत रोनी न हो, मानों उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे, घुटते थे, इसलिए कि पिसना और घुटना उनको तक़दीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों और सारी हरियाली मुरझा गई हो। जेठ के दिन हैं। अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है। मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहानों में ही तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है और जो कुछ बचा है, वह भी दूसरों का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उसमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। उनकी सारी चेतना शिथिल हो गई है। द्वार पर मनों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है मगर उनकी नाक में न गंध है, न आँखों में ज्योति। सरे शाम से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं, मगर किसी को कोई गम नहीं। सामने जो कुछ मोटा-झोटा आ जाता है, वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बगैर नाद में मुँह नहीं डालते। मगर उन्हें केवल पेट में कुछ डालने को चाहिए। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है। उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धले के लिए बेईमानी करवा लो। मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज्ज़त को भूल जाता है।[2]

---

१. पृष्ठ ४७३, ४७४.

२. पृष्ठ ४७६, ७७.

यह लम्बा उद्धरण देने की जरूरत यों आ पड़ी कि इसमें वह चरम दयनीय स्थिति चित्रित है, जिसके बाद या तो अनस्तित्व है, या क्रान्ति, जो उस कगार की तरह है, जहाँ से या तो पतन का अतल जल है, या फिर जीवन को नये ढंग से जी सकने का क्रान्तिकारी संकल्प।

होरी की पीढ़ी पतन की ऐसी ही कगार पर खड़ी है।

होरी बेदखल होकर मजदूर बन जाता है। उसकी संपत्ति गई, मरजाद गई, सुख-शान्ति गई। जीवन भर की एक पवित्र लालसा थी कि घर के द्वार पर गाय बँधे। जीवन भर के प्रयत्नों के बाद भी यह लालसा पूरी न हो पाई और होरी मर गया। ऐसी विपन्न हालत में मरा कि हिन्दू आस्था के अनुसार समुचित मुक्ति का अधिकारी न हो पाया, गोदान न करा पाया। उसकी जीवन-संगिनी दातादीन के हाथ में बीस आने रखकर बोली, महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसे। यही पैसे हैं, यही उनका गोदान है।

दातादीन इस क्षण यमराज के दूत की तरह जान पड़ा। तो क्या महाजन ऐसा ही नहीं होता कि जो आजीवन चूसता है और मौत के बाद भी वसूली के लिए सिर पर सवार रहता है।

मानों होरी के साथ होरी की पीढ़ी समाप्त हो जाती है। होरी के आगे की पीढ़ी है गोबर की।

गोबर को प्रारम्भ से ही विद्रोही तबियत का पाते हैं। वह जमींदार के जुल्मों के विरुद्ध स्वर ऊँचा करता है, वह पंचों और ग्राम-अधिकारियों के विरुद्ध स्वर ऊँचा करता है। उपन्यास के अन्त में प्रेमचन्द गोबर से कहलवाते हैं, "दादा का ही कलेजा है कि यह सब सहते हैं, मुझसे तो एक दिन न सहा जाय।"[१] ऐसा ही संकेत रामसेवक महतो के कथन में मिलता है। "संसार में गऊ बनने से काम नहीं चलता, जितना दबो, उतना ही लोग दबाते हैं..... भगवान् न करे, कोई बेईमानी करे; यह बड़ा पाप है, लेकिन अपने हक और न्याय के लिए न लड़ना उससे भी बड़ा पाप है।"[२] रामसेवक कहता ही नहीं है, करना भी जानता है। जब ज़मींदार गाँव पर इज़ाफ़ा करता है, रामसेवक बताता है कि "मैंने गाँव भर में डोंडी पिटवा दी कि कोई वैसी लगान न दो और न खेत छोड़ो। हमको कोई कायल कर दे, तो हम जाफ़ा देने के लिए तैयार हैं, लेकिन जो तुम चाहो कि बेमुँह के किसानों को पीस-कर पी जायँ, तो यह न होगा। गाँववालों ने मेरी बात मान ली और सबने जाफ़ा देने से इन्कार कर दिया। ज़मींदार ने देखा, सारा गाँव एक हो गया है, तो लाचार हो गया। खेत बेदखल कर दे, तो जोते कौन? इस ज़माने में जब तक कड़े न पड़ो, कोई नहीं सुनता।"[३]

तो 'गोदान' में प्रेमचन्द किसान-संघर्ष की संभावना लेकर चलते हैं और उसके लिए परिस्थितियों को जिम्मेदार मानते हैं। परिस्थितियों की अनिवार्य गति में किसानों को मैदान

---

१. पृष्ठ ४७३.
२. पृष्ठ ४७३.
३. पृष्ठ ४७४.

छोड़कर भागना नहीं होगा। किन्तु एक होकर परिस्थितियों से लड़ना होगा। रामसेवक का अनुभव उसे सिखाता है। गोबर उसे शहर की राजनैतिक चेतना के वातावरण में प्राप्त करता है।

"लड़कपन से गोबर ने गाँवों की यही दशा देखी थी और उनका आदी हो चुका था, पर आज चार साल के बाद उसने जैसे एक नई दुनिया देखी। भले आदमी के साथ रहने से उसकी बुद्धि कुछ जाग उठी है, उसने राजनैतिक जलसों के पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं और उनसे अंग-अंग में बिधा है। उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा। अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने न आयेगी।............दुख ने तुम्हें एक सूत्र में बाँध दिया है........उस बंधन को एकता का बंधन बना लो।"[1]

'गोदान' की कथा जहाँ तक होरी का जीवनवृत्त है, वहाँ तक उसमें होरी के समाज में प्रेमचन्द क्रान्ति के बीजों को अंकुरित होते देखते हैं। यह बीजांकुर कुछ तो परिस्थितियों की अनिवार्य गति से होता है और कुछ नई राजनैतिक चेतना के पानी से। लेकिन 'गोदान' में होरी की मौत के साथ प्रेमचन्द की समझौतावादी, अहिंसक, सहनशीलता समाप्त होती है और उसके स्थान पर क्रान्ति का आभास मिलने लगता है। एक स्थान पर मालती सोचती है, "इन किसानों को अपनी दशा के लिए इस देवत्व का कुछ त्याग करना पड़ेगा।"[2] इसी तरह मेहता सोचते हैं, "काश ये आदमी ज़्यादा और देवता कम होते, तो यों न ठुकराये जाते।"[3] देवत्व उनका उनकी निरीह सहनशीलता है। आदमियत जागकर, खड़े होकर अत्याचारों का मुकाबिला करने में।

किसान समस्या के एक छोर पर किसान है, दूसरे पर जमींदार। परिस्थितियों की अनिवार्य गति में ज़मींदार देख रहे हैं कि जमीन उनके पैरों तले से खिसकती जा रही है, यद्यपि ये ज़मींदार अपने आपको समय के अधिक से अधिक अनुकूल बनाने के प्रयत्नों में सचेष्टता से लगे हुए हैं।

'गोदान' में प्रेमचन्द ज़मींदार रायसाहब अमरपालसिंह का परिचय इन शब्दों में देते हैं, "पिछले सत्याग्रह-संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गये थे, तब से उनके इलाके के असामियों को उनके प्रति बड़ी श्रद्धा हो गई थी। यह नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या डाँड और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो, मगर यह सारी बदनामी मुखतारों के सिर जाती थी। रायसाहब की कीर्ति पर कोई कलंक न लग सकता था। वह बेचारे भी तो उसी व्यवसाय के गुलाम थे। ज़ाबते का काम तो जैसे होता चला आया है, वैसा ही होगा। रायसाहब की सज्जनता उस पर कोई असर न डाल सकती थी, इसलिए आमदनी और अधिकार में जौ भर की भी कमी न होने पर भी उनका यश मानों बढ़ गया था। असामियों

---

१. पृष्ठ ४७७

२. पृष्ठ ४१६.

३. पृष्ठ ४१७.

से वह हँसकर बोल लेते थे। यही क्या कम है। सिंह का काम तो शिकार करना है, अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे मनमाना शिकार मिल जाता। शिकार की खोज में उसे जंगल में न भटकना पड़ता।"[१]

नये युग की परिस्थितियों में जमींदार अच्छा बन गया हो, सो बात नहीं है। "शोषक तो वह अब भी है लेकिन अब वह गुर्राकर, गरजकर अपना शिकार नहीं करता, गांधी टोपी लगाकर, जेल जाकर बेचारे गरीब अपढ़ असामियों के हृदय को प्रभावित करके अपना काम करता है। रायसाहब जेल जाकर जनता के श्रद्धा-पात्र बने रहते हैं और नज़रें और डालियाँ भेजकर सरकार के कृपापात्र। रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाये रखते हैं।"[२]

ज़मींदार कैसे खोखले, अस्वाभाविक समाज के व्यक्ति हैं यह रायसाहब स्वयं जानते हैं। वे जानते हैं कि ग़रीबों का शोषण करके वे अपनी धंसती हुई इमारत को थामे रखने के लिए हर प्रकार की चेष्टाएँ कर रहे हैं, लेकिन ये चेष्टाएँ कारगर होने की नहीं हैं। परिस्थितियाँ खुद उनके वर्ग के अस्तित्व को मिटा देने के लिए बनती चली जा रही हैं। रायसाहब होरी महतो से कह रहे हैं,..........."और ये रुपये (जिनसे रायसाहब का वैभव विलास सजता है) तुमसे और तुम्हारे भाइयों से वसूल किये जाते हैं, भाले की नोक पर। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि क्यों तुम्हारी आहों का दावानल हमें भस्म नहीं कर डालता। मगर नहीं, आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। भस्म होने में तो बहुत देर नहीं लगती.........हम जौ-जौ और अंगुल-अंगुल और पौर-पौर भस्म हो रहे हैं। उस हाहाकार से बचने के लिए हम पुलिस की, हुक्काम की, अदालत की, वकील की शरण लेते हैं।..........दुनिया समझती है हम सुखी हैं........लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है.......मुफ्तखोरी ने हमें अपंग बना दिया है। हमें अपने पुरुषार्थ पर लेशमात्र भी विश्वास नहीं, केवल अफ़सरों के सामने दुम हिला-हिलाकर किसी तरह उनके कृपापात्र बने रहना और उनकी सहायता से अपनी प्रजा पर आतंक जमाना ही हमारा उद्यम है। पिछलगुओं की खुशामद ने हमें इतना अभिमानी और तुनुकमिजाज बना दिया है कि हममें शील और विनय और सेवा का लोप हो गया है। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि अगर सरकार हमारे इलाके छीनकर हमें अपनी रोज़ी के लिए मेहनत करना सिखा दे, तो हमारे साथ महान उपकार करे और यह तो निश्चय है कि अब सरकार भी हमारी रक्षा न करेगी। हमसे अब उसका कोई स्वार्थ नहीं निकलता। लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्द हमारे वर्ग की हस्ती मिट जानेवाली है। मैं उस दिन का स्वागत करने को बैठा हूँ। ईश्वर वह दिन जल्द लाये, वह हमारे उद्धार का दिन होगा। हम परिस्थितियों के शिकार बने हुए हैं। यह परिस्थिति ही हमारा सर्वनाश कर रही है और जब तक संपत्ति की यह बेड़ी हमारे पैरों से न निकलेगी, जब तक यह अभिशाप हमारे सिर पर

---

१. पृष्ठ १३.
२. पृष्ठ १३.

मँडराता रहेगा, हम मानवता का वह पद न पा सकेंगे, जिस पर पहुँचना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।"[१]

लेकिन इतना जानकर, इतना समझकर भी रायसाहब अपने किसानों के प्रति दयालु और अपने व्यवहार में उदार हों, सो बात नहीं है। एक घड़ी भर बाद बेगारों के काम करने से इन्कार करने पर उनके माथे पर बल पड़ जाता है। वे आँखें निकालकर कहते हैं कि अभी दुष्टों को ठीक करता हूँ और होरी ने मन में सोचा, "कभी यह कैसी-कैसी नीति और धरम की बातें कर रहे थे, और एकाएक इतने गरम हो गये।"[२]

बात यह है कि शेर ने अब मीठी बोली बोलकर घर बैठे मनमाना शिकार पाने की कला जान ली है।

'गोदान' में हमें कहीं नहीं जान पड़ता कि रायसाहब ने उदार, सहृदय जमींदार बनने की कोशिश की हो। प्रारंभ से अन्त तक वे अपने स्वार्थों को बनाये रखने की कोशिशों में लिप्त मिलते हैं। यहाँ तक कि ओंकारनाथ को रिश्वत देकर वे अखबार का मुँह बन्द किये रखना चाहते हैं, जिससे उनके अत्याचारों, अनाचारों का भण्डा न फूटे। वे गाँव के किसानों से चूसकर अपनी झूठी मर्यादा बनाये रखने के हज़ार कामों में रुपया व्यय करते रहते हैं। 'गोदान' के अन्त में हम देखते हैं कि "रायसाहब को अपना राजसी ठाट निभाने के लिए वही असामियों पर इज़ाफा और बेदखली और नज़राना करना और लेना पड़ता था, जिससे उन्हें घृणा थी। वह प्रजा को कष्ट न देना चाहते थे। उनकी दशा पर उन्हें दया आती थी, लेकिन अपनी जरूरतों से हैरान थे।"[३]

यह बात रायसाहब ढंग-ढंग से कहते हैं कि "मैं किसानों के प्रति न्याय करना चाहता हूँ लेकिन परिस्थितियों से मजबूर हूँ।"

अपने सम्बन्ध में पूरी सफाई देते हुए रायसाहब कहते हैं, "मैं उस वातावरण में पला हूँ जहाँ राजा ईश्वर है और जमींदार ईश्वर का मंत्री......मैं मानने लग गया हूँ कि जब तक किसानों को रियायतें अधिकार के रूप में न मिलेंगी, केवल सद्भावना के आधार पर उनकी दशा सुधर नहीं सकती। स्वेच्छा से अगर अपना स्वार्थ छोड़ दे, तो अपवाद है। मैं खुद सद्भावना करते हुए भी स्वार्थ नहीं छोड़ सकता और चाहता हूँ कि हमारे वर्ग को शासन और नीति के बल से अपना स्वार्थ छोड़ने के लिए मजबूर किया जाय।"[४] तो जब तक परिस्थितियाँ न बदलें तब तक किसान-ज़मींदार-सम्बन्ध न सुधरेंगे और परिस्थितियाँ क्या शोषकों के बदले बदला करती हैं? उन्हें तो शोषितों की जागृति और विद्रोही वृत्ति बदलेगी। इस जागरण के चिह्न प्रेमचन्द के 'गोदान' में मौजूद हैं।

बदला हुआ युग महाजनों का है जो गाँव में किसानों और शहरों में ज़मींदारों को खोखला बनाते जा रहे हैं। सामन्ती व्यवस्था में तब भी एक सीमा है, लेकिन पूंजीवादी

---

१. पृष्ठ १६, १७.

२. पृष्ठ १८.

३. पृष्ठ ४३९.

४. पृष्ठ ७०.

व्यवस्था, महाजनी सभ्यता तो ऐसी है कि जिसमें गरीब और अधिक गरीब और अमीर और अधिक अमीर होता जाता है। इस व्यवस्था के दो स्पष्ट प्रतीक खन्ना और तंखा हैं।

"खन्ना अभी दस साल पहले बैंक में क्लर्क था। वह केवल अपने अध्यवसाय, पुरुषार्थ और प्रतिभा से शहर में पुजता है।[1] लेकिन मिस्टर खन्ना साहसी आदमी थे, संग्राम में आगे बढ़नेवाले। दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर पहनते थे और फ्रांस की शराब पीते थे। अवसर पड़ने पर बड़ी-बड़ी तकलीफें झेल लेते थे। जेल में शराब छुई तक नहीं और ए. क्लास में रहकर भी सी. क्लास की रोटियाँ खाते रहे।"[2]

"खन्ना एक बैंक के डाइरेक्टर हैं। उनकी दो शक्कर की मिलें हैं और उन्हें असामियों के शिकार से फुरसत नहीं है।"[3] "आदमियों को बेवकूफ बनाकर उन पर एहसान लादकर अपना काम निकालना उनका धर्म है। उनका आदर्श है।"[4] बिज़नेस इज़ बिज़नेस और वे दोस्तों के साथ भी रियायत करना नहीं जानते। शोषण से कमाये धन की गति विलास की ओर है, यह बात प्रेमचंद प्रारंभ से कहते चले आ रहे हैं। खन्ना को विलास के लिए मालती मिल जाती है। मालती के पीछे खन्ना अपना पारिवारिक सुख भी खो बैठते हैं।

खन्ना के जीवन की जटिलता जिस प्रकार और अधिक धन के साथ और अधिक बढ़ती है उनकी कोमल वृत्तियाँ सूख जाती हैं, वैसे ही धन की समाप्ति के बाद वे फिर मानवता की ज़मीन पर आ जाते हैं। खन्ना की एक शक्कर की मिल जल जाती है। मिल के जलने पर खन्ना जैसे बावले हो जाते हैं, "मैं एक घण्टा नहीं आध घण्टा पहले दस लाख का आदमी था। जी हाँ, दस लाख, मगर इस वक्त फाकेमस्त हूँ। नहीं दिवालिया हूँ.... जिस खन्ना को देखकर लोग जलते थे, वह खन्ना अब धूल में मिल गया। समाज में अब मेरा कोई स्थान नहीं है। मेरे मित्र मुझे अपने विश्वास का पात्र नहीं दया का पात्र समझेंगे। मेरे शत्रु मुझसे जलेंगे नहीं, मुझ पर हँसेंगे। आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है। कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाँट रखे।"[5]

मिल जुल जाने के बाद खन्ना अपने आपको पा लेते हैं।

तो क्या प्रेमचन्द 'रंगभूमि' के बाद 'गोदान' में फिर कहना चाहते हैं कि औद्योगीकरण से जीवन की जटिलता बढ़ेगी ही, मन की कोमल वृत्तियाँ सूखेंगी ही। धन नहीं मन की शक्ति बढ़ाओ। जीवन जटिलता में नहीं, सादगी में है।

तंखा का काम एक ही है, दूसरों को लड़ाकर कमाना। "मिस्टर तंखा दाँव-पेंच के आदमी थे। सौदा पटाने में, मुआमला सुलझाने में, अड़ंगा लगाने में, बालू से तेल निकालने में, गला दबाने में, दुम झाड़कर निकल जाने में बड़े सिद्धहस्त कहिये। रेत में नाव चला दें,

---

१. पृष्ठ १२०.
२. पृष्ठ ११८.
३. पृष्ठ ११६.
४. पृष्ठ ३१६.
५. पृष्ठ ३९३.

पत्थर पर दूब उगा दें। ताल्लुकेदारों को महाजनों से कर्ज़ दिलाना, नई कम्पनियाँ खोलना, चुनाव के अवसर पर उम्मेदवार खड़े करना यही उनका व्यवसाय था। खासकर चुनाव के समय उनकी तकदीर चमकती थी। किसी पोढ़े उम्मीदवार को खड़ा करते, दिलोजान से उसका काम करते और दस बीस हज़ार बना लेते। जब कांग्रेस का ज़ोर था तो कांग्रेस के उम्मेदवारों के सहायक थे। जब साम्प्रदायिक दल का ज़ोर हुआ तो हिन्दू सभा की ओर से काम करने लगे, मगर इस उलट-फेर के समर्थन के लिए उनके पास ऐसी दलीलें थीं कि कोई उँगली न दिखा सकता था। शहर के सभी रईस, सभी हुक्काम, सभी अमीरों से उनका घराना था।"[१]

यही काम मालती के पिता मि० कौल करते थे और एक सीमा तक मालती भी अपनी डाक्टरी के पेशे में अपने पिता से पाये गुरों को काम में लाती थी। ओंकारनाथ आदर्शवादी बनते तो थे लेकिन व्यवहार में वे पूँजीपति के गुलाम नहीं तो अनुयायी जरूर थे। रायसाहब सम्बन्धी गाँव की खबर के प्रसंग में उनके आदर्शवाद का भंडा फूट जाता है।

'गोदान' में दो शहराती पात्र अपनी विचित्रताओं के कारण आपका ध्यान बरबस खींच लेंगे। एक हैं मिर्ज़ा खुर्शीद और दूसरे मिस्टर मेहता।

मिर्ज़ा खुर्शीद उन लोगों में से हैं, जो जीवन को वादों के घेरे में बाँधकर उसे संकीर्ण नहीं बनाना चाहते। जीवन के गंभीर और करुण तजर्बों के बाद वे अब जीवन के आनन्द को बिना किसी बाधा के, किसी ख्याल के, किसी चिन्ता के भोगना चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण विशुद्ध आनन्दवादी है। भोगवादी नहीं। तभी वे लकड़हारे के गाँव में ऐसे रम जाते हैं जैसे कोई घर का आदमी हो। बूढ़ों की कबड्डी का आयोजन करके ग़रीबों की मदद करते हैं, गोबर को अपने यहाँ आश्रय देते हैं।

मेहता 'गोदान' का सबसे समर्थ पात्र है। मेहता में आन्तरिक सचाई है और मेहता की वाणी को चाहें तो प्रेमचन्द के विचार भी आप मान सकते हैं। अन्तर इतना ही है कि जहाँ प्रेमचन्द कोरमकोर बुद्धिवादी नहीं हैं, वहाँ मेहता बुद्धिवाद के हामी हैं और जो थोड़ी सी अतृप्ति, भ्रान्ति उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में मालती को लेकर मेहता के चरित्र में दिखाई गई है, उसके द्वारा प्रमचंद कोरमकोर बुद्धिवाद की असफलता व्यक्त करना चाहते हैं।

मेहता कथनी और करनी के सामंजस्य के हामी हैं और अपने विचारों को निर्भीकता से कहने में विश्वास रखते हैं। वे कहते हैं, "मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि हम या तो साम्यवादी हैं या नहीं हैं। हैं तो उसका व्यवहार करें नहीं तो बकना छोड़ दें। मैं नकली जिन्दगी का विरोधी हूँ। अगर मांस खाना अच्छा समझते हो, तो खुलकर खाओ, बुरा समझते हो तो मत खाओ। यह तो मेरी समझ में आता है, लेकिन अच्छा समझना और छिपकर खाना, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं इसे कायरता भी कहता हूँ और धूर्तता भी, जो वास्तव में एक है।"[३]

---

१. पृष्ठ १२४, १२५.

२. पृष्ठ २३०, २३६.

३. पृष्ठ ६९.

एक ओर खन्ना हैं, तन्खा हैं, या रायसाहब हैं और दूसरी ओर मेहता।

मेहता समानता के सिद्धान्त को संपूर्णतः नहीं मानते। वे यह विश्वास करते हैं कि इस दिशा में यद्यपि प्रयत्न चिरंतन काल से चले आ रहे हैं लेकिन सफलता अभी तक नज़र नहीं आती। हाँ, वे धन की समानता की कल्पना को एक सीमा तक उचित मान भी लें, तो भी बौद्धिक समानता की संभावना नहीं देखते। वे धन का उपयोग जीवन में इतना ही रहने देना चाहते हैं जितने से जीवन की सुविधाएँ जुटाई जा सकें। वे कहते हैं, "मेरे लिए धन केवल उन सुविधाओं का नाम है, जिनमें मैं अपना जीवन सार्थक कर सकूँ। धन मेरे लिए बढ़ने और फलने फूलनेवाली चीज़ नहीं। केवल साधन है। मुझे धन की बिलकुल इच्छा नहीं। आप वह साधन जुटा दें, जिसमें मैं अपने जीवन का उपयोग कर सकूँ।"[१]

मेहता के लिए धन साध्य नहीं, साधन है, महाजनी सभ्यता धन को साध्य मानकर चलती है, इसलिए वे उसके विरोधी हैं।

पुरुष-नारी-सम्बन्ध और प्रेम के प्रश्न पर भी मेहता अपने ढंग से सोचते हैं। उनका मूल विश्वास है कि "समाज की दृष्टि से विवाहित जीवन और व्यक्ति की दृष्टि से अविवाहित जीवन श्रेष्ठ है।"[२] विवाह को वे सामाजिक समझौता समझते हैं जिसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"[३]

नर-नारी के संबंध में मेहता के बड़े आदर्श विचार हैं, "मेरे जेहन में औरत वफ़ा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेज़बानी से, अपनी क़ुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। देह पुरुष की रहती है, पर आत्मा स्त्री की होती है। आप कहेंगे, मर्द अपने को क्यों नहीं मिटाता, औरत ही से क्यों इसकी आशा करता है? मर्द में वह सामर्थ्य ही नहीं है। वह अपने को मिटायेगा, तो शून्य हो जायगा। वह किसी खोह में जा बैठेगा और सर्वात्मा में मिल जाने का स्वप्न देखेगा। वह तेज प्रधान जीव है, और अपने अहंकार में वह समझकर कि यह ज्ञान का पुतला है, सीधा ईश्वर में लीन होने की कल्पना किया करता है। स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान् है, शान्ति-सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं, तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष आकर्षित होता है स्त्री की ओर, जो सर्वांश में स्त्री है।"[४]

इसी सत्य को मेहता वीमेन्स लीग में और विस्तार से प्रतिपादित करते हैं। वे औरतों के समानाधिकार के नारे को इस अर्थ में ग़लत मानते हैं कि औरतें विकास के विचार से पुरुषों से आगे की स्थिति में है। समानाधिकार के द्वारा वे अपने को उस उच्च स्थिति से गिराना चाहती हैं। फिर वे समझते हैं कि जीवन के प्रसंग में पुरुष और नारी के अलग-अलग

---

१. पृष्ठ ७९.

२. पृष्ठ ८०.

३. पृष्ठ ८०.

४. पृष्ठ १९७.

शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण उनके कार्यक्षेत्र भी अलग-अलग हैं और अपनी संपूर्ण सार्थकता के लिए यह आवश्यक भी है कि उनके कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहें। वे पश्चिम के नारी-जागरण को शुभ नहीं मानते। वे नारियों से कहते हैं, "संसार में सबसे बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं और वह आपको मिले हुए हैं। उन अधिकारों के सामन वोट कोई चीज़ नहीं। मुझे खेद है हमारी बहिनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं जहाँ नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गई हैं। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिए कि वह अधिक-से-अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है। पश्चिम में जो चीजें अच्छी हैं, वह उनसे लीजिए। संस्कृति में सदैव आदान-प्रदान होता आया है, लेकिन अंधी नकल तो मानसिक दुर्बलता का ही लक्षण है। पश्चिम की स्त्री आज गृह-स्वामिनी नहीं रहना चाहती। भोग की विदग्ध लालसा ने उसे उच्छृंखल बना दिया है......उनकी लालसाओं ने इन्हें इतना पराभूत कर दिया है कि वे अपनी लज्जा की रक्षा नहीं कर सकतीं। नारी की इससे अधिक और क्या अधोगति हो सकती है ?"[१]

नारी की चरम परिणति वे मातृत्व में मानते हैं, "मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है और इसके उपरान्त वह जो कुछ है, वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में उसे लय कहूँगा---जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।"[२]

इस प्रकार मेहता के विचार से नारीत्व विकास की एक अखण्ड मंजिल है, रमणीत्व जिसका एक पक्ष है और मातृत्व चरम परिणति कह सकते हैं रमणीत्व फूल है, मातृत्व फल। पहला दूसरे के लिए उपक्रम है, दूसरा पहले का निश्चित परिणाम।

और जीवन का जो दर्शन मेहता अपने वर्षों के चिन्तन के बाद पा सके हैं उसके दो ही तत्व हैं, अनीश्वरवादिता और सेवा-धर्म। "किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था।"[३] आत्मा और आत्मवाद की खूब छानबीन कर लेने पर वह इसी तत्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निर्वृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है।

'गोदान' में प्रेमचन्द के विरुद्ध लगाये गये एक आरोप का खण्डन मिलता है। प्रेमचन्द को लेकर प्रगति और प्रतिक्रिया पर विचार करते समय अक्सर कहा जाता है कि जहाँ प्रेमचन्द ने अपने समय के विविध आन्दोलनों को अपने उपन्यास-कहानियों में स्थान दिया है, वहाँ मज़दूरों की बड़ी-बड़ी हड़तालों का जिक्र उन्होंने क्यों नहीं किया ? इसका एक कारण तो स्पष्ट है ही कि अभी प्रेमचन्द गांधीवादी-परम्परा में से गुजरते हुए साम्यवादी समाजवादी ढंग के

---

१. पृष्ठ २१९.
२. पृष्ठ २६९.
३. पृष्ठ ४११.

आन्दोलनों से अपने को बचाकर चलना चाहते थे। लेकिन यह भी संभव है कि प्रेमचन्द सोचते रहे हों कि देश की आर्थिक योजना अभी कृषि के आधार पर है, उद्योगों के नहीं, इसलिए कृषि-सम्बन्धी समस्याओं का परिष्कार आर्थिक नियोजन को प्रगतिशीलता प्रदान कर सकेगा। फिर ये हड़तालें अभी देश के राजनैतिक जीवन के साथ मिलकर एकरस नहीं हो पाई थीं, अभी ये छुट-पुट एकांगी असम्बद्ध घटनाओं के रूप में ही थीं। सन् १९३३, ३४, ३५ तक यदि बड़ी समस्या कृषि-संबंधी है, तो एक महत्वपूर्ण समस्या मज़दूरों की भी है। 'गोदान' में ही आकर मज़दूरों की समस्या पर विचार करने का एक कारण यह भी है कि समाज की गति का निर्देश करते समय प्रेमचन्द यहीं आकर 'गोदान' में यह बताते हैं कि शोषण की निरंतर चोटों ने किसान को अपनी ज़मीन से बेदखल करके मज़दूर बना दिया है और यह मज़दूर, गोबर जिसका प्रतीक है, किसानों की तरह सिर झुकाकर सहना नहीं जानता, सिर उठाकर कहना जानता है। प्रेमचन्द खन्ना की मिल में हड़ताल दिखाकर मानों अपने विरोधियों से कहना चाहते हैं कि प्रेमचन्द समय की नस को पहचानता है, समस्या के मूल को जानता है।

खन्ना की मिल में हड़ताल मिल मालिकों के स्वार्थ के कारण होती है। हड़ताली मज़दूर संघ को मिर्ज़ा खुर्शीद और ओंकारनाथ की मदद रहती है। हड़ताल को शान्तिपूर्वक ढंग से संचालित करने की सावधानी रखने के बाद भी हिंसा का प्रवेश हो ही जाता है। इस हड़ताल का प्रत्यक्ष तो कोई परिणाम नज़र नहीं आता, लेकिन इस नाते कि मिल में आग लगने के बाद मिल मालिकों को जान पड़ता है कि नौसिखिये मज़दूर रखने की बजाय पुरानों को कुछ ज्यादा देकर रखना लाभप्रद ही है, प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि जब मिल मालिकों के स्वार्थ मज़दूरों के साथ जुड़े हुए हैं, तो मज़दूरों को थोड़ा सा संतुष्ट रखने में ही हित है।

मज़दूरों की समस्या को 'गोदान' में प्रेमचन्द ने छुआ ही है, लेकिन उसकी तह तक पहुँचकर वे तत्व निर्देश करने में कोई चूक नहीं करते।

'गोदान' में पुरुष और नारी के संबंध को लेकर प्रेम और विवाह के विभिन्न स्वरूप व्यक्त करनेवाली जोड़ियाँ मिलती हैं।

गाँव में प्रधान हैं:—

(१) होरी और धनिया,
(२) गोबर और झुनिया।
(३) मातादीन और सिलिया।
(४) भोला और नोहरी।
(५) सोना और मथुरा।
(६) रूपा और रामसेवक।

शहर में हैं:—

(१) खन्ना और मिसेज़ खन्ना।

(२) खन्ना और मालती।

(३) मेहता और मालती।

गाँव के प्रेम और वैवाहिक जीवन में होरी-धनिया, सोना-मथुरा, रूपा-रामसेवक सामाजिक विधान के अनुसार विहित जोड़े हैं। होरी और धनिया जीवन के सुख और दुख को साथ-साथ भोगते हैं, एक दूसरे पर रुष्ट होते हैं, छीना-झपटी और मार-पीट तक नौबत आ जाती है, लेकिन यह सब क्षणिक है। वे जैसे एक दूसरे के मन को समझे हुए हैं, इसलिए लड़कर भी एक हो जाते हैं। सोना और रामसेवक के सुखी जीवन से सिलिया को भी ईर्ष्या होती है। एक छोटे से प्रसंग के द्वारा प्रेमचन्द ने इनके प्रेमाकाश पर आ रही बादल की टुकड़ी की ओर इशारा किया है और बताया है कि किस प्रकार सोना अपने प्रेम की रक्षा करती है। सोना को जब जान पड़ता है कि उसका पति लम्पटता करना चाहता है, तो वह जैसे भूखी बाघिन की तरह झपटती है और तब उसके पति से सहमते ही बनता है। रूपा सिर झुकाकर सहना जानती है। वह परिस्थितियों का शिकार बन गई है लेकिन अपने पिता की लाज बनाये रखने के लिए वह अपने बूढ़े पति से सिर झुकाकर समझौता कर लेती है। इन तीनों के द्वारा प्रेमचन्द अपनी कही इस बात की पुष्टि करना चाहते हैं कि "विवाह एक सामाजिक समझौता है, जिसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को।" विवाह ऐकान्तिक उच्छृंखलता नहीं, सामाजिक बंधन है। इसी रूप में ग्रहण करके समाज की नैतिकता को स्वीकार करके अपने अधिकारों की रक्षा करते हुए और सही कर्तव्यों का पालन करते रहने से विवाहित जीवन सुखी ही होगा।

गोबर और झुनिया का प्रेम प्रारंभिक उन्माद की स्थिति से होता हुआ कर्तव्य के रास्ते पर तब तक स्थिर रहता है, जब तक गोबर शहर में झुनिया को लेकर उसे केवल विलास की वस्तु नहीं समझ लेता। उसके संतुलित जीवन में असंयम का प्रवेश उसके और उसकी पत्नी, दोनों के सुख को नष्ट कर देता है। गोबर अतृप्त रह जाता है, झुनिया विक्षुब्ध हो जाती है। झुनिया के बेटे की मृत्यु उसे और अधिक विरक्त कर देती है और गोबर से उसे अब विकर्षण होने लगता है। गोबर की अतृप्ति के संबंध में प्रेमचन्द कहते हैं, "उसके शोक में भाग लेकर, उसके अंतर्जीवन में बैठकर गोबर उसके समीप जा सकता था, उसके जीवन का अंग बन सकता था, पर वह उसके बाह्य जीवन के सूखे तट पर आकर ही प्यासा लौट जाता था। गोबर की अतृप्ति उसे नशे की ओर ले जाती है और नशा अकर्तव्य, यहाँ तक कि अकर्मण्यता को जन्म देता है, जिसके कारण उनका विवाहित जीवन और अधिक अशान्त हो जाता है।" झुनिया के मन में बैठ गया था कि "वह पक्का मतलबी, बेदर्द आदमी है। मुझे केवल भोग की वस्तु समझता है।"[1] इधर गोबर का मन झुनिया की ओर से खिंचता है। इस तरह "दोनों के बीच में यह मनोमालिन्य समय के साथ लोहे के मोर्चे की भाँति गहरा दृढ़ और कठोर होता जाता था। दोनों एक दूसरे की बातों का उलटा ही अर्थ लगाते, वही जिससे आपस का द्वेष और भड़के और कई दिनों तक एक-एक वाक्य को मन में पाले रहते और उसे अपना रक्त पिला पिलाकर एक दूसरे पर झपट पड़ने के लिए तैयार

---

१. पृष्ठ ३७७.

करते रहते, जैसे शिकारी कुत्ते हों।"[१] मिल की हड़ताल में आहत होने के बाद गोबर को होश आता है, वह झुनिया से अपने किये की माफ़ी माँगता है और झुनिया श्रम करके कमाती है और कमा कर अपने प्राणाधार को स्वस्थ करती है। "जीवन की सार्थकता में, अपनों के लिए कठिन से कठिन त्याग में और स्वाधीन सेवा में जो उल्लास है, उसकी ज्योति उसके एक-एक अंग पर चमकती रहती........और मन स्वस्थ हो, तो देह कैसे अस्वस्थ रहे।"[२] इधर गोबर कटुता की जगह मृदुता और अभिमान की जगह नम्रता का पाठ सीख चुका था।

गोबर-झुनिया प्रसंग बताता है कि भोग ही जीवन की सार्थकता नहीं है, त्याग और सेवा ही में जीवन का सुख है।

मातादीन और सिलिया का संबंध प्रेम के आधार पर है। मातादीन ब्राह्मण है, सिलिया चमार। उनके प्रेम के पथ में एक व्यवधान जाति का है। एक और व्यवधान है, मातादीन की कृपणता, स्वार्थपरता का। सिलिया निष्ठा के भाव से माता-पिता के अत्याचार सहकर, पति की विरक्तता सहकर अपना कर्तव्य निबाहती रहती है और उसकी अडिग निष्ठा और कर्तव्यशीलता एक दिन आखिर मातादीन से फिर उसको मिला देती है। मातादीन, ग्लानि और पश्चाताप के भाव से कहता है, "यह मेरी देवी का मन्दिर है, जिसमें वह एक लोटा पानी उँडेलकर नहीं चला जायगा, किन्तु जब तक प्राण हैं, सिलिया की शरण में मैं रहूँगा। उसकी पूजा करूँगा।"[३]

भोला-नोहरी के संबंध को प्रेमचन्द ने कभी उचित नहीं माना, स्वाभाविक भी नहीं। धनिया भोला को ताने देते हुए कहती है, "जब औरत को बस में रखने का बूता न था, तो सगाई क्यों की थी? क्या सोचते थे, वह आकर तुम्हारे पाँव दबायेगी, तुम्हें चिलम भर-भर पिलायेगी और जब तुम बीमार पड़ोगे, तो तुम्हारी सेवा करेगी। तो ऐसा वही औरत कर सकती है, जिसने तुम्हारे साथ जवानी का सुख उठाया हो।"[४] इस प्रकार के संबंध के दुष्परिणाम 'निर्मला' में प्रेमचन्द विस्तार से बता चुके हैं। यहाँ भी भोला की दयनीय हालत दिखाकर उन्होंने अपने पिछले कथन की पुष्टि की है।

शहर में खन्ना और मिसेज़ खन्ना के निर्मल जीवन-आकाश में मालती घटा की तरह घिरती है। प्रेमचन्द कहते हैं, "खन्ना और गोविन्दी में नहीं पटती। क्यों नहीं पटती, यह बताना कठिन है। ज्योतिष के हिसाब से उनके ग्रहों में कोई विरोध रहे, हालाँ कि विवाह के समय ग्रह और नक्षत्र खूब मिला लिये गये थे। काम-शास्त्र के हिसाब से इस अनबन का और कोई रहस्य हो सकता है और मनोविज्ञान वाले कुछ और ही कारण खोज सकते हैं। हम तो इतना ही जानते हैं कि उनमें नहीं पटती।"[५] लेकिन प्रेमचन्द इससे ज्यादा भी जानते हैं। वे जानते हैं कि इनमें क्यों नहीं पटती। गोविन्दी विलास की दासी नहीं, कर्तव्यानुरता है और उसका

---

१. पृष्ठ ३८४.
२. पृष्ठ २५३, २५४.
३. पृष्ठ ४६७.
४. पृष्ठ ३९८.
५. पृष्ठ २५३, २५४.

स्वामी विलास के पीछे प्रमत्त। "बच्चों का लालन-पालन और गृहस्थी के छोटे-मोटे काम ही उसके लिए सब कुछ हैं। वह इनमें इतना व्यस्त रहती है कि भोग की ओर उसका ध्यान ही नहीं आता। आकर्षण क्या वस्तु है और कैसे उत्पन्न हो सकता है, इसकी ओर उसने कभी विचार नहीं किया। वह पुरुष का खिलौना नहीं है, न उसके भोग की वस्तु। फिर क्यों आकर्षण बनने की चेष्टा करे। अगर पुरुष उसका असली सौंदर्य परखने के लिए आँखें नहीं रखता, कामिनियों के पीछे मारा-मारा फिरता है, तो यह उसका दुर्भाग्य है। वह उसी प्रेम और निष्ठा से पति की सेवा किये जाती है।"[१]

मिसेज़ खन्ना का दुःख पति की विलास-प्रियता के कारण है। खन्ना मालती के तितली रूप के पीछे दीवाने हो गये हैं, लेकिन वह पति की बेरुखी से अचिंतित अपने कर्तव्य निर्वाह में लगी रहती है। एक बार अवश्य वह बहुत दुखी होकर अपने कर्तव्य से भागना चाहती है। वह घर छोड़कर चले जाने का संकल्प करती है। ऐसे अवसर पर मेहता उसे समझाते हैं, "नहीं देवीजी, वह घर आपका है, और सदैव रहेगा। उस घर की आपने सृष्टि की है, उसके प्राणियों की सृष्टि की है और प्राण जैसे देह का संचालन किया है। मातृत्व महान गौरव का पद है, देवीजी और गौरव के पद में कहाँ अपमान, और धिक्कार और तिरस्कार नहीं मिला। माता का काम जीवन देना है। जिसके हाथों में इतनी अतुल शक्ति है, उसे इसकी क्या परवाह कि कौन उससे रूठता है, कौन बिगड़ता है।"[२]

फिर और अधिक संलग्नता से, मनोयोग से गोविन्दी अपने काम में लग जाती है।

आखिर विजय उसी की होती है। पथ-भ्रांत खन्ना को उस दिन होश आता है जिस दिन उसकी मिल में आग लगती है। इस समय उन्हें संतोष अपनी पत्नी की स्नेहच्छाया से मिलता है। गोविन्दी कहती है—

"तो तुम इतना दिल छोटा क्यों करते हो। धन के लिए, जो सारे पाप की जड़ है। उस धन से हमें क्या सुख था? सबेरे से आधीरात तक एक न एक झंझट। आत्मा का सर्वनाश। लड़के तुमसे बात करने को तरस जाते थ, तुम्हें संबंधियों को पत्र लिखने तक की फुरसत न मिलती थी......मैं तो खुश हूँ कि तुम्हारे सिर से यह बोझ टला। अब तुम्हारे लड़के आदमी होंगे, स्वार्थ और अभिमान के पुतले नहीं। जीवन का सुख दूसरों को सुखी करने में है, उनको लूटने में नहीं। बुरा न मानना, अब तक तुम्हारे जीवन का अर्थ था आत्मसेवा, भोग और विलास। दैव ने तुम्हें उस साधन से वंचित करके तुम्हें ज्यादा ऊँचे और पवित्र जीवन का रास्ता खोल दिया।"[३]

मालती और मेहता "गोदान" के सबसे आकर्षक पात्र हैं। राय साहब के यहाँ उत्सव में हम उन्हें पहली बार देखते हैं। दोनों में अजीब सजीवता है—एक में अपनी बौद्धिकता और स्पष्टवादिता के कारण दूसरे में अपने तितलीपन के कारण। मालती के बारे में प्रेमचन्द ने लिखा है, "आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूटकर भरी

१. पृष्ठ २५४.
२. पृष्ठ २६८.
३. पृष्ठ ३९५.

हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं, मेक अप में प्रवीण, बला की हाज़िर जवाब, पुरुष-मनो-विज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव, मनोद्‌गारों का कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप हो गया।"[1] मेहता और मालती में प्रारंभ से एक साम्य मिलता है। दोनों जीवन को खेल समझकर खेलते हैं। मेहता कहते हैं, "जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल स्वच्छन्द जहाँ-कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है।"[2] मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। उसके जीवन में हँसी ही हँसी नहीं है। केवल गुड़ खाकर कौन जी सकता है। और जिये भी तो वह कोई सुखी जीवन न होगा। वह हँसती है, इसलिए कि उसे उसके भी दाम मिलते हैं। उसका चहकना और चमकना इसलिए नहीं है कि वह चहकने और चमकने को ही जीवन समझती है, या उसने निजत्व को अपनी आँखों में इतना बढ़ा लिया है कि जो कुछ करे, अपने ही लिए करे। नहीं, वह इसलिए चहकती और विनोद करती है कि इससे उसके कर्तव्य का भार कुछ हलका हो जाता है।"[3] मेहता के लिए आनन्द सिद्धि है, मालती के लिए साधन।

पहले ही दृश्य में दोनों के विनोदपूर्ण जीवन के चित्र हमें मिलते हैं।

संयोग मेहता और मालती को निकट लाता है। इस संयोग में मेहता का अपने बारे में ख्याल है कि "मैं किसी रमणी को प्रसन्न नहीं रख सकता। मुझसे कोई स्त्री प्रेम का स्वांग नहीं कर सकती। मैं उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाऊँगा। फिर मुझे उससे अरुचि हो जायगी।"[4] और मेहता की मालती के बारे में धारणा है कि "तुम सब कुछ कर सकती हो, बुद्धिमती हो, चतुर हो, प्रतिभावान हो, दयालु हो, चंचल हो, स्वाभिमानिनी हो, त्याग कर सकती हो, लेकिन प्रेम नहीं कर सकती।"[5]

जंगली औरत को बीच में डालकर उसके प्रति मेहता के आकर्षण के द्वारा प्रेमचन्द बताना चाहते हैं कि "इस युवती के प्रति मेरे मन में जो प्रेम और श्रद्धा है, वह ऐसी है कि अगर मैं उसकी ओर वासना से देखूँ तो आँखें फूट जायँ। मैं अपने किसी घनिष्ट मित्र के लिए भी इस धूप और लू में उस ऊँची पहाड़ी पर न जाता और हम केवल घड़ी भर के मेहमान हैं, यह वह जानती है। वह किसी गरीब औरत के लिए भी उसी तत्परता से दौड़ जायगी। मैं विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम पर केवल लेख लिख सकता हूँ। वह उस प्रेम और त्याग का व्यवहार कर सकती है।"[6]

---

१. पृष्ठ ७३.
२. पृष्ठ ३६७.
३. पृष्ठ २०९
४. पृष्ठ १०७.
५. पृष्ठ १०७.
६. पृष्ठ ११३.

इससे जान पड़ता है मेहता बिना आन्तरिक श्रद्धा के आकर्षित होना नहीं जानते, और जिस प्रेम और त्याग पर उन्हें श्रद्धा है वह मालती में नहीं है। मालती में उसका अभाव तो है ही, वह इसे अच्छा भी नहीं समझती। तभी तो कहती है, "ऐसी ही लौंडियाँ तो मर्दों को पसन्द आती हैं, जिनमें और कोई गुण हो, या न हो, उनकी टहल दौड़-दौड़कर प्रसन्न मन से करें और अपना भाग्य सराहें कि इस पुरुष ने मुझसे यह काम करने को तो कहा।"[१]

अगले दृश्य में मेहता स्वीकार करते हैं कि "महिला की सहानुभूति हार को जीत बना सकती है।"[२] लेकिन मालती को वे भी स्वीकार नहीं कर सकते। मालती में अनेक खूबियाँ हैं लेकिन मेहनत के विचार से उनकी जीवन-संगिनी वही हो सकती है जो "वफ़ा और त्याग की मूर्ति हो, जो अपनी बेज़ुबानी से, अपनी कुर्बानी से अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है।"[३] इसी बात को वे फिर दुहराते हैं, "मैं ऐसी बीवी नहीं चाहता जिससे मैं लाइंस्टीन के सिद्धान्त पर बहस कर सकूँ या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से।"[४] मिसेज़ खन्ना में उन्हें यह आदर्श मिलता है। किन्तु मिसेज़ खन्ना मेहता से कहती हैं, "भूल जाइए कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा, संयम और कर्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है। अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी अभाव रहेगा। नारियों में आज जो यह विद्रोह है इसका कारण पुरुष का इन गुणों से शून्य हो जाना है।"[५]

मेहता जो बातें नारी में देखना चाहते हैं, और मिसेज़ खन्ना में पाते हैं, मिसेज़ खन्ना वे ही बातें पुरुषों में भी देखना चाहती हैं और इन गुणों के पुरुषों में अभाव को नारी के पतन और विद्रोह का कारण मानती हैं।

मालती-खन्ना-प्रसंग में मेहता मिसेज खन्ना की तरफदारी करते हैं और ऐसे किसी संबंध को उचित नहीं समझते जिसमें नारी भोग तक ही सीमित रह जाय। वे नारी को मातृरूप मानते हैं और इसके सिवा उसके जो और रूप हैं उन्हें मातृत्व का उपक्रम मात्र समझते हैं। स्वयं मालती भ्रम में पड़े खन्ना से साफ़-साफ़ कह देती है कि "यह समझ लो कि धन ने आज तक किसी नारी के हृदय पर विजय नहीं पाई और न कभी पावेगा।"[६]

इस बीच मेहता के संपर्क में मालती में परिवर्तन होना शुरू होता है। जिस मालती ने खन्ना के संपर्क में पुरुष को कभी सम्मान की वस्तु नहीं समझा, वही मालती मेहता के संपर्क में आकर कहती है, "पुरुष अब सम्मान की वस्तु हो गई है, इसलिए कि मैंने पुरुष का जो

---

१. पृष्ठ ११५.

२. पृष्ठ १९६.

३. पृष्ठ १९७.

४. पृष्ठ १९८.

५. पृष्ठ २२३.

६. पृष्ठ ३२६.

रूप अपने परिचितों की परिधि में देखा था, उससे वह कहीं सुंदर है। पुरुष इतना सुन्दर, इतना कोमलहृदय......"[१] "मेहता में मानव-प्रेम की अनुभूति आई तो इसका असर मालती पर भी पड़ा। अब तक जितने मर्द उसे मिले, सभी ने उसकी विलास-वृत्ति को ही उकसाया। उसकी त्याग-वृत्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी। पर मेहता के संपर्क में आकर उसकी त्याग-भावना सजग हो उठी थी।"[२] मालती का कायाकल्प होता है। "वह अब अवसर गरीबों के घर बिना फीस लिए ही मरीजों को देखने चली जाती थी। मरीजों के साथ उसके व्यवहार में मृदुता आ गई थी।"[३] गाँव के किसानों के सीधे-सादे जीवन का भी कुछ कम प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। इनके बीच मालती में नये बोध का उदय होता है, "उनका (गाँव की स्त्रियों का) अपनापन अपने लड़कों में, पति में, अपने सम्बन्धियों में है। इस भावना की रक्षा करते हुए, इसी भावना का क्षेत्र और बढ़ाकर, भावी नारीत्व का आदर्श निर्माण करना होगा। जाग्रत देवियों में इसकी जगह आत्मसेवन का जो भाव आ बैठा है—सब कुछ अपने लिए, अपने भोग-विलास के लिए—उससे तो यह सुसुप्तावस्था ही अच्छी। पुरुष निर्दयी है, माना, लेकिन है तो इन्हीं माताओं का बेटा। क्यों माता ने पुत्र को ऐसी शिक्षा नहीं दी कि वह माता की, स्त्री जाति की पूजा करता। इसीलिए कि माता को यह शिक्षा देना नहीं आती, इसीलिए कि उसने अपने को इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया, उसका अस्तित्व ही नष्ट हो गया......नहीं अपने को मिटाने से काम नहीं चलेगा। नारी को समाज के कल्याण के लिए अपने अधिकारों की रक्षा करनी पड़ेगी।"[४]

लेकिन ये अधिकार वे नहीं हैं जो आज की नारी माँग रही है। ये अधिकार वे हैं, जो उसे त्याग, सेवा और प्रेम से प्राप्त होंगे।

इस नये रूप में मालती मेहता के आकर्षण की केन्द्र बन जाती है। "ज्यों ज्यों वह मालती को निकट से देखते थे, उनके मन में आकर्षण बढ़ता जाता था। रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर न कर सकता था, यह गुण का आकर्षण था।"[५] लेकिन इस गुण के आकर्षण में भी मेहता मालती को पूरा-पूरा नहीं पा सके। "तुमने सदैव मुझे परीक्षा की आँखों से देखा, प्रेम की आँखों से नहीं। क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि नारी परीक्षा नहीं चाहती, प्रेम चाहती है। परीक्षा गुणों को अवगुण सुन्दर को असुन्दर बनाने वाली चीज़ है। प्रेम अवगुणों को गुण बनाता है, असुन्दर को सुन्दर। मैंने तुमसे प्रेम किया, मैं कल्पना भी नहीं कर सकती कि तुममें कोई बुराई भी है। मगर तुमने परीक्षा की और तुम मुझे अस्थिर, चंचल और जाने क्या क्या समझकर मुझसे हमेशा दूर भागते रहे।......मैं क्यों अस्थिर और चंचल हूँ, इसीलिए कि मुझे वह प्रेम नहीं मिला जो मुझे स्थिर और अचंचल बनाता। अगर तुमने मेरे सामने उसी तरह आत्म-समर्पण किया होता, जैसे मैंने तुम्हारे सामने

---

१. पृष्ठ ३८९.
२. पृष्ठ ४१२.
३. पृष्ठ ४१३.
४. पृष्ठ ४१६.
५. पृष्ठ ४१८.

किया है, तो तुम आज मुझ पर यह आक्षेप न रखते।"[1] आगे वह कहती है, "मैं प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती हूँ। यह देह की वस्तु नहीं आत्मा की वस्तु है। सन्देह का वहाँ ज़रा भी स्थान नहीं और हिंसा तो सन्देह का ही परिणाम है। वह संपूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही वरदान पा सकते हो।"[2]

इस कषाघात से मेहता को आत्मविश्लेषण का मौका मिला। इस बीच मालती में आत्मतुष्टि आ गई और मेहता में तृषा। मालती संलग्नता के साथ अपने कामों में लगी रहती। मेहता उसे तृषाभरी आँखों से देखते। "मालती केवल रमणी नहीं है, माता भी है और ऐसी-वैसी माता नहीं, सच्चे अर्थों में देवी और जीवन देने वाली जो पराये बालक को भी अपना समझ सकती है, जैसे उसने मातापन का सदैव संचय किया हो और आज दोनों हाथों से उसे लुटा रही हो।"[3] इस रूप-दर्शन ने मेहता के मुँह से बरबस कहला लिया "मालती तुम देवी हो--त्याग की, मंगल की, पवित्रता की।"[4]

इस मिलन के लिए दोनों बावले थे। आज मिलकर खो गये। लेकिन दूसरे ही क्षण उन्होंने अपने अस्तित्वों को पारिवारिकता के बंधन में बाँध लेने की बजाय समाज-हित के लिए आज़ाद रखने का निश्चय कर लिया।

'गोदान' में प्रेमचन्द के परिपक्व चिन्ता का परिणाम है, जिसमें वे जागरण की भैरवी का स्वर और ऊँचा कर रहे हैं। 'गोदान' में नारी जाग उठी है, किसान जाग उठा है, आत्मा जाग उठी है। 'गोदान' में कर्तव्यशील किसान अधिकार माँगते हैं, कर्तव्यशील नारी प्रेम माँगती है, कर्तव्यशील आत्मा सबका सुख माँगती है।

मंगल सूत्र

'मंगल-सूत्र' प्रेमचन्द का अंतिम अधूरा उपन्यास है। लगभग ५०० पृष्ठों का उपन्यास लिखनेवाले प्रेमचन्द के लिये इन ७० पृष्ठों से अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि 'मंगल सूत्र' की कथा की गति क्या होगी? लेकिन प्रेमचंद के मनोविकास को सूक्ष्मता से जाननेवाले कल्पना जरूर कर सकते हैं कि प्रेमचन्द 'गोदान' में गोबर के साथ शहर में आ चुके हैं। 'मंगल सूत्र' जिन दिनों लिखा जा रहा था, प्रेमचन्द ने उन्हीं दिनों 'महाजनी सभ्यता' नामक लेख लिखा था, उन्हीं दिनों उनकी आर्थिक हालत अच्छी नहीं थी। आन्तरिक शान्ति भी विच्छिन्न हो गई थी। 'मंगल सूत्र' इन्हीं परिस्थितियों में प्रारंभ किया गया उपन्यास है, जिसकी कथा का यथार्थ इन्हीं परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करता है।

'मंगल सूत्र', जान पड़ता है, प्रेमचन्द की आत्मकथा होती। इन सत्तर पृष्ठों से यह अनुमान पुष्ट होता है। इसके पहले के उपन्यास सामाजिक कथानक को लेकर चले हैं, जिनमें किसी आत्मीय पात्र के द्वारा प्रेमचन्द ने अपनी बात कहलवा दी है। "मंगल सूत्र"

---

१. पृष्ठ ४२१.

२. पृष्ठ ४२३.

३. पृष्ठ ४५४.

४. पृष्ठ ४५९.

में वे नेपथ्य में नहीं खड़े रह पाये हैं, मंच पर आ गये हैं। 'मंगल सूत्र' यदि पूरा लिखा जाता तो दो दृष्टिकोणों से उसका महत्व होता, एक इस नाते कि यह प्रेमचन्द की आत्मकथा होती। दूसरा, इस नाते कि 'गोदान' में प्रेमचन्द के मन के जिस मोड़ के संकेत मिलते हैं 'मंगल सूत्र' में वह मनोगति स्पष्ट उभर आती। यों ये संकेत 'गोदान' से कुछ और अधिक स्पष्ट 'मंगल सूत्र' में मिलते जरूर हैं।

'मंगल सूत्र' के ये ७० पृष्ठ महात्मा देवकुमार के परिवार की कथा व्यक्त करते हैं। देवकुमार के परिवार में उनके सिवा उनकी पत्नी शैव्या, पुत्री पंकजा, छोटा बेटा साधुकुमार और बड़ा बेटा और उसकी पत्नी संतकुमार और पुष्पा हैं। देवकुमार साहित्य-साधक, निर्लोभ, सीमित अभिलाषाओं वाले सत्पुरुष हैं, जिन्होंने जीवन भर साधना करके एक ही चीज़ कमाई है, यश। उनकी लिखी पुस्तकों का समाज में बड़ा आदर हुआ है, लेकिन घर में उनकी उतनी मान्यता नहीं है, कम-से-कम बड़ा बेटा, संतकुमार उन्हें हमेशा उलाहने देता रहता है। शैव्या भी असंतुष्ट रहती है। पर देवकुमार का "सौंदर्य भावना से जागा हुआ मन कभी कंचन की उपासना को जीवन का लक्ष्य न बना सका। यह नहीं कि वह धन का मूल्य जानते न हों। मगर उनके मन में यह धारणा जम गई थी कि जिस राष्ट्र में तीन चौथाई प्राणी भूखों मरते हों, वहाँ किसी एक को बहुत-सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।"[१] आज उनकी इस धारणा पर आघात हुआ है। बेटा एक ज़माने में अपने पिता के द्वारा बाप-दादों की जायदाद माटी मोल बेच देने पर आज पिता को आड़े हाथों ले रहा है। इतना ही नहीं, वह चाहता है कि पिता अपनी की गई गलती का प्रायश्चित्त करें। यानी बेची गई जायदाद कानूनी तरीकों से वापिस लेने में बेटे की मदद करे।

पिता के सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है। वे समाज की मर्यादाओं को लेकर चलनेवाले पुराने ज़माने के व्यक्ति हैं, जिनके जीवन का सिद्धान्त रहा है, "आप भला, तो जग भला।"[२] वे घबरा उठते हैं कि अगर मुकदमा दायर हो गया तो वे कहीं मुँह दिखाने लायक न रह जायेंगे। वे इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करते हैं, "इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है·······वे सोचते, कहाँ है न्याय? कहाँ है? एक ग़रीब आदमी किसी खेत से बालें नोंचकर खा लेता है। कानून उसे सज़ा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह दुर्बल मज़दूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं। और आप लम्बा-लम्बा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं। नाचते हैं। रंगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार। यही न्याय है।"[३]

और तब उनके हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया होती है। उन्हें लगता है कि इन परिस्थितियों में देवत्व का बाना धारण करना कायरता है, निष्क्रियता है। वे कहते हैं—

---

१. पृ३ ५.
२. पृष्ठ ५३.
३. पृष्ठ ५९.

"हाँ, देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नज़र आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से बिदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे, और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है। अगर उसकी आँखों में यह कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं और यहाँ देवता बनने की ज़रूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। ईश्वर ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता जो इस दशा में जिंदा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।"[1]

यह तो प्रेमचन्द के पिछले विचारों से एकदम भिन्न बात हुई। यद्यपि भाग्य, भक्ति और ईश्वर को प्रेमचन्द कभी नहीं मान पाये, लेकिन मानव के सत् में उनका विश्वास सदैव अडिग रहा है और वे यह भी सदा मानते रहे हैं कि उस आन्तरिक सत् को जाग्रत कर सकना सदैव सम्भव है। तभी उनके दुश्चरित्र पात्र कथा के अंत तक या तो सत्पथ पर आ जाते रहे हैं, नहीं तो अपनी ग्लानि और पश्चात्ताप का बोझा ढोते हुए अपने जीवन का अन्त करते रहे हैं। लेकिन 'मंगल सूत्र' में यह विश्वास खण्ड-खण्ड हो गया है। उनके भीतर का गांधी या तो सो गया है, या उसकी मूर्ति अब उनके मंदिर में नहीं रह गई है। वे मानव के मन को दया धर्म सेवा नीति से जीत सकने को संभव नहीं मानते। गांधीजी की तरह जिन्हें वे अब तक ट्रस्टी समझते रहे हैं आज उनसे लड़ने के लिए वे हथियार बाँधने का उपक्रम कर रहे हैं।

"मंगल सूत्र" में यही धारणा मिलती है। आगे इसी विद्रोह के स्वर को और तीव्रता मिलती ऐसा अनुमान किया जा सकता है। 'मंगल सूत्र' में प्रेमचन्द मैक्सिम गोर्की की उस बात को मानने लगे थे जिसमें गोर्की ने कहा है कि "मैं आतंकवाद का समर्थन नहीं करता, लेकिन इन्सान के आत्मरक्षा के अधिकार से इन्कार नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि जो एक बार हो चुका है उसकी पुनरावृत्ति के आशंका-भय से हत्या की जा सकती है और इस स्वाभाविक इच्छा से भी कि अपनी नैतिक मौत से भी भयंकर कोई घटना घटित न हो।"[2]

प्रेमचन्द की कहानियाँ

प्रेमचन्द की कहानियों का अध्ययन करने वालों ने उसकी कहानियों को अनेक ढंगों से परखना चाहा है। यद्यपि उनकी कहानियों को शिल्प-विधान या विषय के अनुसार वर्गीकृत किया गया है, लेकिन कहानीकार प्रेमचन्द का सच्चा परिचय उनकी कहानियों के उनके विकासक्रम में अध्ययन करने से ही मिलेगा। प्रेमचन्द की कहानियों का विस्तार से अध्ययन करने वालों में प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्रीपति शर्मा प्रमुख हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त के प्रेमचन्द की

---

१. पृष्ठ ६०.

१. सी० एण्ड पी० पृष्ठ ७२.

कहानियों पर तीन लेख हैं: एक प्रेमचन्द-स्मृति अंक में, दूसरा उनकी पुस्तक हिन्दी-साहित्य की जनवादी धारा में और तीसरा प्रेमचन्द-चिन्तन और कला में। तीनों में प्रकाशचन्द्र गुप्त ने प्रेमचन्द की कहानियों का विकासक्रम अंकित करने का प्रयत्न किया है। श्रीपति शर्मा ने प्रेमचन्द की कहानियों की विस्तृत तालिका बनाई है और उनका शैली, शिल्प-विधान और विषय के आधार पर वर्गीकरण किया है।

प्रेमचन्द की पहली कहानी "संसार का अनमोल रत्न" है। यह सन् १९०७ के 'ज़माना' मे छपी थी। उसके बाद चार पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह १९०९ में 'सोज़े वतन' के नाम से छपा।[१] डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है, "हिन्दी कहानी का प्रथम विकास प्रेमचन्द की प्रथम कहानी "पंचपरमेश्वर" में मिलता है, जो पहली बार 'सरस्वती' में जून १९१६ में प्रकाशित हुई।"[२] कहा जाता है कि प्रेमचन्द नाम से पहली कहानी "ममता" थी, जो सन् १९०९ या १९१० में 'ज़माना' में छपी थी।[३] इन्होंने हिन्दी में कहानियाँ सन् १९१३ के लगभग लिखना शुरू किया।[४]

हमने प्रेमचन्द के मनोविकास की रेखाएँ निश्चित करने का प्रयत्न किया है और उनके उपन्यासों के माध्यम से ये रेखायें स्थिर की गई हैं। यद्यपि प्रेमचन्द की कहानियों की निश्चित तिथि नहीं मिलती। किन्तु अनुमानतः उनका समय निश्चित किया जा सकता हैं और इन कहानियों के माध्यम से प्रेमचन्द के मनोविकास का और अधिक स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

समय-क्रम से प्रेमचन्द की कहानियों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

(१) प्रारम्भिक युग—देश-प्रेम-संबंधी भावुकतापूर्ण कहानियाँ, एवम् बुन्देलखण्ड के इतिहास की गौरवपूर्ण गाथाएँ—जैसे 'सोज़े वतन' क्रम की कहानियाँ और 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि।

भारतीय मन और भारतीय प्राचीन व्यवस्था के उदात्त स्वरूप को चित्रित करनेवाली कहानियाँ जैसे—'शंखनाद', 'पंच परमेश्वर' आदि।

(२) विकास युग—भारतीय ग्राम-जीवन के विभिन्न प्रसंग और सामाजिक, राजनैतिक और साम्प्रदायिक जीवन की कहानियाँ।

(३) यथार्थोन्मुख कहानियाँ—सन् १९३० के राजनैतिक आन्दोलन के दिनों के चित्रण एवम् अनेक यथार्थवादी कहानियाँ।

प्रेमचन्द की कहानियों का विकास स्थिर करते हुए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है—"जिस क्रम से प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रकाशित हुईं, वह लगभग इस प्रकार था—(१) सप्त

---

१. कफ़न पृष्ठ ६३.
२. अ० हि० सा० वि० पृष्ठ ३२७.
३. प्रे० अं० पृष्ठ १३३.
४. प्रे० घ० पृष्ठ २९.

सरोज, (२) नवनिधि, (३) प्रेम-पूर्णिमा, (४) प्रेम-पचीसी, (५) प्रेम प्रतिमा, (६) प्रेम द्वादशी, (७) समर यात्रा, (८) मानसरोवर, भाग १,२, (९) कफन।[1]

श्रीपति शर्मा प्रेमचन्द की कहानियों के निम्नलिखित संग्रहों की तालिका देते हैं—

१. सप्त-सरोज	१०. पंच-प्रसून	१९. प्रेरणा
२. नवनिधि	११. सप्त-सुमन	२०. प्रेम-प्रमोद
३. प्रेम-पचीसी	१२. कफन	२१. प्रेम-सरोवर
४. प्रेम-पूर्णिमा	१३. मानसरोवर भाग १	२२ कुत्ते की कहानी
५. प्रेम-द्वादशी	१४. मानसरोवर भाग २	२३. जंगल की कहानी
६. प्रेम-तीर्थ	१५. मानसरोवर भाग ३	२४. अग्नि-समाधि
७. प्रेम-पीयूष	१६. मानसरोवर भाग ४	२५. प्रेम-पंचमी
८. प्रेम-कुंज	१७. मानसरोवर भाग ५	२६. प्रेम-गंगा[2]
९. प्रेम-चतुर्थी	१८. प्रेम-प्रतिमा	

'सप्त सरोज' प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह था। प्रकाशचन्द्र गुप्त बताते हैं कि इसके विषय में शरच्चन्द्र चटर्जी ने यह सम्मति दी थी, "गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भाव-पूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बंगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है, या नहीं, इसमें सन्देह है।"[3]

'सप्त सरोज' संग्रह की कहानियाँ आदर्शोन्मुखी हैं। इनमें से 'पंचपरमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' तो प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती हैं। स्वयं प्रेमचन्द इन्हें अपनी श्रेष्ठ कहानियों में शुमार करते थे। अगर इन दोनों को प्रेमचन्द की प्रारंभिक कहानियों का नमूना मान लें, तो किन्हीं निश्चित निष्कर्षों तक पहुँच सकना संभव होगा। प्रेमचन्द के पहले हिन्दी कहानी घटनाप्रधान थी, नीतिवादी थी। प्रेमचन्द के साथ मनोवैज्ञानिकता को प्रश्रय मिला, जीवनापेक्षी दृष्टि आ गई, कुछ निश्चित आदर्श आ गये। हाँ, यह ठीक है कि ये आदर्श अतीत का अवलम्ब लेकर चल रहे थे। 'पंच परमेश्वर' में अतीत की ग्राम-व्यवस्था का यश-गान है, 'बड़े घर की बेटी' संयुक्त-परिवार-प्रथा के बड़प्पन को प्रकट करती है। इसी प्रकार की कहानियाँ 'नवनिधि' में संग्रहीत हैं। अन्तर इतना ही है कि इन कहानियों के द्वारा अतीत की आदर्श समाज-व्यवस्था पर प्रकाश नहीं पड़ता, बल्कि इनमें सामन्ती युग के शौर्यपूर्ण त्याग के चित्र मिलते हैं, जहाँ राजपूती आन पर मर मिटने का मृत्युंजय संकल्प सर्वत्र प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ है। रानी सारंधा, राजा हरदौल, विक्रमादित्य का तेगा आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द के मनोविकास के अध्ययन के लिए आवश्यक है कि 'सप्त सरोज' की कहानियों में प्रेमचन्द का मन जिस दिशा में जा रहा है, उसका स्पष्ट स्वरूप जान लिया जाय। यह तो एकदम निर्विवाद सत्य है कि 'सप्त सरोज' की कहानियाँ आदर्शोन्मुख हैं, किन्तु इन कहानियों

१. हिन्दी साहित्य की जनवादी धारा पृष्ठ १०५.

२. क० क० प्रे० पृष्ठ ४४.

३. प्रे० अं० पृष्ठ ९३८.

में प्रेमचन्द समय की यथार्थता से अत्यन्त आत्मीयता से परिचित मिलते हैं। जहाँ बड़े घर की बेटी, पंचपरमेश्वर और परीक्षा कहानियों में वे एकदम आदर्शवादी हैं, वहाँ सज्जनता का दण्ड, नमक का दरोगा और उपदेश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें वे यथार्थ की निर्भीकता से उघारकर धर देने का संकल्प लेकर सामने आये हैं। 'सज्जनता का दण्ड' में प्रेमचन्द की उक्ति है—

"इन्जीनियरों का ठेकेदारों से कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। अगर वे अपने नियत भाग से अधिक पाने की चेष्टा न करें तो उनसे किसी को शिकायत नहीं हो सकती। यह मधु-रस कमीशन कहलाता है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों का ही सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदमाशी है। मगर कमीशन एक मनोहारी वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय, यहाँ तक कि वहाँ आत्मा की छिपी हुई चुटकियों का भी गुज़र नहीं है और कहाँ तक कहें, इसकी ओर बदनामी आँख भी नहीं उठा सकती। यह वह बलिदान है जो हत्या होते हुए भी धर्म का एक अंश है।"[१]

यथार्थ के सम्बन्ध में यही व्यंगात्मक दृष्टि सर्वत्र मिलती है। अगर ध्यान से देखें तो इस कहानी 'सज्जनता का दण्ड' का आदर्शवादी अन्त उसके यथार्थवादी पहलू को भी स्पष्ट कर देता है। सरदार साहब की तनज्जुली के सम्बन्ध में उनकी पत्नी कहती हैं, "हँसना ही चाहिए। रोये तो वह जिसने कौड़ियों पर अपनी आत्मा भ्रष्ट की हो—जिसने रुपयों पर अपना धर्म बेचा हो। यह बुराई का दण्ड नहीं है। यह भलाई और सज्जनता का दण्ड है। इसे सानन्द झेलना चाहिए।"[२] और सरदार साहब और उनकी पत्नी सज्जनता के इस दण्ड को सानन्द झेलते हैं। लेकिन 'सेवासदन' में यह यथार्थवादी आभास एकदम उभरकर सामने आ जाता है। कृष्णचन्द्र के बारे में प्रेमचन्द कहते हैं, "और लोग बुराइयों पर पछताते हैं दरोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।"[३] 'सज्जनता का दण्ड' में सरदार साहब प्रेमचन्द के आदर्शवादी मन का आश्रय लेकर पथ-भ्रष्ट होने से बच जाते हैं, लेकिन जरा देर बाद ही कृष्णचन्द्र अपनी सज्जनता और भलाई की इतने वर्षों की जमी-जमाई साख को एक घड़ी में धूल में मिला देता है।

इसी प्रकार 'नमक का दरोगा' कहानी में पिताजी का अपने पुत्र को उपदेश और पुत्र के पुलिस द्वारा गिरफ्तार होने पर समाज में होनेवाली प्रतिक्रिया में प्रेमचन्द के यथार्थवादी मन की झाँकी बड़ी स्पष्ट दीख पड़ती है।[४]

'सौत' कहानी में नारी-जीवन के त्याग और करुणा का बड़ा ही मार्मिक चित्र मिलता है। नारी अपने पति की तुष्टि के लिए कितना बड़ा त्याग कर सकती है.यह गोदावरी के चरित्र द्वारा स्पष्ट हो जाता है, लेकिन नारी का यह त्याग पारिवारिक जीवन में कितना

---

१. सप्त सरोज पृष्ठ ३०.
२, सप्त सरोज पृष्ठ ३५-३६.
३. सेवा सदन पृष्ठ १.
४. स० स० पृ३ ५४.

बड़ा व्यवधान पैदा कर देता है और फलस्वरूप 'सौत' कहानी में नारी-जीवन के त्याग और करुणा का बड़ा ही मार्मिक चित्र मिलता है। इस कहानी को एक सीमा तक आदर्शवादी मान सकते हैं, यद्यपि इसमें नारी की यथार्थ स्थिति का आभास स्पष्ट झलकता है। नारी की यथार्थता का आभास देते-देते प्रेमचन्द समाज की यथार्थता को भी विद्युत-चित्र की भाँति व्यक्त कर ही देते हैं। 'सौत' की गोदावरी "ईर्षा, निष्ठुरता और नैराश्य की सताई हुई अबला है" और उसके जीवन की सफल भव्यता और करुणा उसीके अन्तिम समय में व्यक्त किये भावों में प्रकट है, "स्वामिन्, संसार में आपके सिवा मेरा और कौन स्नेही था। मैंने अपना सर्वस्व आपके सुख की भेंट कर दिया। अब आपका सुख इसी में है कि मैं इस संसार से लोप हो जाऊँ।"[1] समाज की यथार्थता सम्बन्धी वाक्य एक ही है—परन्तु अब अपने अनेक देशवासियों की तरह वे भी शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे।[2] इसी प्रकार उपदेश कहानी में भी कहानीकार की दृष्टि उन उपेक्षित क्षेत्रों में जाती है, जहाँ सहायता की सच्ची आवश्यकता है, और सहायता की जो आवश्यकता जन-सुधारकों ने महसूस नहीं की है। इस कहानी मे प्रेमचन्द की उस व्यंगात्मक शैली के दर्शन होते हैं, जिसका अवलम्ब लेकर प्रेमचन्द ने अपने समय के यथार्थ की सजीव तसवीर अंकित की है। सारी कहानी की सजीवता इसी व्यंगात्मकता के कारण है। कहानी का अन्त एक गहरे सत्य का उद्घाटन करता है। कहानी का नायक, जो जनसेवी होने का दावा करता है, अन्ततः, अनेक अनुभवों में से गुज़रने के बाद, जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है, वह उसी के शब्दों में सुनिए, "अपने असामियों को आज इस विपत्ति में देखकर मुझे बड़ा दुख हुआ। मेरा मन बार-बार मुझको उन घटनाओं का उत्तरदाता ठहराता है जिनकी कमाई खाता हूँ, जिनकी बदौलत टमटम पर सवार होकर रईस बना घूमता हूँ, उनके कुछ स्वस्त्व भी तो मुझ पर हैं। मुझे अब अपनी स्वार्थान्धता स्पष्ट दीख पड़ती है। मैं आप अपनी ही दृष्टि में गिर गया हूँ। मैं सारी जाति के उद्धार का बीड़ा उठाये हुए हूँ, सारे भारतवर्ष के लिए प्राण देता फिरता हूँ, पर अपने घर की खबर ही नहीं। जिनकी रोटियाँ खाता हूँ, उनकी तरफ से इस तरह उदासीन हूँ। अब इस दुरवस्था को समूल नष्ट करना चाहता हूँ।"[3]

'नवनिधि' की कहानियों में अधिकांश ऐतिहासिक हैं। ये कहानियाँ हमारे जातीय गौरव की परिचायक हैं। इनमे 'राजा हरदौल' और 'रानी सारंधा' को प्रेमचन्द ने क्षपनी श्रेष्ठ कहानियों में गिना है। इस संग्रह की कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जो ऐतिहासिक नहीं हैं। 'अमावस्या की रात्रि' का वातावरण ऐतिहासिक है, लेकिन कहानी की आत्मा एकदम सामाजिक है। इसमें हमारे उस समाज का चित्र है, जो पैसे को मानवता से ऊपर मानता है। प्रेमचन्द का आदर्शवादी मन अभी आशा-सम्पन्न है, तभी तो इस कहानी के अन्त में लक्ष्मी के आराधक वैद्यजी के अन्तःकरण से निकली हुई यह बात मिलती है—"मुझे अत्यन्त शोक है, मैं सदैव तुम्हारा अपराधी हूँ। किन्तु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो अब ऐसी भूल

---

१. स० स० पृष्ठ २८.

२. स० स० पृष्ठ १५.

३. स० स० पृष्ठ ८४.

कदापि न होगी।"[१] 'ममता' और 'पछतावा' भी हृदय-परिवर्तन की कहानियाँ हैं। 'पछतावा' में अवश्य किसान-जीवन की दुरवस्था और जमींदार के अत्याचार दिखाये गये हैं।

इसी समय की दो कहानियाँ महत्वपूर्ण हैं—एक है 'यही मेरी मातृभूमि है', दूसरी है—'शिकारी राजकुमार'। दोनों यथार्थवादी रचनाएँ हैं, यानी दोनों में जीवन के वास्तविक स्वरूप को एकदम अगोपन करके उपस्थित किया गया है। दोनों कथाओं में एक और विशेष बात है। दोनों कथाएँ वास्तव को कल्पना के आवरण में ढँककर उपस्थित करती हैं। 'यही मेरी मातृभूमि है' में एक ऐसे प्रवासी भारतीय की कहानी है, जो पूरे साठ वर्ष बाद अपनी जन्मभूमि को लौटता है। वह अमेरिका चला गया था। वहाँ उसने व्यापार में बहुत-सा धन कमाया तथा धन के आनन्द भी खूब मनमाने लूटे। मातृभूमि का उत्कट प्रेम उसे सब कुछ त्याग करके भारत लौटने के लिए विवश करता है। वह यह इच्छा लेकर लौटता है कि मैं अपनी मातृभूमि का रजकण बनूँ। भारत लौटने पर उसे अत्यन्त दुःख हुआ, उसकी आँखों में आँसू भर आये, और वह खूब रोया क्योंकि यह मेरा देश न था यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इँगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं था। अंग्रेजी सभ्यता के आगमन ने देश में जो विकृतियाँ ला दी हैं, उन्हें देख-देखकर प्रवासी विक्षुब्ध हो उठता है। बँगला है, जिसमें दो अंग्रेज बन्दूक लिए इधर-उधर ताक रहे हैं। बाल्य-स्मृतियों की भूमि के बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफा बाँधे बैठा था। उसके आसपास दस-बीस लाल पगड़ी वाले करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने दुर्भिक्षग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था।[२] जगह-जगह दुराचार के अड्डे बने हुए थे। यह सब तो उसका देश नहीं था। लेकिन कुछ स्त्री-पुरुषों को भक्ति-भावना से विह्वल गीत गाते हुए गंगा-स्नान को जाते देखकर प्रवासी को जान पड़ा कि नहीं यही मेरी मातृभूमि है। कहानी में कलात्मकता का अभाव है, अत्यन्त भावुकता के कारण कहानी प्रभावपूर्ण नहीं हो पाई है, किन्तु कहानी एक सत्य को असंदिग्ध रूप में हमारे सामने रख देती है कि भारतीय संस्कृति विलुप्त हुई जा रही है, उसका जो कुछ अंश बाकी है, वह गाँव के सरल और अत्यन्त विश्वासी लोगों में सीमित रह गया है।

'शिकारी राजकुमार' कहानी भी कल्पनात्मक शैली में लिखी गई है, किन्तु यथार्थ के संकेत इतने अधिक स्पष्ट हैं कि कथा का उद्देश्य असंदिग्ध रूप से प्रकट हो जाता है। संन्यासी राजकुमार शिकारी से तीन बातें कहता है। पहली है, "ये सम्भवतः डाकू राह चलते यात्रियों का शिकार करते हैं। ये बड़े भयानक हिंस्र पशु हैं। इनके अत्याचार से गाँव के गाँव बर्बाद हो गये और जितनों को इन्होंने मारा है, उनका हिसाब परमात्मा ही जानता है। यदि आपको शिकार करना हो, तो इनका शिकार कीजिए।"[३] दूसरी बात है, "यह सरकारी कचहरी है। यहाँ राज्य का एक बड़ा कर्मचारी रहता है। उसे सूबेदार कहते हैं। इसकी

---

१. मा० ६ पृष्ठ २१९.

२. मा० ६-५-११.

३. मा० ८, ६१.

कचहरी दिन को भी लगती है और रात को भी। यहाँ न्याय सुवर्ण और रत्नादिकों के मोल बिकता है, यहाँ की न्यायप्रियता द्रव्य पर निर्भर है। धनवान दरिद्रों को पैरों तले कुचलते हैं, और उनकी गुहार कोई नहीं सुनता।.......यदि आप ढूँढ़ेंगे, तो ऐसे शिकार बहुत मिलेंगे। मैंने इनके कुछ ठिकाने बतला दिये हैं।"[१]

तीसरी बात है--"यह बड़े मन्दिर के महन्त हैं, साधु हैं। संसार का त्याग कर चुके हैं। सांसारिक वस्तुओं की ओर आँख नहीं उठाते, पूर्ण ब्रह्मज्ञान की बातें करते हैं। यह सब सामान इनकी आत्मा की प्रसन्नता के लिए है। इन्द्रियों को वश में किए हुए इन्हें बहुत दिन हुए। सहस्रों सीधे-सादे मनुष्य इन पर विश्वास करते हैं। इनको अपना देवता समझते हैं।........."[२] "और इनके यहाँ नर्तकियों के दल के दल चले जाते हैं तथा मद्यपान भी चलता है। इन दृश्यों को दिखाकर संन्यासी उपदेश देता है: कि तुम्हें प्रजापालक बनना चाहिए, प्रजा को सुख पहुँचाना चाहिए।"[३]

ये दोनों कहानियाँ कला की दृष्टि से भले ही बहुत अच्छी न हों, लेकिन इनमें से प्रेमचन्द का वह मन झाँकता हुआ मिलता है, जो अन्याय के प्रतिकार में मानवीयतावादी--ह्यूमेनिस्टिक, दृष्टिकोण लेकर चलता है। मृत्यु के पीछे कहानी भी ऐसी ही है जिसमें प्रेमचन्द ने कहानी की कलात्मकता की रक्षा भले ही पूरी-पूरी न की हो, लेकिन जिसमें उनके मन की झाँकी अत्यन्त स्पष्ट मिल जायगी। एक सीमा तक चाहें तो इस कहानी को प्रेमचन्द की आत्मकथा भी कह सकते हैं। हंसराज रहबर ने इसी रूप में उसे अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है। कहानी एक वकालत पास आदमी की है, जो वकालत-पेशा अख्तियार करके बड़ा आदमी होने की बजाय पत्र का सम्पादक बन जाता है और उसके द्वारा सत्य और न्याय की वकालत में अपना जीवन दे डालता है। इस कहानी के कुछ अंश महत्वपूर्ण हैं। वकालत के पेशे के बारे मे ईश्वरचन्द्र कहता है, "छल और धूर्तता इस पेशे का मूल तत्व है। इसके बिना किसी तरह निर्वाह नहीं। अगर कोई महाशय जातीय आन्दोलन में शरीक भी होते हैं, तो स्वार्थसिद्धि के लिए, अपना ढोल पीटने के लिए.........वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अन्याय है जिसने इस पेशे को इतना उच्च स्थान प्रदान कर दिया है। यह विदेशी सभ्यता का निकृष्टतम स्वरूप है कि देश का बुद्धि-बल स्वयं धनोपार्जन न करके दूसरों की पैदा की हुई दौलत पर चैन करना, शहद की मक्खी न बनकर चींटी बनना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है।"[४] अर्थग्रस्त सामाजिक व्यवस्था के दोषों को प्रेमचन्द बहुत पहले पहचान चुके थे और समाज की दुरवस्था और अर्थ की पूँजीवादी व्यवस्था के कार्य-कारण संबंध को जान चुके थे। तभी आगे चलकर कहा गया है कि देश में धन और श्रम का संग्राम छिड़ा हुआ था, ईश्वरचन्द्र की सदय प्रकृति ने उन्हें श्रम का सपक्षी बना दिया था। धनवादियों का खण्डन और प्रतिवाद करते हुए उनके ख़ून में ग़रमी आ जाती थी, शब्दों से

---

१. मा-पृष्ठ ६३.
२. पृष्ठ ६२.
३. पृष्ठ ६४.
४. पृष्ठ ६-११८.

चिनगारियाँ निकलने लगती थीं।[१] और अपने कर्तव्य-पालन में अडिग ईश्वरचन्द्र की मृत्यु के बाद उनके स्मारक बनने लगे। कहीं छात्रवृत्तियाँ (!) दी गईं, कहीं उनके चित्र बनवाये गये पर सबसे अधिक महत्वशील वह मूर्ति थी जो श्रमजीवियों की ओर से प्रतिष्ठित हुई थी।[२]—इस प्रकार प्रेमचन्द की कहानियों का प्रारम्भ काल भी कोरमकोर आदर्शवादी नहीं था। यद्यपि इस समय प्रेमचन्द की मानसिक बनावट में आदर्शवादिता का बड़ा अंश मिलता है, जो कहीं मध्यवर्गीय समझौतावादिता के रूप में प्रकट हुआ है, और कहीं भारतीय नीतिवादिता की प्रवृत्ति के रूप में[३] और कहीं सुधारवादी युग के प्रभाव में सुधारवादिता के रूप में, लेकिन प्रेमचन्द की आदर्शवादिता कल्पना और रोमान्स से आग्रस्त नहीं है, उसमें यथार्थ के भीतर गहरे पैठकर उसके आन्तरिक स्वरूप को पहचानने का तीव्र आग्रह सर्वत्र मिलता है। इस यथार्थ और आदर्श के मेल को प्रेमचन्द सदा साथ लेकर चले हैं, इसी मेल को वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। पश्चिमी आलोचना की स्वर्ण-तुला पर साहित्य को तौलनेवाले इस प्रकार के मेल को न मानें लेकिन प्रेमचन्द-साहित्य में यह सर्वत्र मिलता है।

कला की दृष्टि से प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियाँ बहुत ऊँचे दरजे की नहीं ठहरतीं। लेकिन प्रारम्भ-काल में इस प्रकार का दोष आ ही जाता है। बात की अभिव्यक्ति के दो ही तरीके होते हैं, या तो संकेतात्मक शैली में "अर्थ अमित अरु आखर थोरे" कहे जायँ, या फिर बात को इतने अधिक विस्तार से कहा जाय कि वर्णन की सजीवता के कारण वह प्रभावोत्पादक हो सके। प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कृतियाँ इसी वर्णनात्मक शैली का अवलम्ब लेकर चली हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द के सामने उर्दू के उन लेखकों का आदर्श था, जिन्होंने विस्तार को कथा की आत्मा मानकर 'आजाद-कथा' जैसी रचनाओं की सृष्टि की थी। इसीलिए प्रेमचन्द ने भी इसी शैली को अपनाया। स्पष्ट ही इसके कारण कथा की प्रभावकता नष्ट हो जाती है, जो सांकेतिक शैली द्वारा संभव है, किन्तु यह विस्तार कहानी के कथा-रस को अक्षुण्ण रखता है। प्रेमचन्द की प्रारंभिक कृतियों में वर्णनात्मकता के द्वारा कथा-रस की रक्षा की गई है। ऐसी कहानियों में "बड़े घर की बटी", "पंच परमेश्वर", और ऐतिहासिक कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। किन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जैसे "यह मेरी मातृभूमि है" और "शिकारी राजकुमार" जो भावुकता के खण्ड चित्रों से अधिक कुछ भी नहीं हैं, लेकिन इन कहानियों का महत्व इस कारण है कि ये प्रेमचन्द के मन की झाँकी प्राप्त करने में मदद देती हैं।

प्रारंभिक काल को लगभग सन् १९२० तक माना जा सकता है।

इसके बाद प्रेमचन्द की कहानियों का वह युग प्रारंभ होता है, जिसमें प्रेमचन्द की दृष्टि में विस्तृति आ गई थी, और महज भावुकता ही नहीं, बुद्धिवाद का आग्रह भी उनकी कृति में मिलने लगा था। इस समय की कहानियों को यदि विषय की दृष्टि से देखें, तो

---

१. मा–पृष्ठ १२१--१२२.

२. पृष्ठ १२४.

३. कुछ कहानियों का अन्त मोटे टाइप में अलग से छपा रहता है, जैसे : यही ईश्वरी न्याय है, यह सचाई का उपहार है, यही महातीर्थ है आदि।

निम्नलिखित विषयों की प्रधानता मिलेगी : नारी-जीवन, विशेषकर विधवा-समस्या, लेकिन सामान्यतः परिवार और समाज में हिन्दू नारी का स्थान, साथ ही नारी के त्याग और बलिदान के भव्य और करुण चित्र, अछूत-समस्या, हिन्दू-समाज में अछूतों की दयनीय स्थिति और इस माध्यम से एक ओर सवर्णों के अत्याचार और दूसरी ओर धर्मावलम्बियों के पाखण्डपूर्ण आचार का पर्दा फाश किया गया है, विवाह और प्रेम-समस्या : हिन्दू-विवाह पद्धति के साथ जुड़े हुए दहेज के अभिशाप हिन्दू-परिवार में नर-नारी के सम्बन्ध, और प्रेम के उस शाश्वत स्वरूप का दिग्दर्शन, जो जीवन को एक अनोखी चमक प्रदान करता है, और जिसके बिना नर-नारी का मिलन महज़ एक विलास है, इससे अधिक कुछ भी नहीं, धार्मिक पाखण्ड, जिसके साथ अनिवार्य सहचर के रूप में साम्प्रदायिक वैमनस्य जुड़ा हुआ है, ग्राम-जीवन के चित्र, जो दो प्रकार के हैं, एक वे जो गाँव के जीवन की आत्मीय और आत्मिक विभूति को प्रकट करते हैं, दूसरे वे, जिनमें गाँव की बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के कारण ग्रामीणों के जीवन में घिर आये विक्षेप-व्यवधान बड़ी सजीवता और मार्मिकता से अंकित किये गये हैं, मध्यम वर्ग के अनेक चित्र, नई आर्थिक व्यवस्था के साथ आ गये विभिन्न वर्गों की झाँकियाँ, राजनैतिक समस्या के विभिन्न पहलू, जिनमें अंग्रेज अफसरों के दम्भ और भारतीयों की निपट गुलामी के दृश्य मिलेंगे, वे समाज-सेवी मिलेंगे, जो अपने भविष्य को निछावर करके अपने देश और देशवासियों की हित-चिन्ता में संलग्न रहते हैं ऐसे समाजसेवियों के पारिवारिक चित्रों के द्वारा उनकी महानता व्यक्त की गई है। वे नेता मिलेंगे, जो समाज-सेवा के आवरण में अपने स्वार्थों को ढाँककर चलते हैं।

इस काल की कहानियों पर और आन्तरिक दृष्टि डालन के पहले प्रेमचन्द के वे विचार जान लेना चाहिए, जो उन्होंने अपनी कहानी-संग्रहों की भूमिका में दिये हैं।—'प्रेम द्वादशी' की भूमिका में वे कहते हैं, "वर्तमान गल्प-लेखकों की गल्पों का आधार कोई न कोई दार्शनिक तत्व या सामाजिक विवेचना अवश्य होता है। ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अंग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ न करे या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत करे, कहानी नहीं है।"[१] प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में जिसका प्राक्कथन स्वयं प्रेमचन्द का लिखा हुआ है, वे कहते हैं, "कला का रहस्य है कृत्रिमता, पर वह कृत्रिमता, जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो। कलाविद् अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ तोड़-मरोड़ करता है, कुछ घटाता है, कुछ बढ़ाता है, कुछ छिपाता है, कुछ खोलता है, तब उसका मनोरथ सिद्ध होता है।"[२] 'प्रेम-पीयूष' संग्रह की भूमिका में प्रेमचन्द के ये वाक्य हैं, "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"[३] आगे वे कहते हैं, "इस संग्रह की प्रायः सभी कहानियाँ ग्राम्य-जीवन से संबंध रखती हैं, जहाँ हमें अपेक्षाकृत जीवन का मुक्त प्रवाह दिखाई पड़ता

---

१. प्रे० द्वा०—भू० पृष्ठ १-२.

२. प्रे० स० क०—प्रा० पृष्ठ १०

३. प्रे० पी०

है, अपने प्रेम, त्याग, कलह और द्वेष के मौलिक रूप में। जिस देश के अस्सी प्रतिशत मनुष्य गाँवों में रहते हों, उसके साहित्य में ग्राम्य-जीवन ही प्रधान रूप से चित्रित होना स्वाभाविक है। उन्हीं का सुख राष्ट्र का सुख, उन्हीं का दुख राष्ट्र का दुख और उन्हीं की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ हैं।"[१] हिन्दी के प्रमुख कहानीकारों की कहानियों का एक संग्रह 'हिन्दी की आदर्श कहानियाँ' नाम से प्रेमचन्द ने किया था। इसके भूमिका-लेखक के रूप में यद्यपि प्रेमचन्द का नाम नहीं दिया गया है, लेकिन माना जा सकता है कि प्रेमचन्द इस भूमिका से सहमत हैं। इसमें प्रेमचन्द के संबंध में जो परिचय और आलोचना दी गई है, उसमें के कुछ वाक्य उल्लेखनीय हैं, "प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं। आपकी कहानियाँ किसी न किसी आदर्श की ओर संकेत करती हैं। आप मानव-जीवन के उच्च आदर्श के हिमायती हैं। भारतीय संस्कृति के मुरझाए हुए प्रभाव को जाग्रत करने में आपकी कहानियाँ काफी सहायता देती हैं। मनुष्य को ऊपर उठाना, उसे संपूर्ण मनुष्य बनाना, इतना ही नहीं उसे चारों ओर अंधकार से बचाकर ज्ञान, त्याग और महान् आदर्शों का मार्ग दिखाना आपका लक्ष्य रहता है। उसमें आप सम्पूर्ण रूप से सफल हुए हैं।"[२] इन कथनों के आधार पर जिन निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है, वे ये हैं—प्रेमचन्द ने देश के अस्सी प्रतिशत उन लोगों की बात अपनी कहानियों में चित्रित की है, जो गाँवों में बसते हैं, और जिनका जीवन किसी प्रकार की वर्जनाओं से आक्रान्त नहीं है, बल्कि मुक्त प्रवाह की भाँति है। इन्हीं अस्सी प्रतिशत लोगों के सुख-दुख-समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। कहानियों के माध्यम से वे सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना करते हैं, उनकी कहानी का प्रतिपाद्य या तो सामाजिक विवेचन होता है, या कोई दार्शनिक तत्व। लेकिन अन्ततः वे मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ करना चाहते हैं कहानी की सफलता के लिए वे कुतूहल जाग्रत करना आवश्यक समझते हैं। कहानी की कला प्रेमचन्द के अनुसार ऐसी है, कि जो कल्पना के प्रयोग से यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है और अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यथार्थ का संकलित और संचयित रूप उपस्थित करती है।

इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द अपनी कहानी-कला के माध्यम से अपने युग का यथार्थ, समुचित विवेचना के साथ इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि इस बौद्धिक विवेचन के द्वारा सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना हो सके, और यह आलोचना केवल यथार्थवादी न होकर किन्हीं आदर्श संकेतों से युक्त हो जिससे मनुष्य में सद्भाव दृढ़ हो सकें। इस स्पष्टीकरण के आधार पर हमें प्रेमचन्द-संबंधी उस कथन को समझ लेना चाहिए, जिसमें कहा गया है कि प्रेमचन्द आदर्शवादी हैं। यों 'आदर्श और यथार्थ' परिच्छेद में प्रेमचन्द के आदर्श और यथार्थ का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है, किन्तु यहाँ फिर उसको दुहरा लेना अनुचित न होगा। प्रेमचन्द-साहित्य को आदर्श और यथार्थ की पारिभाषिक शब्दावली के द्वारा समझना और समझाना संभव नहीं है। प्रेमचन्द एक साथ ही आदर्श और यथार्थ को लेकर चलते हैं। वे विषय-विवेचन में एकदम यथार्थवादी हैं, लेकिन साहित्य की सोद्देश्यता में विश्वास करने के कारण वे एकान्त यथार्थवादी नहीं हो पाते। वे यथार्थ को किसी कुशल

---

१. प्रे० पी०.
२. हि० आ० क०-भू० पृ० २१.

सर्जन की भाँति चीर-फाड़कर रखने के बाद, निदान के लिए औषधि-निर्देश करते चलते हैं। इसलिए प्रेमचन्द को आदर्शवादी कहनेवालों को भ्रम की गुंजाइश बनी रहती है। अन्यथा प्रेमचन्द कहीं भी न तो एकान्त रूप से आदर्शवादी हैं और न आज के अर्थ में यथार्थवादी। प्रेमचन्द की इस समय की कहानियों में यथार्थ के प्रति झुकाव अधिक मिलता है। इस समय तक प्रेमचन्द की दृष्टि में विस्तार और विचारों में परिपक्वता आ चुकी थी और यथार्थ को देखने की वह दृष्टि उन्हें प्राप्त हो चुकी थी, जो आगे चलकर ह्यूमेनिज़्म के रूप में व्यक्त हुई है। अन्याय, अत्याचार, शोषण और ऐसे ही अन्य "अमानवीय" तत्वों के प्रति अब उनका मन अधिक सजग हो गया था, और वे यथार्थ की आदर्श में परिणति दिखाने का मोह छोड़ चुके थे। लेकिन यह मनोरचना अभी उतनी उग्र और क्रान्त्योन्मुख नहीं बन पाई थी, जितनी आगे चलकर 'मंगल-सूत्र' के थोड़े से पृष्ठों में झाँकती है। इस प्रकार इस काल की कहानियों में यथार्थवाद के तीन रूप मिलते हैं : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद, जैसा 'ममता', 'मुक्ति-धन' आदि कहानियों में है, यथार्थवाद, जो इस समय की अधिकांश कहानियों में मिलता है, लेकिन जिनमें कहानीकार का मन किसी प्रकार के राग-द्वेष के अतिरेक को प्रश्रय नहीं देता, और वह घोर यथार्थ, जो एक हृदय-विदारक चीख की तरह प्राणों के मर्म तक पहुँच जाता है, जिसके साथ मानों प्रेमचन्द का ह्यूमेनिस्टिक मन जुड़ा हुआ है। ऐसी कहानियों में 'सद्‌गति', 'पूस की रात', 'कफन' आदि हैं।

इस समय की कहानियों में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें प्रेमचन्द की शैली के विविध रूप मिलते हैं। कुछ कहानियाँ मोटेराम शास्त्री के सम्बन्ध की हैं। यह काल्पनिक पात्र किसी समय प्रेमचन्द के लिए मुसीबत बन गया था, क्योंकि किसी व्यक्ति से उसकी अनुहार मिलती थी, और इन सज्जन ने प्रेमचन्द पर मानहानि का दावा भी किया था। इस पात्र के द्वारा प्रेमचन्द ने अपन समय के पोंगापंथी ब्राह्मणत्व की ऐसी शैली में खिल्ली उड़ाई है, जो शैली डिकेन्स के "पिकविक पेपर्स" में मिलती है, या स्विफ्ट् की "गुलिवर्स ट्रैवल्स" में। मोटेराम शास्त्री के चरित्र की चरम झाँकी 'सत्याग्रह' कहानी में है। यह कहानी न केवल ब्राह्मणत्व पर बल्कि पाखण्डी नेतागिरी पर भी तिलमिलाती चोट है। कुछ अन्य कहानियाँ स्केच के ढंग की हैं, जैसे 'बड़े भाई साहब', जिसमें बड़े भाई का बड़ा ही विनोदपूर्ण चित्रण है, या 'लाटरी', जिसमें लाटरी मिलने की प्रत्याशा किन रूपों में प्रकट होती है, यह बड़ी ही सजीवता से चित्रित किया गया है, तीसरे प्रकार की कहानियों में 'दो बैलों की कथा' है। यह कहानी पशु मनोविज्ञान का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र उपस्थित करती है।

इस काल की कुछ कहानियाँ पुनर्जन्म से सम्बन्ध रखती हैं। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने पुनर्जन्म के द्वारा कथा में रहस्यात्मकता पैदा की है।

प्रेमचन्द का यथार्थवादी रुख उनकी उस प्रसिद्ध कहानी से स्पष्ट हो जाता है, जो वाजिद अली शाह के जमाने के पतनोन्मुख समाज की करुण कथा कहती है। इस कहानी में प्रेमचन्द अत्यन्त कलात्मक ढंग से सामन्ती खण्डहरों में पतन की कगार पर खड़े हुए जन-जीवन की दयनीय तसवीर देते हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों का अन्तिम विकास उनकी राजनैतिक आन्दोलन-संबंधी कहानियों में मिलता है। ये कहानियाँ सन् १९३०–३२ के भारतीय आन्दोलन की विभिन्न तसवीरें प्रस्तुत

करती हैं। इन कहानियों में जनता के अदम्य उत्साह के चित्र मिलेंगे। बायकाट और पिकेटिंग के विभिन्न दृश्यों के माध्यम से जनता के जीवन को आवृत्त करनेवाली देशभक्ति की लहर के अनेक प्रसंग मिलेंगे, जाग्रत समाज के दुर्दाम साहस की कहानियाँ और अविचलित संकल्पों के उदाहरण मिलेंगे, देश के नाम पर अपने भविष्य के सपनों को कुर्बान करनेवाले नवयुवकों के बलिदान की कथाएँ मिलेंगी और समझदार लोगों के विचारशील कथोपकथनों द्वारा स्वराज्य की कल्पनाएँ मिलेंगी। इन कहानियों को यथार्थवादी कहानियों की श्रेणी में मानना चाहिए, यद्यपि यह यथार्थवाद 'कफन', 'पूस की रात', 'सद्गति' के यथार्थवाद से भिन्न है।

प्रेमचन्द की कहानियों का यह संक्षिप्त परिचय उनके उपन्यासों के अध्ययन का पूरक है। उपन्यासों के अध्ययन में उनके मन की विकास-कथा मिलती है, कहानियों का यह संक्षिप्त अध्ययन उस मनोरचना को और अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित करता है।

इस अध्ययन के प्रसंग में यह रोचक होगा कि प्रेमचन्द के मतानुसार उनकी श्रेष्ठ कहानियों का नामोल्लेख कर दिया जाय। अनेक जिज्ञासुओं के समाधानार्थ प्रेमचन्द ने अपनी अच्छी कहानियों की जो तालिकाएँ दी हैं, उनके आधार पर यह सूची प्रस्तुत की जा रही है—

प्रेमचन्द की श्रेष्ठ कहानियाँ—

सारंधा, मंदिर-मसजिद, दुर्गा का मन्दिर, पंच परमेश्वर, बड़े घर की बेटी, कामना-तरु, हरदौल, आत्माराम, सुजान भगत, सती।

एक्ट्रेस, बूढ़ी काकी, लैली, सौत, नमक का दरोगा, लांछन, मंत्र, घासवाली, शतरंज के खिलाड़ी।

अग्नि समाधि, विनोद, विध्वंस, विक्रमादित्य का तेगा, डिक्री के रुपये, ईश्वरीय न्याय, घर-जमाई, खुचड़, जुलूस, माँ, आभूषण, प्रायश्चित, महातीर्थ, सत्याग्रह।

उपसंहार

(१) प्रेमचन्द की कला

प्रेमचन्द ने जहाँ हिन्दी-उपन्यास को नये-नये विषयों की ओर मोड़ा, वहाँ उन्होंने अपने विभिन्न उपन्यासों की शिल्प-विधि में कुछ न कुछ नवीनता रखी है। 'वरदान' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द अपने उपन्यासों की रचना में निरन्तर प्रयोगशील रहे हैं। उनका प्रत्येक नया उपन्यास अपने पिछले उपन्यास से स्वरूप में भी थोड़ा-बहुत भिन्न है। इसका प्रधान कारण यही है कि प्रेमचन्द जहाँ अपने विषय के क्षेत्र में विस्तार करते रहे हैं, वहाँ वे इस विस्तार को उपन्यास की कथावस्तु के रूप में संगठित करते समय उपन्यास के शिल्प-विधान को भी आवश्यकतानुसार परिवर्तित, परिवर्तित करते चले हैं। इसके सिवा एक और भी कारण है, जिससे प्रेमचन्द के उपन्यासों का स्वरूप अनेक कलाकारों की कृतियों से भिन्न रहता है। प्रेमचन्द सामाजिक कलाकार हैं और वे अपने उपन्यासों में व्यक्ति को उसकी एकान्तिक सत्ता में नहीं, सामाजिक सत्ता में देखते हैं, इसलिए उनके पात्र दुहरा व्यक्तित्व लेकर चलते हैं। एक ओर वे व्यक्ति रहते हैं, जो कथा की विभिन्न घटनाओं का निर्वाह करते हैं, दूसरी ओर वे समाज में अपना प्रतिनिधि का व्यक्तित्व भी लेकर चलते हैं। उनके प्रायः सभी प्रधान पात्र इस प्रकार के दुहरे व्यक्तित्व से युक्त रहते हैं। यह कला की कुशलता है कि इन दोनों व्यक्तियों में से कोई भी अप्रधान नहीं रहता, कोई भी एक दूसरे पर हावी नहीं हो जाता, और इस प्रकार व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्तियों के समूह की भी कथा व्यक्त होती चलती है। कम से कम यह आदर्श है, जो प्रेमचन्द के सामने रहता होगा, जब वे उपन्यास-रचना करने बैठते होंगे।

हमें देखना यह है कि किस प्रकार प्रेमचन्द के पात्र उपन्यासों में अपने दुहरे व्यक्तित्व को सार्थक करते हैं।

उदाहरणार्थ 'सेवा सदन' को ले लें। 'सेवा-सदन' सुमन की कहानी है, सदन की कहानी है। चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि सुमन नाम की एक नवयुवती की करुण कहानी है, जो किन्हीं परिस्थितियों में वेश्या बन जाती है और जिसके उद्धार के लिए समाज के नेता प्रयत्न करते हैं। 'सेवासदन' में सुमन की व्यक्तिगत कथा भी है और उसी के माध्यम से वेश्या समस्या को उठाया गया है, इसलिए वह वेश्या-समाज की प्रतिनिधि भी है। सुमन के चरित्र में उसका व्यक्ति रूप भी है और वर्ग रूप भी।

उपन्यास में कथा दो प्रकार की रहती है, एक आधिकारिक वस्तु और दूसरी प्रासंगिक वस्तु। इस दृष्टिकोण से देखें, तो सुमन और सदन की कथा निश्चय ही आधिकारिक वस्तु है, शेष सारी कथाएँ प्रासंगिक। लेकिन प्रेमचन्द ने उपन्यास-रचना इसलिए की है कि वेश्या-समस्या को उसके विभिन्न पहलुओं में उठाया जाय, उसकी और समाज का ध्यान आकृष्ट

किया जाय और उसके सुधार के लिए लोगों में तत्परता पैदा की जाय। इसलिए वे प्रधान कथा को इतना अधिक आधिकारिक नहीं बना देते कि उनका उद्देश्य महज़ प्रासंगिक बनकर रह जाय। वे सतर्कता से प्रयत्न करते हैं कि कथा अपने मनोरंजन के तत्वों को अक्षुण्ण रखे हुए अपनी सार्थकता को अत्यन्त स्पष्टता और शक्ति के साथ व्यक्त करती चले। 'वरदान' से 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द मनोरंजन और सार्थकता, आधिकारिक और प्रासंगिक कथा, व्यक्ति और वर्ग—के बीच संतुलन पैदा करने के लिए प्रयोग करते रहे हैं। यह ठीक है कि प्रारंभिक कृतियों में यह समन्वय पूरा-पूरा सिद्ध नहीं हो पाया है, इसलिए प्रारंभिक कृतियों में कलात्मकता का आंशिक अभाव खटकता है। इतना ही नहीं। इस समन्वय की कमी के कारण प्रारंभिक कृतियों में कथा के ऐसे दो साफ-साफ हिस्से हो जाते हैं कि जो पाठक की रुचि और आकर्षण को बाँट लेना चाहते हैं। अक्सर तो ऐसा होता है कि महज़ कथा रस के लिए उपन्यासों को उठानेवाले पाठक मूल कथा के उस अंश को ग्रहण करते चलते हैं, जिसका संबंध नायक-नायिका के व्यक्तियों से रहता है, या कहें कि कथा के व्यक्तिगत पक्ष से रहता है, सामाजिक से उतना नहीं। 'सेवासदन' पढ़नेवाले बीच के उन अनेक पृष्ठों को छोड़ते चलते हैं, जिनमें म्युनिसिपैलिटी की चर्चा की गई है। लेकिन क्या सुमन और सदन की कहानी ही प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का प्रतिपाद्य है, या 'सेवासदन' में प्रेमचन्द का और भी उद्देश्य निहित है। प्रारम्भिक कृतियों में प्रेमचन्द की कला-सम्बन्धी यह कमजोरी उनके उपन्यासों की शिल्प-सज्जा में एक दाग मानी जा सकती है।

अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में भी शिल्प-विधान वही दीख पड़ता है, जो 'सेवासदन' में है, अर्थात् कथा का एक पक्ष आधिकारिक है और दूसरा प्रासंगिक, लेकिन अगर ध्यान से देखें, तो यह 'सेवा-सदन' के शिल्प-विधान से भिन्न शिल्प-विधान है। 'गोदान' में एक शहर की कथा है, दूसरी गाँव की और इनमें से कोई एक दूसरे से कम महत्व की नहीं है। यद्यपि गोदान की कथा होरी की कथा है, क्योंकि होरी के माध्यम से ही कथा आगे बढ़ती है और उसी के साथ समाप्त हो जाती है, इसलिए होरी की कथा आधिकारिक मानी जा सकती है, लेकिन बीच के अधिकांश में व्याप्त शहर की कथा का फिर क्या प्रयोजन है? यह तो ठीक है कि शहर की कथा होरी की मूल कथा से एकदम आत्मीय भाव से जुड़ी हुई नहीं है, लेकिन सर्वत्र गाँव और शहर की कथाएँ एक दूसरे पर असर डालती चलती हैं। अगर शहर की कथा का विवेचन करें तो हमें मिलेगा कि इस कथा के प्रारम्भ में मेहता और मालती एकदम अव्यावहारिक किस्म के लोग जान पड़ते हैं, लेकिन कथा के अन्त में वे जीवन के यथार्थ क्षेत्र में आकर अपने को सेवा द्वारा सार्थक करते हैं। इस प्रकार कथाएँ तो दोनों ही लगभग आधिकारिक जान पड़ती हैं। जैसा मैंने 'गोदान' के विवेचन में स्पष्ट किया है कि यहाँ आकर प्रेमचन्द शहर और गाँव को अलग-अलग नहीं रख सके हैं, इसलिए दोनों को एक साथ लेकर चले हैं। दोनों को साथ लेकर चलने में उनका प्रयोजन यही है कि वे आज के समाज के उन दोनों पक्षों को चित्रित करना चाहते हैं, जो यद्यपि शहर और गाँव में अलग-अलग रहते हैं, लेकिन जो चाहकर भी अब एक दूसरे से अलग नहीं हैं।

अन्य उपन्यासों में भी एक से अधिक कथाएँ एक साथ चलती हैं। यहाँ तक कि उन सामाजिक उपन्यासों में भी जिनकी कथा-वस्तु अपेक्षाकृत संक्षिप्त है, और जो अनेक समस्याओं

को एक साथ साधकर नहीं चलते। 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' में भी यही बात मिलती है। इस प्रकार की रचना के गुण-दोष दोनों हैं। सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि कथाकार बड़े केनवास पर अपने चित्र को इस प्रकार उपस्थित कर पाता है कि विभिन्न चित्र जहाँ जीवन के विस्तार को व्यक्त करते हैं, वहाँ विभिन्न अंश एक दूसरे के लिए सिमिलेरिटी और कन्ट्रास्ट का काम करते हैं, और इस प्रकार संपूर्ण चित्र भव्य और आकर्षक बन जाता है। लेकिन बड़ा खतरा यह है कि इस प्रकार की साधना में अगर संपूर्णता की भावोपलब्धि नहीं हो पाई तो सारा चित्र खण्डों का एकीकरण-सा जान पड़ता है और प्रेमचन्द के उपन्यासों के विरुद्ध यह शिकायत है कि उनकी कथा-वस्तु में एकात्मयता का अभाव रहता है।

कथा-वस्तु के संगठन के दृष्टिकोण से 'गोदान' बड़ा सफल उपन्यास है। 'गोदान' की आलोचना के प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'ग़ोदान' की कथा का विकास फ़िल्म की सिनेरियों पद्धति पर हुआ है, इसलिए अपने अन्य उपन्यासों से प्रेमचन्द इस उपन्यास में सजीवता और स्वाभाविकता की अधिक रक्षा कर पाये हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ का मेल रहता है, इसलिए प्रेमचन्द की पात्र-कल्पना अपने प्रत्येक उपन्यास में एक आदर्श पात्र को लेकर चली है। स्वयं प्रेमचन्द ने कहीं कहा है कि मैंने अपने प्रत्येक उपन्यास में एक आदर्श पात्र की कल्पना की है। इस सम्बन्ध में इतना ही स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जहाँ 'ग़बन' के पहले के उपन्यासों में प्रेमचन्द एक आदर्श पात्र को लेकर चले हैं, वहाँ 'ग़बन' और उसके बाद के उपन्यासों में ऐसा स्पष्टतया नहीं मिलता। यों 'निर्मला' में कोई पात्र आदर्श नहीं है और 'गोदान' के मेहता को आप चाहें तो आदर्श पात्र कह सकते हैं। इसी प्रकार यद्यपि प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' के अमरकान्त को अपना आदर्श पात्र कहा है, किन्तु जैसा कि 'कर्मभूमि' के विवेचन में स्पष्ट है, यह पात्र सन् १९३०-३२ की आदर्श नेतागिरी पर बड़ा ही यथार्थ व्यंग है।

विषय की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास या तो शुद्ध सामाजिक हैं, या सामाजिक-राजनैतिक और विषय-निर्वाह की दृष्टि से चरित्र-प्रधान और मनोवैज्ञानिक। अगर ध्यान से देखें, तो जान पड़ेगा कि प्रेमचन्द ही हिन्दी के पहले कलाकार हैं, जिनकी कृतियों में केवल कथा नहीं मिलती, सही अर्थ में कथावस्तु मिलती है। कथा और कथावस्तु का अन्तर स्पष्ट किया जा चुका है। कथा घटनाओं को उनके समय-क्रम के अनुसार कहती चलती है, लेकिन कथावस्तु में घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट किया जाता है। प्रेमचन्द की प्रारंभिक कृतियों में भी यह कार्य-कारण संबंध मिलता है, लेकिन ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द की कला विकसित होती गई, उनके उपन्यासों में कथावस्तु संयोग को नहीं, कार्य-कारण सम्बन्ध को लेकर चली है। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यास सुखान्त हैं, इसलिए कि प्रेमचन्द मानव के मूलभूत सत् में विश्वास रखते थे और इसलिए अन्ततः वे अपने चरित्रों का परिष्कार दिखाते चले हैं। बाद के उपन्यासों में 'गोदान' दुखान्त है, 'ग़बन' और 'कर्मभूमि' में सुख और दुख समानुपातिक भाव से विद्यमान हैं। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' और 'निर्मला' में से 'निर्मला' को दुखान्त माना जा सकता है।

प्रेमचन्द के प्रारंभिक उपन्यासों में भले ही घटना-बाहुल्य हो, बाद के सभी उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं, और प्रेमचन्द चरित्रों के विकास को मनोवैज्ञानिक प्रणाली से साधते हैं।

चरित्रों की स्पष्टता और उनके मनोविज्ञान को व्यक्त करने के लिए प्रेमचन्द द्वन्द्व का अवलम्ब लेकर चलते हैं। एक ही शिकायत प्रेमचन्द के विरुद्ध इस प्रसंग में की जाती है कि वे अपने पात्रों पर अनावश्यक ढंग से अपने आदर्शवाद का ऐसा आरोप कर देते हैं कि कभी-कभी उनके पात्रों में घटित होनेवाले चारित्रित परिवर्तन अविश्वसनीय हो जाते हैं। प्रारंभिक कृतियों में जरूर ऐसा हुआ है, किन्तु बाद की कृतियों में पात्र अपने चरित्र के अपने स्वाभाविक विकास के पथ पर चलते हैं। बाद के उपन्यासों में प्रेमचन्द ने चरित्रों की कल्पना की है, उन्हें विशिष्ट परिस्थितियों में डाल दिया है, और फिर ये पात्र परिस्थितियों की घात-प्रतिघात गति में से अपना रास्ता बनाते हुए अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ आगे बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार यदि हम देखें, तो प्रेमचन्द के साहित्य को कला की दृष्टि से भी दो स्पष्ट भागों में बाँट सकते हैं। सुविधा के लिए इन दो भागों को हम पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहेंगे। पूर्वार्द्ध प्रयोग-कालीन है। इस समय प्रेमचन्द ने न केवल कथा-वस्तु के संगठन को लेकर उपन्यास की शिल्प-विधि में प्रयोग किये हैं, किन्तु उन्होंने चरित्र-चित्रण के संबंध में भी इस प्रकार की प्रयोगशीलता दिखाई है। यों तो किसी भी कलाकार का प्रारंभिक समय प्रयोगों में बीतता है, लेकिन प्रेमचन्द के संबंध में इसके सिवा यह कहा जा सकता है कि प्रयोग-कालीन उपन्यासों से उनके उत्तरार्द्ध के उपन्यास इसलिए भी भिन्न हैं कि प्रेमचन्द अपने चिन्तन और अनुभव के परिणाम-स्वरूप अपने विकास-काल की कृतियों में अपने प्रयोगकाल के विश्वासों, और संस्कारों से भिन्न आस्थाओं के आग्रही हो गये हैं। प्रारंभ के विश्वास और संस्कार नये चिन्तन के फलस्वरूप नई आस्थाओं में बदलकर उनके उपन्यासों को भी प्रारंभिक भावुकता से मुक्त करके अधिक विश्वसनीयता प्रदान करते हैं। इसीलिए प्रयोगकालीन कृतियाँ भावुकतापूर्ण आदर्शवादी, सतोन्मुखी हैं, लेकिन उत्तरार्द्ध की कृतियाँ चिन्तन-प्रधान, यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिकता-सम्मत हैं, और इसीलिए प्रारंभिक कृतियों से बाद की कृतियों का शिल्प-विधान भी अधिक वैज्ञानिक, अधिक कलात्मक है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलनेवाली एक विशेषता की ओर संभवतः पाठकों-आलोचकों का ध्यान नहीं गया है। प्रेमचन्द को स्थूल यथार्थ का, नितान्त वास्तविकता का कलाकार मानने के कारण उनकी इस विशेषता की ओर साधारणतया लोगों का ध्यान नहीं गया है। उपन्यासों के अध्ययन के प्रसंग में कम से कम दो स्थानों पर यह कहा गया है कि प्रेमचन्द की शैली में सांकेतिकता है। यह तो ठीक है कि जब प्रेमचन्द अपने पात्रों को दुहरा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं, तो एक सीमा तक पात्रों का चरित्र-चित्रण सांकेतिक रहता है। किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसी घटनाएँ और वर्णन मिलते हैं, जो अपने प्रसंग-गत स्वाभाविक अर्थ की अभिव्यक्ति के सिवा किसी सांकेतिक अर्थ की व्यंजना भी करते हैं। ऐसा एक प्रसंग 'रंगभूमि' में है। घटना यह है कि राजा महेन्द्रकुमार सिंह रात को सूरदास की मूर्ति गिरा देते हैं, लेकिन स्वयं भी गिरी हुई मूर्ति के नीचे दबकर मर जाते हैं। चारित्रिकता के नाते सूरदास और राजा साहब दोनों प्रतीक हैं: सूरदास आत्मशक्ति का, राजा साहिब महाजन और रईस तबके के, जनवादी और लोकसत्तात्मक शक्तियों के प्रति शत्रुता के। आत्मिक शक्ति के समक्ष, उससे पराजित होने का संकेत क्या इस घटना में नहीं है? जनवादी शक्ति के विरोधी ने आत्मशक्ति को धराशायी करने के प्रयत्न में अपने अस्तित्व को ही समाप्त कर

दिया। लेकिन संकेत इसके आगे हैं। गिरी हुई मूर्ति के बारे में प्रेमचन्द कहते हैं—कारीगरों ने फिर मसालों से मूर्ति के पैर जोड़े और उसे खड़ा किया लेकिन उस आघात के चिह्न अभी तक पैरों पर बने हुए हैं और मुख भी विकृत हो गया है। इस कथन को क्या संकेतात्मक नहीं मान सकते? इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' में जहाँ लेखक लखनपुर में स्थित जमींदारों के पैतृक मकान का वर्णन करते हैं, वहाँ स्पष्ट लगता है कि प्रेमचन्द इस चित्र के माध्यम से गिरती हुई सामन्ती व्यवस्था का चित्र देना चाह रहे हैं। ऐसे ही संकेत-चित्रों द्वारा प्रेमचन्द ने अपनी कला में आकर्षण पैदा किया है।

जिस प्रकार वर्णनों में प्रेमचन्द प्रतीकात्मक पद्धति का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार चरित्रों के चित्रण में वे व्यंगात्मक शैली का अनुसरण करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि अपने प्रधान पात्रों के चरित्रों के संबंध में प्रेमचन्द अत्यन्त सहृदयतापूर्ण रहते हैं, इसलिए प्रधान पात्रों के परिचय में यह व्यंग्यात्मकता नहीं मिलती। यह व्यंग्यात्मकता ऐसे ही पात्रों के परिचय में मिलती है, जो प्रेमचन्द की आदर्श धारणाओं के प्रतिकूल रहते हैं। कहीं-कहीं यह पद्धति वहाँ भी प्रयुक्त हुई है, जहाँ पात्र अपनी किन्हीं असाधारणताओं के कारण विशेष रूप से ध्यानाकर्षण के अधिकारी रहते हैं। 'बड़े घर की बेटी' में श्रीकण्ठसिंह का परिचय पहले प्रकार का है, 'गोदान' के मिर्जा साहिब का परिचय दूसरे प्रकार का। यों पूरी कहानी—'बड़े भाई साहब', और 'गोदान' के अनेक पात्रों का परिचय प्रेमचन्द की इसी शैली के उदाहरण हैं।

प्रेमचन्द की कला का एक बड़ा गुण यह है कि वे अपनी कृतियों में एकदम निरपेक्ष नहीं हो पाते। यह तो ठीक है कि जहाँ तक पात्रों के प्रति कलात्मक न्याय का प्रश्न है, वहाँ प्रेमचन्द दोनों प्रकार के पात्रों के प्रति, चाहे वे उनके मनोनुकूल हों, या मन के प्रतिकूल, प्रेमचन्द किसी प्रकार का पक्षपात नहीं बरतते। वे अपने पात्रों को अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने की पूरी सुविधा और स्वतंत्रता देते हैं, लेकिन इस प्रकार की कलात्मक तटस्थता के बाद प्रेमचन्द अपने विचारों को आग्रहपूर्वक व्यक्त करने में पीछे नहीं रहते। प्रेमचन्द के अपने राग-द्वेष के प्रभाव उनकी हर कृति में मौजूद रहते हैं। यह तो स्पष्ट है कि प्रेमचन्द प्रारंभ से ही अन्याय के विरुद्ध तीव्र रोष और यहाँ तक कि विद्रोह का भाव लेकर चले हैं। यही रोष और विद्रोह का भाव उनकी कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है। 'सेवासदन' जैसे प्रारंभिक उपन्यास में भी कलाकार की आसक्ति का स्पष्ट संकेत मिलता है, और 'गोदान' तक यह भाव बराबर विकसित होता चला है, यहाँ तक कि 'मंगलसूत्र' में प्रेमचन्द केवल अकर्मण्य रोष को ही व्यक्त नहीं करते, प्रत्यक्ष विद्रोह की भावना प्रकट करते हैं।

प्रेमचन्द की भाषा उनकी अपनी है, जिसे उन्होंने सप्रयास प्राप्त किया है और जिसके संबंध में वे प्रारंभ से ही कुछ धारणाएँ लेकर चले हैं। प्रेमचन्द हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते थे, इसलिए उनका प्रयत्न था कि हिन्दी किसी सीमित दायरे में न सिमिट जाय। वे हिन्दी के संबंध में अत्यन्त उदारता के पक्षपाती थे, और चाहते थे कि जिस प्रकार भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक रही है वैसे ही हिन्दी भाषा भी देश की विभिन्न भाषाओं के बीच विचार-विनिमय का सामान्य साधन बन सके। उनकी अपनी भाषा ऐसी ही थी, जो देश के बड़े भू-भाग की जनता आसानी से समझ सकती थी। प्रेमचन्द ने यद्यपि अपनी भाषा अनेक प्रयोगों के बाद प्राप्त की थी, फिर भी इस सप्रयास प्राप्त भाषा की सजीवता कहीं खण्डित

नहीं थी। इसके विपरीत प्रेमचन्द की भाषा अत्यन्त समर्थ, अभिव्यंजक, सरल, भावानुकूल थी। प्रेमचन्द की कृतियों में से अनेक उदाहरण देकर यह बात स्पष्ट की जा सकती है।

शैली और कला कलाकार के संपूर्ण व्यक्तित्व की परिचायक हैं। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व की झाँकी उनकी कृतियों की बाह्य सज्जा में भी प्रकट है। वह सरलता, अंतर्भेदिनी दृष्टि, समन्वयात्मकता, विनोद-प्रियता, विद्रोह की भावना जो प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में निहित गुण हैं, किसी न किसी रूप में प्रेमचन्द-साहित्य में व्यक्त हुए हैं, और उनकी शैली को ओज माधुर्य और प्रसाद से सम्पन्न करते हैं। अभिव्यक्ति की आन्तरिक सचाई ओज और प्रसाद के रूप में, तथा जीवन के सुन्दर और आनन्दमय प्रसंगों के प्रति मुग्धता माधुर्य के रूप में व्यक्त हुई है। भाषा की सुन्दरता उसकी सादगी में तो है ही, उसके मुहावरों लाक्षणिक प्रयोगों और व्यंजना के मार्मिक चमत्कारों में भी मिलती है।

(२) जीवन-दर्शन

आज से कोई बारह वर्ष पूर्व प्रेमचन्द के अध्ययन का विचार मन में उठा था। तब प्रेमचन्द के विषय में सोचते समय जो धारणाएँ बनी थीं, वे ये थीं—

"अपेक्षाकृत सामयिक युग की चर्चा करते समय न तो हम सिद्धान्तों से अपनी चर्चा प्रारंभ कर सकते हैं और न सिद्धान्तों पर समाप्त ही। कारण बहुत स्पष्ट है। वस्तु दृष्टि पथ के अधिक करीब होने के कारण उसे देखने का हमारा दृष्टिनिक्षेप (पर्सपेक्टिव्ह) बहुत ही संकुचित रहता है। फिर जिस व्यक्ति की हम चर्चा कर रहे हैं, उसकी कृति की आलोचना करते समय उसके प्रभावक व्यक्तित्व को हम एकबारगी ही टाल नहीं सकते और तब हमारे कथन की निष्पक्षता संदिग्ध रह सकती है। साथ ही एक बात यह है कि धारा की गति के साथ बहनवाला गति की ठीक परख कर भी कैसे सकता है। इसीलिए सामयिक साहित्य पर सिद्धान्त निरूपण करके हम आश्वस्त नहीं हो सकते कि आनेवाले युग में जब भावनाएँ स्थिर हो जायँगी, भावुकता का जोर फीका पड़ जायगा, तब भी हमारे इन विचारों को स्वीकृति दी जा सकेगी। इस कारण प्रेमचन्द पर विचार करते समय इस खतरे से हमें निगाह नहीं फेर लेनी होगी।

"इन खतरों को भूल जाने के कारण प्रेमचन्द ने क्या दिया, इसे समझने में लगातार भूलें होती आई हैं। लेकिन प्रेमचन्द ने कुछ ऐसा अवश्य दिया है जितने हमारे युग और साहित्य के ढाँचे को एकदम बदल डालने में बड़ी मदद पहुँचाई है। इस कथन से क्या किसी को इन्कार है? इस "कुछ" का विश्लेषण करके यदि "कथा" का कुछ भी रहस्य हम जान सके, तो आज के युग और साहित्य को अधिक समझ सकेंगे।"[१]

इस भूमिका के साथ उनके साहित्य की चर्चा करने के लिए तीन दृष्टिकोण रखे गये थे—उसकी विशेषताएँ, उस पर प्रभाव और उसकी देन।

सोचा था, "विशेषताओं को गिनते समय भाषा के सिवा उनके ग्रामीण चित्रणों पर ही जोर दिया गया है, उनकी नारी, उनका "मानव" दोनों ही उनके किसान से कम सजीव

---

१. वि० वि० को प्रेषित योजना-सूत्र का अंश

नहीं हैं। फिर जोर देकर किसी ने उनके आशा के सन्देश, आत्मगौरव के भाव, राष्ट्र-प्रेम, जीवन और सौन्दर्य-प्रेम की चर्चा नहीं की। उनके ग्रामीण चित्रों की भाँति उनके गार्हस्थ्य चित्र भी विशेष हैं। ध्यान से विचार करें तो हमें जान पड़ेगा कि प्रेमचन्दकालीन साहित्य का रस ही गार्हस्थ्य-रस है। साथ ही उनका हास्य, उनका चरित्र-संकलन, मनुष्येतर पात्र, व्यंग सभी "प्रेमचन्द तत्व" से उभरे हैं। हमें इन पर विचार करना होगा।

("प्रेमचन्द पर प्रभावों की चर्चा करते समय तीन बातें कही जाती हैं—कांग्रेसव्यापी आन्दोलन, आर्य समाज और रूसी साहित्य) रूसी साहित्य का प्रभाव बताते समय हम प्रगतिशीलता के फेर में पड़कर प्रेमचन्द को साम्प्रदायिक साम्यवादी बताने का लालच दिखाते हैं। पर 'गोदान' के कर्ता ने साम्यवादी आन्दोलन को सहानुभूति की निगाह से भले ही देखा हो, उसकी धारणाएँ वादों में फँसने की प्रवृत्ति नहीं रखतीं। साथ ही जिन पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव प्रेमचन्द पर रहा है और जिनका जिक्र नहीं हुआ उनमें शा, हार्डी, गाल्सवर्दी और टाल्सटाय हैं। भारतीय साहित्य के प्रभाव की चर्चा भी आवश्यक है।

"भाषा का प्रश्न जब एक जटिल समस्या बन रहा है, साहित्य का भविष्य संदिग्ध हो रहा है तब प्रेमचन्द की भाव भाषा की देन का क्या महत्व है, इसे समझकर प्रेमचन्द का ठीक मूल्यांकन हो सकेगा।"

इन धारणाओं के साथ प्रेमचन्द के अध्ययन का संकल्प लेकर चला था। इतने वर्षों की अवधि अनेक व्यवधानों और यदा-कदा थोड़े बहुत अध्ययन में समाप्त हो गई। अब जब यह प्रबंध लिखने बैठा तो प्रारंभिक धारणाओं में परिवर्तन परिवर्धन की गुंजाइश नज़र आई। इस बीच प्रेमचन्द के संबंध में अनेक विद्वत्तापूर्ण अध्ययन देखने को मिले। सब मिलाकर मुझे लगा कि प्रेमचन्द के अध्ययन में इन या ऐसी बातों का ध्यान तो रखा ही जायगा, क्योंकि ये सारी बातें प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व में साधारण तौर से मिलती ही हैं, लेकिन इनकी तह में, प्रेमचन्द साहित्य के मूल में जो तत्व हैं उन्हें सुसम्बद्ध ढंग से पहचानने के लिए हमें और अधिक वैज्ञानिक ढंग लेकर चलना पड़ेगा।

(प्रेमचन्द सामाजिक कलाकार हैं, जिनका साहित्य युग को प्रतिबिम्बित करता चला है। प्रेमचन्द या सामान्यतः किसी भी साहित्यकार या कलाकार के व्यक्तित्व को जानने के लिए हमें तीन बातों का ध्यान रखना पड़ेगा, युग चेतना, मन के संस्कार और जीवन की परिस्थितियाँ। इन्हीं तीन उपादानों से साहित्यकार का व्यक्तित्व सँवरता है।) एक और प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर साहित्यिक परम्पराओं का भी पड़ता है। प्रेमचन्द के संबंध में यही धारणा बनाने के लिए इन बातों का सतर्कतापूर्वक अध्ययन आवश्यक है।

इन आधारभूत तत्वों को जानकर प्रेमचन्द के साहित्याधेय का विस्तृत विश्लेषण करते समय उनके चिरंतन विकासशील मन की गति को जानना आवश्यक है।

पिछले पृष्ठों में मैंने इसी पथ का अनुसरण किया है। उनके साहित्य का विस्तृत अध्ययन करके मैंने सोचा कि उनके जीवन-दर्शन का सही निरूपण करने के लिए उनके उपन्यासों की धारा का अनुसरण पर्याप्त होगा। कहानियाँ इस दर्शन के खण्ड चित्र देती हैं, उपन्यासों में इसके विशद और संपूर्ण चित्र की उपलब्धि होती है। उपन्यासों के साथ उन कहानियों का

उल्लेख किया गया है, जो उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में सहायक जान पड़ी हैं। यों कहानी पर एक संक्षिप्त अध्ययन देकर उनके मनोविकास को इनके माध्यम से भी परखा गया है।

यह अध्ययन प्रेमचन्द-साहित्य के भाव-पक्ष तक ही सीमित मानना चाहिए। यद्यपि इसमें प्रेमचन्द की चिन्तनधारा प्रमुख है किन्तु इसमें कला के संबंध में भी यत्र-तत्र स्फुट विचार व्यक्त किये गये हैं। उपसंहार में प्रेमचन्द की कला के बारे में एक निबंध अलग से भी है।

प्रेमचन्द ने जीवन को अपने अनुभव की आँखों से देखा था और जीवन के संबंध में उनकी अपनी विशिष्ट धारणाएँ थीं। वे कहते हैं, "अपने मार्ग, अपने अध्ययन, अपनी फ़िलासफ़ी के बिना कोई सच्चा कलाकार नहीं हो सकता। अपनी आँखों से जीवन देखो, अपने अनुभव से उसे जाँचो। जैसा पाओ, वैसा लिखो।"[१]

इस अध्ययन के अंत में प्रेमचन्द के समग्र व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुए उनके जीवन और समाज और समाज-दर्शन की स्पष्ट धारणा कर लेना अनुचित न होगा।

प्रेमचन्द की आधारभूत धारणा है कि "प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है......मनुष्य ने अपने अहंकार में अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हर एक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है......अगर ईश्वर के विधान इतने अज्ञेय हैं कि मनुष्य की समझ में नहीं आते, तो उन्हें मानने से ही मनुष्य को क्या संतोष मिल सकता है।"[२] प्रेमचन्द अनीश्वरवादी थे। अपनी अनीश्वरवादिता को उन्होंने अपने साहित्य में निर्विवाद रूप से प्रकट किया है।

चाहें तो प्रेमचन्द को मानववादी और मानवतावादी कह सकते हैं। "ईश्वर की कल्पना का एक ही उद्देश्य उनकी समझ में आता था, और वह था मानव-जीवन की एकता। एकात्म-वाद या सर्वात्मवाद या अहिंसा-तत्व को वह आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं, भौतिक दृष्टि से देखते थे, यद्यपि इन तत्वों का इतिहास के किसी काल में भी आधिपत्य नहीं रहा फिर भी मनुष्य जाति के सांस्कृतिक विकास में उनका स्थान बड़े महत्व का है। मानव-समाज की एकता में (उनका) दृढ़ विश्वास था, मगर इस विश्वास के लिए उन्हें ईश्वर-तत्व के मानने की जरूरत न मालूम होती थी। उनका मानव-प्रेम इस आधार पर अवलम्बित न था कि प्राणि-मात्र में एक आत्मा का निवास है। द्वैत और अद्वैत का व्यापारिक महत्व के सिवा वह और कोई उपयोग न समझते थे और वह व्यापारिक महत्व उनके लिए मानव जाति को एक दूसरे के समीप लाना, आपस के भेद-भाव को मिटाना और भ्रातृभाव को दृढ़ करना ही था। यह एकता, यह अभिन्नता उनकी आत्मा में इस तरह जम गई थी कि उनके लिए किसी आध्यात्मिक आधार की सृष्टि उनकी दृष्टि में व्यर्थ थी।"[३]

इस तत्व को पाकर वे जीवन का प्रयोजन इसी एकता की उपलब्धि को मानते थे। "आत्मवाद तथा अनात्मवाद की खूब छान-बीन कर लेने पर वह इसी तत्व पर पहुँच जाते

---

१. प्रे० अ० पृष्ठ ८५१.
२. गोदान पृष्ठ ४१२.
३. गोदान पृ० ४१२.

थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है, चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक बना सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है।"[१] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "सिर्फ रुपया कमाना ही आदमी का उद्देश्य नहीं है। मनुष्यता को ऊपर उठाना और मनुष्य के मन में ऊँचा विचार पैदा करना भी उसका कर्तव्य है। अगर यह नहीं है, तो आदमी और पशु दोनों बराबर हैं।"[२]

इस मानव-तत्व की उपलब्धि के बाद प्रेमचन्द जीवन में श्रम की स्थिति अनिवार्य मानते हैं और शोषण को किसी भी रूप में सहन नहीं कर सकते। शोषण के व्यक्त स्वरूप साधन और माध्यम धन के संचय के वे सदा विरोधी रहे। 'मंगल सूत्र' के देवकुमार की सौंदर्य भावना से जागा हुआ मन कभी कंचन की उपासना को जीवन का लक्ष्य न बना सका।[३] श्रम के संबंध में उनकी निश्चित धारणा थी कि अपनी जरूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है।[४] लेकिन श्रम सेवा में निरत जीवन का आदर्श प्रेमचन्द के लिए आनन्द है।

"मेरे जीवन का क्या आदर्श है, आपको यह बतला देने का मोह मुझसे नहीं रुकता। मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ, जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द, जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं। मैं भूत की चिन्ता नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवन की शान्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर, रूढ़ियों और विश्वासों तथा इतिहासों के मलवे के नीचे दबे पड़े हैं, उठने का नाम नहीं लेते, वह सामर्थ्य ही नहीं रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव-धर्म को पूरा करने में लगनी चाहिए थी--सहयोग में, भाईचारे में--वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप-दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है। और यह जो ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। वह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।"[५]

जीवन को व्यर्थ के बोझों से हलका करके सत्य, सेवा और मानव-धर्म जो वस्तुतः प्रेमचन्द के लिए एक ही हैं, प्रेमचन्द जीवन को खेल की तरह खेलने के आदी हैं। 'रंगभूमि'

---

१. गोदान पृष्ठ ४११.
२. प्रे० अ० पृष्ठ ९१५-१६.
३. मं० सू० पृष्ठ ४.
४. प्रे० अ० पृष्ठ ३६.
५. गोदान पृष्ठ २६७.

का सूरदास जीवन की जो सरल किन्तु सुदृढ़ फ़िलासफ़ी व्यक्त करता है, वह जैसे प्रेमचन्द की अपनी बात है।

"वाह मैं तो खेल में रोता हूँ। कितनी बुरी बात है। लड़के भी खेल में रोना बुरा समझते हैं। रोनेवाले को चिढ़ाते हैं और मैं खेल में रोता हूँ। सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं। बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं पर मैदान में डटे रहते हैं। उनकी त्यौरियों पर बल हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती। दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, नहीं पड़ते। न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा। खेल हंसने के लिए, दिल-बहलाव के लिए है।"[1]

परम्परागत धर्म में आस्था रखने के लिए जिस दृढ़ आधार की आवश्यकता होती है, उसे उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया, वे ईश्वरवादी थे ही नहीं। धर्म के कर्मकाण्डी आडम्बरों में सीमित स्वरूप को वे कभी नहीं मान सके। वे अपने को इस दृष्टि से अधार्मिक व्यक्ति कहा करते थे। उनके वाक्य हैं, "मुझे रस्मी मज़हब पर कोई एतक़ाद नहीं है। पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबियत का यही रंग है। आज लोगों की तबियत तो मज़हबी होती है, बाज लोगों की लामज़हबी। मैं मज़हबी तबियत रखनेवालों को बुरा नहीं कहता। लेकिन मेरी तबियत रस्मी मज़हब की पाबन्दी को बिलकुल गवारा नहीं करती।"[2] प्रेमचन्द ने धर्म का जो सामाजिक और व्यक्तिगत स्वरूप देखा था, उसमें उन्हें पाखण्ड के चिह्न नज़र आते थे, फिर वे समाज की किसी ऐसी व्यवस्था का समर्थन नहीं कर पाते थे, जिसमें असमानता और शोषण हो और इस असमानता और शोषण को ईश्वरेच्छा और कर्मफल मानकर प्रचारित किया जाय। लेनिन ने वर्तमान जीवन में धर्म के द्वारा किये गये समाज के अहित की जो ज़ोरदार व्याख्या की है, वही व्याख्या प्रेमचन्द ने यथासंभव व्यक्त की है। लेनिन कहता है, "वर्तमान पूंजीवादी देशों में धर्म की भित्ति प्रमुख रूप से सामाजिक है। वर्तमान धर्म की जड़ें श्रमिक जनता के ऊपर सामाजिक अत्याचार में पूंजीवादी अंधशक्तियों के सामने उनकी खुली हुई बेकसी में, जिनकी वजह से हर दिन, हर घड़ी, साधारण मज़दूरी पेशा लोगों को युद्ध अथवा भूडोल जैसी विशेष घटनाओं से कई हज़ार गुना भयंकर कष्ट और पीड़ा होती है, गड़ी हुई हैं। डर ने देवताओं को जन्म दिया। पूँजीवादी अंधी शक्तियों का डर ही—अंधी इसलिए कि उनकी करनी जनता पहले से ही नहीं देख सकती—एक ऐसी शक्ति का जो कि जिंदगी में हर क़दम पर मज़दूरों और छोटे-मोटे व्यापारियों को उस "आकस्मिक" "अप्रत्याशित" "अलक्षित" बरबादी और नाश से डराया करती है, जिसके फलस्वरूप भिखमंगी, दरिद्रता, वेश्यागामिता और भुखमरी का प्रकोप है।"[3]

धर्म के मूल तत्व समता, सेवा और सत्य को लेकर चलनेवाले प्रेमचन्द वर्गों और वर्गों की इकाइयों में पतित हो जाने वाले जीवन को प्रेम के बल की आशा देते हैं। मातादीन-सिलिया-प्रसंग इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि मन का मेल प्रेम के द्वारा ही संभव है

---

१. रंगभूमि पृष्ठ १३५.
२. प्रे० अ० पृष्ठ ६९, ७०.
३. प्रे० पृष्ठ २८.

और इस मेल में वर्ग (और वर्ण भी) हज़ार बाधाएँ डालें, प्रेम इन बाधाओं को पार करके आनन्द के निर्मल देश में पहुँचेगा ही।

प्रेमचन्द प्रेम के निस्वार्थ आत्मपक्ष को लेकर चलते हैं। प्रेम को वे भोग और आत्म-सेवा का साधन नहीं मानते, किन्तु जीवन को विकास और विस्तार देकर उसे मानव-सेवा का साधन मानते हैं। नर और नारी के संबंध में वे यह तो मानते हैं कि नारी पुरुष के जीवन में प्रेरणा और शक्ति का संचार करती है, लेकिन यह नहीं मानते कि नारी केवल भोग की वस्तु है, नारी को वे मातृत्व के पंथ पर बढ़ती हुई अखण्ड शक्ति मानते हैं। नारी की चरमता उसके मातृत्व में है। इसके सिवा नारी के और जो रूप हैं, वे मातृत्व के केवल उपक्रम हैं, और जो रूप अपने उद्देश्य से विरत हो जाते हैं वे नारी के आत्म-सौंदर्य को कुरूप कर देते हैं। पुरुष नारी के इसी रूप का पुजारी है क्योंकि यही रूप उसे कुपथों से बचाकर जीवन-कल्याण की दिशा में ले जाता है। वे नारी-ज़ागरण के पश्चिमी आदर्श को नहीं मानते जहाँ नारी ने अपने को नग्न करके विलास के लिए नियोजित कर लिया है। वे नारी-जागरण के हामी हैं। वे नारी-समानता के समर्थक हैं लेकिन यह ज़ागरण आत्मा का हो, यह समानता कर्तव्य की हो। प्रेमचन्द दोनों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग मानते हैं और यह गवारा नहीं करते कि नारी-समानता की माँग करते समय "वोट" जैसे समानाधिकार की ओर दौड़े।

वे जीवन के सादे-सरल रूप के हामी रहे हैं। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर, 'कायाकल्प' के चक्रधर और सोफ़िया, 'कर्मभूमि' के अमरकान्त और मुन्नी, 'गोदान' के मिर्ज़ा खुर्शीद और मेहता—सभी, जब अवकाश मिलता है, गाँव के जीवन में जा रमते हैं। इस नाते प्रेमचन्द आज की यांत्रिकता के विरोधी नज़र आते हैं। 'रंगभूमि' के पाण्डेपुर गाँव की शान्ति यान्त्रिकता से नष्ट हो जाती है और 'गोदान' के खन्ना की कोमल वृत्तियाँ यंत्रों में झुलस कर खुद उन्हें यंत्रवत् बना देती हैं। खन्ना तभी इन्सान बनता है, जब मिल जल जाती है। प्रेमचन्द ने कभी वैभव, लिप्सा और धन में अपने को आच्छन्न नहीं किया। सीमित अभिलाषाओं वाले प्रेमचन्द ने सदा सरल जीवन व्यतीत किया है।

प्रेमचन्द भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के सदा समर्थक रहे हैं। उनकी "समर यात्रा" क्रम की कहानियाँ उनके उत्कट देश-प्रेम को प्रकट करती हैं। यथार्थतः देश-प्रेम उनमें सदैव छलकता रहा है, और इसी के कारण उन्हें अपनी नौकरी भी छोड़नी पड़ी थी।

स्वाधीनता या मुक्ति प्रेमचन्द केवल विदेशी सत्ता से नहीं चाहते थे। वे सर्वांगीण आजादी चाहते थे।

"इस दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं पर मानसिक पराधीनता में अपने आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का बहुमूल्य अंग क्या है, उसकी भाषा, उसकी सभ्यता, उसके विचार, उसका कलचर......कलचर (सभ्यता या परिष्कृति). एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार सब हमारे कलचर के अंग हैं पर आज हम अपनी बेदर्दी से उसी कलचर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिम वालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि हममें सिर से पांव तक दोष ही दोष हैं और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण हैं। इस अंध-भक्ति में हमें उनके दोष भी गुण

मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष)। इसे प्रेमचन्द हिमाकत समझते हैं, लेकिन प्रेमचन्द अंध देशप्रेमी या राष्ट्रीयतावादी कभी नहीं रहे। (प्रेमचन्द ने हर बात तक पहुँचने का एक ही आधार जाना है, मानव-प्रेम। देश को पराधीनता से मुक्त करा लेना ही कर्तव्य की इतिश्री नहीं है। वे जान के स्थान पर गोविन्द को नहीं बिठालना चाहते और देवीदीन खटीक (गबन) की तरह स्वराज्य के द्वारा जन-जीवन के उत्थान का सपना देखते हैं। इसीलिए वे राष्ट्रीयता के भीतर अन्तर्राष्ट्रीयता के बीज मौजूद पाते हैं, जिसमें समस्त संसार के स्वतंत्र मानवों का एक अशोषित वर्गहीन संघ बन जाय।) इसीलिए वे राष्ट्रवाद के किसी भी ऐसे स्वरूप के हामी नहीं हुए जो किसानों मज़दूरों के शोषण की प्रथा को अक्षुण्ण रखे रहे—उसे मिटा न सके, उसे मिटाना न चाहे।

(राष्ट्रवाद के संबंध में प्रेमचन्द ने कहा कि "वर्तमान राष्ट्र यूरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप।" यह राष्ट्रवाद वे पूँजीवाद पर आधारित मानते हैं और पूँजीवाद राष्ट्रवाद के संबंध में लिखते हैं:—

("इस राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रखा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट नीति चली जाती है, एक दूसरे की आँखों में धूल झोंकी जाती है, निर्बल राष्ट्रों को उभरने तक नहीं दिया जाता है)....साम्राज्यवाद और व्यवसाय की जड़ें तक हिलने लगी हैं। (जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में अब कम्पन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिस कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानव जीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलई खुलने लगी है) स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबन्दी जिसे राष्ट्र कहा जाता है और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासकों के कठोर, और निर्मल हाथों से निकलकर उन लोगों के हाथों में आ रही है जिन्हें राज्य-विस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो संतोषप्रद शान्ति के उपासक होंगे।"[१] (इसीलिए वे डोमिनियन स्टेटस नहीं चाहते थे और स्वराज्य की कल्पना इन शब्दों में करते थे—

"कुछ लोग स्वराज्य-आन्दोलन से इसलिए घबड़ा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जायगी और इस भय के कारण या तो दूर से इस संग्राम का तमाशा देख रहे हैं,) या जिन्हें अपनी प्रभुता ज्यादा प्यारी है, वे परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सरकार का साथ देने पर आमादा हैं। (इनमें अधिकांश हमारे ज़मींदार, सरकारी नौकर, बड़े-बड़े व्यापारी और रुपये वाले शामिल हैं। उन्हे भय है कि अगर यह आन्दोलन हो गया, तो ज़मींदारी छिन जायगी, नौकरी से अलग कर दिये जायेंगे, धन जब्त कर लिया जायगा। इसलिए इस आंदोलन को सिर न उठाने दिया जाय।"[२])

(प्रेमचन्द इस आन्दोलन के संबंध में, इसके कर्णधारों की अभिव्यक्तियों के आधार पर, बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधे हुए थे।)

---

१. हंस १९३५.

२. हंस : अप्रैल १९३०.

"इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज्य का आन्दोलन ग़रीबों का आन्दोलन है। अंग्रेजी राज्य में ग़रीबों, मज़दूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है और होती जाती है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं।"[1] वे जानते हैं, "कांग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाम भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें वह अखरन नहीं हो सकती, जो एक किसान को हो सकती है। अतएव हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग पीड़ित है। सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, सब उसी का रक्त और मांस खा-खा कर मोटे होते हैं, पर कोई उसकी खबर नहीं लेता। मज़दूरों में संघटन है, सरकारी नौकरों ने भी अपने-अपने दल संघटित कर लिए, जमींदारों और महाजनों का दल भी व्यवस्थित है, मगर किसानों का कोई संघ नहीं। ग़रीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह कठोर सत्य है। इस एक आन्दोलन में ग़रीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है। इस आन्दोलन में भी ग़रीब ही आगे बढ़े हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हीं को होगा भी.....स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी क्षेत्र को हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनको अवश्य हानि होगी, जो खुशामद, लूट, अन्याय के मज़े उठा रहे हैं।"[2]

स्वराज्य के इस अर्थ के साथ प्रेमचन्द ने स्पष्ट घोषित किया था कि—

"हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधरियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है.....ये दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में मिल जायेंगे और प्रजा को दबाने की, इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे।"[3]

अंग्रेज़ी सत्ताधारी जा चुके हैं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारी न रह जायें, तभी प्रेमचन्द के सपने का स्वराज्य पूरा होगा।

मौत के कुछ घण्टे पहले जैनेन्द्रकुमार से किसी प्रसंग में प्रेमचन्द ने एक वाक्य कहा था। यही उनका अन्तिम वाक्य था, "आदर्श से काम नहीं चलेगा।"[4] प्रेमचन्द-साहित्य सब मिलाकर यह एक वाक्य हमारे लिए छोड़ गया है—"आदर्श से काम नहीं चलेगा।"

(३) प्रेमचन्द : एक सर्वेक्षण

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता माने गये हैं। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी का साहित्य प्रायः एकांगी था। काव्य उसका प्रधान अंग था और काव्याभिव्यक्ति का साधन भी आधुनिक साहित्य की अभिव्यक्ति के साधन से भिन्न था। पूर्व हरिश्चन्द्र युग के साहित्य की भाषा ब्रज थी या अवधी। खड़ी बोली तब दिल्ली और मेरठ के क्षेत्र में बाज़ार के दैनिक व्यवहार तक सीमित थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने न केवल साहित्य के विभिन्न अंगों को सम्पन्न किया, बल्कि समय-प्रवाह के साथ उन्होंने अपने साहित्य की अभिव्यक्ति का साधन भी बदल डाला। भारतेन्दु का काव्य यद्यपि प्रधानतः ब्रज भाषा में है, किन्तु नाटकों में उन्होंने खड़ी बोली का सुन्दर प्रयोग किया है। भारतेन्दु के समय तक खड़ी बोली उत्तर

---

१. हंस : अप्रैल १९३०.

२. वही

३. वही

४. प्रे० अं० पृ० ९११.

भारत के बड़े क्षेत्र में प्रचार पा चुकी थी। इस प्रसंग में दो बातें द्रष्टव्य हैं। अपभ्रंश के बाद भाषा के पूर्वी और पश्चिमी हिन्दी रूप अवध और ब्रज तथा दिल्ली और मेरठ के अपने-अपने सीमित क्षेत्र की बोलियाँ थीं। इनमें से पूर्वी हिन्दी क्षेत्र ही भक्ति-काल और रीतिकाल के भक्त और शृंगारी कवियों की विहारस्थली रहा और इसीलिए भक्ति और रीतिकाल का समस्त साहित्य हम ब्रज या अवधी भाषा में पाते हैं। यों ऐसे कवि जो पश्चिम के क्षेत्रों के संपर्क में आये, अपने को पश्चिमी हिन्दी के प्रभाव से नहीं बचा सके। अमीर खुसरो, कबीर, रहीम की रचनाएँ उदाहरण-स्वरूप हैं। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ब्रज और अवध की अपेक्षा दिल्ली और आगरा का महत्व बढ़ा जिससे पश्चिमी हिन्दी ने खड़ी बोली के रूप में अधिकाधिक प्रचार पाया। कालान्तर में अंग्रेजों के आगमन के साथ शासन की आवश्यकताओं तथा व्यापारिक आदान-प्रदान के क्रम में मेरठ और दिल्ली की बोली बिहार और बंगाल तक फैलकर प्रायः समस्त उत्तर भारत की प्रमुख बोली बन गई। दूसरे, काव्य के साथ-साथ जहाँ गद्य में भी साहित्य-सृजन प्रारंभ हो गया वहाँ भावाभिव्यक्ति के साथ विचाराभिव्यक्ति का प्रश्न सामने आया और जब भावों की कोमल वाहिनी विचारों का भार वहन के लिए असमर्थ जान पड़ी तब प्रायः अनायास ही साहित्य के अन्तःपुर में ब्रज के साथ-साथ खड़ी बोली प्रतिष्ठित हो गई।

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रशस्ति में कविवर पंतजी ने लिखा है—

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने लिखा बहु विधि स्वर संधान।
पर तुमने ही झंकृत करके प्रथम स्वर्ण झंकार,
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार॥

निस्सन्देह भारतेन्दु द्वारा निर्मित वीणा में प्रथम स्वर्ण-झंकार झंकृत करके द्विवेदी जी ने अखिल देश की वाणी को आकार दे दिया। किन्तु जहाँ खड़ी बोली के विकास-क्रम की चर्चा होगी वहाँ भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग का सही उत्तराधिकारी प्रेमचन्द युग को ही स्वीकार किया जावेगा। भारतेन्दु ने यदि खड़ी बोली को साहित्य के मन्दिर में स्थान दिया और द्विवेदी जी ने उसे सुस्थिर आकार दिया तो प्रेमचन्द ने उसे जीवनी शक्ति से सप्राण करके उन्मुक्त प्रसार दिया। खड़ी बोली से राष्ट्र भाषा हिन्दी तक के पथ की प्रशस्ति में प्रेमचन्द-साहित्य का बड़ा हाथ है। जिस प्रकार कहते हैं कि चन्द्रकान्ता और चन्द्रकांता-संतति पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी सीखी उसी प्रकार 'सेवासदन' से 'गोदान' तक उपन्यास और भारतीय जीवन की लगभग दो सौ सरस सजीव सार्थक कहानियाँ पढ़ने के लिए एक बड़ी जनसंख्या ने हिन्दी सीखी। यह स्थिर सत्य है कि आसिंधु-हिमालय यदि किसी आधुनिक हिन्दी साहित्यिक ने पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट किया है और अपनी कृतियों के लिए उन्हें बावला बना दिया है तो वह प्रेमचन्द की कृतियाँ अन्य भाषाओं में अनूदित हैं। और जो उन्हें हिन्दी के माध्यम से नहीं पढ़ पाये, उन्होंने अनुवादों में आनन्द लिया है।

प्रेमचन्द की इस जनप्रियता का रहस्य उनकी सरलता में है; सरलता विषय की भी और वाणी की भी। साहित्य-शास्त्रकारों ने कहानी और उपन्यास के लिए विस्तृत विधान निर्मित कर रखा है। किन्तु जो नुक्ताचीनी करने की गरज़ से साहित्य नहीं पढ़ता, उसे कहानी

और उपन्यास में दो ही बातें चाहिए, कहानी का मजा और उसमें जीवन रस तथा दो बात नहीं चाहिए—वादों उपदेशों और पाण्डित्य का गोरखधंधा तथा कलाबाजी। सरल बात सरल ढंग से कथित, श्रेष्ठ साहित्य का यह शायद अनपवाद गुण है। प्रेमचन्द में आपको कहीं ऐसा नहीं लगेगा कि ये किसी "इज़्म" वाद के खास हिमायती हैं। मानवतावाद ह्यूमेनिज़्म भी यदि वादों में शामिल है तो प्रेमचन्द निस्सन्देह वादी हैं। अन्यथा कलाकार प्रेमचन्द उस राहगीर के समान हैं जो अपने करीब से गुजरते हुए विशाल देश की जिन्दगी के कारवाँ को देखता है, उसकी आशा-आकांक्षा को बूझता है, उसके पाप-पुण्य की व्याख्या करता है, उसकी दुर्बलता की दयनीयता और सबलता की सामर्थ्य व्यक्त करता है और जीवन की इस महान महफिल में "मानवाय नमः' कहकर चुप हो जाता है। प्रेमचन्द के कथन में पाण्डित्य की गम्भीर विरसता नहीं है, अनुभूति की सरल सरसता है। इनके वर्णनों में मुग्ध द्रष्टा की सजीव सूक्ष्मता है और उनकी वाणी में गाँव के कच्चे किनारों के बीच इठलाती हुई, गीली माटी की सोंधी सुरभि से भरी हुई नदी की बे रोक-टोक धारा है। वह खड़ी बोली का पौधा माली की काट छाँट ने जिसे सँवार कर सुडौल बना दिया था प्रेमचन्द के प्रयत्न से ऐसा बेअख्तियार फूले-फलेगा, यह किसी ने सोचा नहीं था। 'गोदान' मानों खड़ी बोली का जय उद्घोष है।

और वस्तुओं की भाँति कला भी उपयोगिता की तुला पर तुलती है, किन्तु यह उपयोगिता रुपया-आना-पाई में नहीं आँकी जा सकती, वह उपयोगिता है—सौंदर्य वृद्धि की सृष्टि, सांसारिक सुख-दुख को सहन करने की शक्ति, बन्धुत्व और समता का भाव अथवा सहृदयता और मानसिक एवं बौद्धिक विकास। कलाकार के व्यक्तित्व का अंग है जीवन संग्राम में सौंदर्य देखना, उसका काम है त्याग, श्रद्धा, कष्ट-सहिष्णुता की महिमा, आदर्शवाद साहस कठिनाई से मिलने की इच्छा और आत्मत्याग का शंख बजाना। साहित्य-देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई नहीं बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती चलनेवाली सचाई है।

प्रेमचन्द ने किसी उद्देश्य से यदि रचना की है तो वह यही मानवतावाद है और क्रान्ति भी। किन्तु प्रेमचन्द का साहित्य ठीक इन दो शब्दों के परिभाषा व्याप्ति से परे है। यदि नाम देने का प्रश्न है तो जीवनवाद ही होगा। प्रेमचन्द में अन्याय और उत्पीड़न के प्रति विद्रोह मिलेगा। हमारे रथचक्र में कीचड़ की तरह लगकर उसकी प्रगति में बाधा पहुँचाने वाली वृत्तियाँ अकर्मण्यता, कायरता-शान्तिवाद के विरुद्ध कला का संग्राम भी मिलेगा। किन्तु इन सबकी तह में, स्वीकारात्मक पक्ष में हृदय की वृत्तियों के मुक्त विस्तारपूर्ण विकास के बीच प्रेम और आशा का अमर सन्देश भी मिलेगा। प्रेमचन्द साहित्य इसी भव्यता का आलोक तीर्थ है।

भारतीय साहित्य को कवीन्द्र रवीन्द्र की देन अमूल्य है लेकिन उनकी भारती देववाणी जैसी गम्भीर है जो जमीन से जरा ऊपर उठ कर रहती है और साधारण जन-समुदाय के ज्ञान बोध से जरा परे है। रवीन्द्र जमीन की भौतिकता के कलाकार नहीं हैं। उन्होंने जिसे छू लिया उसे जमीन से ऊपर उठा दिया, इथिरियल बना दिया। शरद् बाबू जमीन पर तो हैं किन्तु "ज़मीन" निरपेक्ष है। उन्होंने व्यक्ति को जितनी सूक्ष्मता से व्यक्त किया है उतनी

रुचि से, कुशलता से वे समाज के सुख-दुख का विवेचन नहीं करते। समाज की अपेक्षा व्यक्ति ही उनका अधिक अपना क्षेत्र देख रहा है। प्रेमचन्द न रवीन्द्र की भाँति कल्पनावादी हैं और न शरद् की भाँति मर्मवादी। वे तो जमीन के कलाकार हैं। प्रेमचन्द के आगे व्यक्ति की सत्ता इतनी विशिष्ट नहीं जितनी व्यक्ति से बनने वाले समाज की और समाज में जहाँ-जहाँ हानिकारक कीटाणु उन्हें मिले, एक कुशल सर्जन की भाँति उन्होंने उन कीटाणुओं को उद्घाटित किया है। परिवार की संकीर्णताएँ, समाज के पाप और कुसंस्कार, राजनीति के स्वार्थपूर्ण हथकण्डे, धर्म का पाखण्ड, शासन की अव्यवस्था, आर्थिक अनीति सभी के रहस्यों तक प्रेमचन्द की दृष्टि पहुँची है और सभी को उन्होंने निर्भीकता और स्पष्टता के साथ उपस्थित किया है। अपने इस क्षेत्र में प्रमचन्द अद्वितीय हैं। उनके साहित्य का "केनवास" कितना विस्तृत है। जो उन्होंने देखा सुना, वही अपनी अकृत्रिम वर्णनशक्ति द्वारा बड़े ही मनोहारी और प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। उर्दू गद्य साहित्य के अध्ययन आलेखन द्वारा उन्होंने जो वाक्‌विदग्धता प्राप्त की है उसी के सफल, सरल प्रयोग उनके साहित्य में बिखरे पड़े हैं। उनका साहित्य समस्यामूलक है क्योंकि जनसमाज और जीवन में मिलने वाली समस्याओं को जिज्ञासा-मिश्रित अनुराग से देखा है और जिहाद के भाव से उन्हें लिखा है। यह जो जिहाद का भाव है, वहीं उनकी निर्भीकता सन्निहित है।

समस्त प्रेमचन्द-साहित्य में, चाहे वह बड़ा उपन्यास हो या छोटी कहानी, कथा रस-कहानी का आनन्द कहीं भंग नहीं होता। नानी की कहानी के "ऐसे ऐसे एक राजा था" से लेकर "जैसे उनके दिन फिरे वैसे सब के फिरें" तक की कुतूहलोत्पादकता, कल्पना, भावना प्रेमचन्द की कृतियों में मिलती है।

जिन्होंने 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' पढ़ी हैं, वे कथा का विशुद्ध आनन्द जानते हैं। 'निर्मला' के संबंध में किसी जगह लिखा है, यह जीवन की करुण कहानी है। कहानी है, कि कहीं आपकी संलग्नता में बाधा नहीं पड़ेगी, कहीं ऐसा नहीं लगेगा कि धर्मोपदेशक का भाषण सुन रहे हैं, या नाजायज़ तरीके से भावनाओं को जागृत करने की कोशिश की जा रही है, या अस्वाभाविक घटनाओं के बीच तर्क को अनावश्यक ही सजग करने का षड्यंत्र हो रहा है। कहानी उतनी ही मनोरंजक जितनी कि नानी की कहानी, तन्मयता का तार टूटने नहीं पाता। इसी को कथा-रस कह लीजिए। 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला', 'वरदान' के सरल कथानकों में यह कथारस अक्षुण्ण है। बड़े उपन्यासों में अवश्य कथा का आनन्द इतना विशुद्ध नहीं है। बात यह है कि प्रेमचन्द सामाजिक कलाकार हैं। वे उपयोगी कला को महत्व देते हैं। कला में महज़ मनोरंजन को वे भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम मानते हैं। वे कहते हैं, साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है। वह हमारी मनुष्यता को जगाता है, हममें सद्भाव का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। सामाजिक कलाकार प्रेमचन्द सत् में अडिग विश्वास लेकर अपने साहित्य-कर्म में उतरे हैं। इसलिए एक प्रच्छन्न नैतिकता उनकी कृतियों में सर्वत्र मिलती है जो कहीं-कहीं उभरकर सतह पर भी आ गई है।

ऊपर कहा गया है कि प्रेमचन्द सामाजिक कलाकार हैं। उनके लिये कथा सोद्देश्य है। वे उपन्यास की सार्थकता उसके आदर्शोन्मुख यथार्थवादी होने में मानते हैं। उनका कहना है कि केवल यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देगा, केवल आदर्श अकर्मण्य स्वप्नद्रष्टा। आदर्श

को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए। उसके द्वारा वे जनरंजन के साथ-साथ जन-कल्याण की साधना करते हैं। जीवन में जो कलुषित है, उसके निराकरण द्वारा जीवन-परिष्कार उनके साहित्य का लक्ष्य है, इसलिए उनकी कृतियों में यथार्थ का चित्रण और आदर्श का संकेत अनपवाद मिलता है। इसीलिये उनकी कृतियों में कल्याण-भावना और जीवन के प्रति गहरे विश्वास का भाव सर्वत्र मिलते हैं। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि सभी उदाहरण स्वरूप हैं। पिछली कृतियों में जरूर ये तत्व धुंधले पड़ गये हैं। 'कफ़न' जैसी कहानियों और 'गोदान' उपन्यास में हमें विषाद की गहरी छाया मिलती है। इसका कारण शायद युग की यही घोर करुणा है, जिसने उनके आशातत्व को गहरा आघात पहुँचाया है, और सत् में उनका विश्वास डिगा दिया है। युग की विषम व्यवस्था ने जीवन में करुणा का तीखा स्वर छोड़ दिया है और प्रेमचन्द की पिछली कृतियों में कथा का आनन्द करुणा के तीखे स्वरों के बीच व्यक्त हुआ है।

प्रेमचन्द सामाजिक कलाकार हैं। उनके लिए मात्र व्यक्ति के सुख-दुख विशेष महत्व नहीं रखते। व्यक्ति उनके लिए समाज-सापेक्ष है और इसी प्रकार व्यक्ति के सुख-दुख भी। वे व्यक्ति को देखते हैं तो उसकी एकान्त सत्ता में देख सकना उनके लिए संभव नहीं है। उसके जीवन-क्रम को वे समाज की पृष्ठभूमि पर अंकित करते हैं और इस समाज की सीमा का कोई अन्त नहीं है। हरिजन-समाज के छोटे दायरे से लेकर अखिल मानवता उनका समाज क्षेत्र है। उनके सदन, ज्ञानशंकर, सूरदास, जालपा, होरी सभी इसी प्रकार के व्यक्ति हैं। यह तो प्रेमचन्द की कला-कुशलता है कि उनके पात्र अपने सामाजिक रूप में किसी टाइप के होते हुए भी अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास करते चलते हैं। सदन समाज की विद्रोही आत्मा का प्रतीक है, जो स्वावलम्बन की महाशक्ति लेकर समाज से मोर्चा लेता है। होरी भारतीय जीवन के करुण दयनीय जीवन का प्रतीक है, जिसमें किसान की दुर्भागी जिन्दगी का सही खाका मिलता है फिर भी सदन सदन भी है और होरी होरी भी। इस प्रतिनिधित्व में उनका व्यक्तित्व धुंधला नहीं हो गया है।

इसीलिए प्रेमचन्द के पात्र, विशेषतः प्रमुख पात्र दोहरा व्यक्तित्व रखते हैं। अपना व्यक्तिगत जीवनक्रम और समाज-क्षेत्र में उनका जीवन तंतु प्रसार। इसी कारण उनकी कथा-वस्तु दो समानान्तर कथाओं से निर्मित रहती है। 'सेवासदन' में सदन की प्रेमकथा है और सुमन वेश्या की मुक्ति की कथा। 'प्रेमाश्रम' ज्ञानशंकर के खलत्व का लेखा-जोखा है और असन्तुष्ट ग्राम की विद्रोही आत्मा की कहानी है। 'रंगभूमि' में सोफ़िया और विनय के प्रेम-प्रसंग की योजना प्रेमचन्द ने सूरदास के आत्मिक बल-प्रसार की पृष्ठभूमि पर की है। 'गोदान' होरी की कथा है और होरी को बनाने वाले समाज की कथा है। प्रेमचन्द अपनी कथा में व्यक्ति के केन्द्र पर समाज के ढाँचे की कल्पना करते हैं और वह कल्पना यथार्थ के खण्डहरों पर आदर्श के निर्माण की कल्पना रहती है। वे युग देखते हैं, युग-पिंजर की जर्जर तीलियाँ देखते हैं, और युग के जर्जरतापूर्ण स्वरूप के नव-निर्माण का सपना देखते हैं, तभी प्रेमचन्द की कृतियाँ सर्वप्रिय हैं। जो जीवनानन्द का अभिलाषी है, वह प्रेमचन्द में रस ले सकता है, जो जीवन का घोर यथार्थ देखना चाहता है वह प्रेमचन्द में उसे पायेगा और जो जीवन के सपने सँवारना चाहता है, उसे प्रेमचन्द में उन सपनों के रंग मिलेंगे।

हिन्दी को प्रेमचन्द की देन अतुलनीय है। भारतेन्दु भारत की दशा पर रोने से अधिक कुछ न कर सके, मैथिलीशरण 'भारत-भारती' में हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी––इन समस्याओं पर विचार करने के उपक्रम से अधिक कुछ नहीं कर पाये। देश की कराहती आत्मा की अभिव्यक्ति, उसके मन और शरीर के घाव दिखाने की क्षमता––साहस प्रेमचन्द के पूर्व हम नहीं पाते। ऐसे आलेखन के लिए साहस की अपेक्षा थी और जिसकी बेचैनी ने 'सोजे वतन' की कहानियों के लेखक धनपतराय को सदा के लिए प्रेमचन्द संज्ञा दे दी, उसी ने उनको विद्रोही कलम की नोक पर युग निर्भीकता से उतार दिया। उनकी जनहित-रत कला ने देश की विधि सँवारने में अपना विशिष्ट योग-दान दिया है।

परिशिष्ट १

प्रेमचन्द साहित्य

रचनाकाल	नाम	भाषा	विशेष
	उपन्यास		
१८९८	इसरारे मुहब्बत	केवल उर्दू में	आवाज़े खल्क सा० में धारावाहिक प्रकाशित
१९०१	प्रतापचन्द्र	,,	अप्राप्य, अप्रकाशित
१९०१	श्यामा	,,	,,
१९०२	प्रेमा	,,	,,
	कृष्णा	,,	इ० प्रे० अप्राप्य
	वरदान	,,	बाद में हिन्दी में
१९०४	हम खुर्मा व हम सवाब	,,	अप्राप्य, अप्रकाशित
१९०६	प्रतिज्ञा	,,	बाद में हिन्दी में
१९१६	सेवासदन	हिन्दी	
१९२२	प्रेमाश्रम	,,	
१९२३	निर्मला	,,	
१९२४	रंगभूमि	,,	
१९२८	कायाकल्प	,,	
१९३०	ग़बन	,,	
१९३२	कर्मभूमि	,,	
१९३६	गोदान	,,	
१९३६	मंगलसूत्र (अपूर्ण)	,,	
	कहानियाँ		
१९०७	सोज़े वतन	उर्दू	
१९१२-१३	सप्त सरोज, नव-निधि,	हिन्दी	
१९१३ के बाद	प्रेम पूर्णिमा, पचीसी, तीर्थ, द्वादशी, प्रतिमा, प्रमोद, पंचमी, चतुर्थी, पाँच फूल, कफ़न, समर-यात्रा, मानसरोवर ८ भाग, प्रेमपीयूष, प्रेम कुंज, सप्त सुमन, प्रेरणा, प्रेम सरोवर, अग्नि-समाधि, प्रेमगंगा		

रचनाकाल	नाम	भाषा	विशेष
	नाटक		
	कर्बला, संग्राम, प्रेम की वेदी	हिन्दी	
	निबन्ध		
	कुछ विचार (दो भाग), कलम, तेग और तलवार		
	जीवनियाँ		
	महात्मा शेखसादी, दुर्गादास	हिन्दी	
	बाल साहित्य		
	कुत्ते की कहानी, जंगल की कहानियाँ, राम चर्चा, मनमोदक	हिन्दी	
	अनुवाद		
	टालस्टाय की कहानियाँ, सुखदास (जार्ज इलियट के "साईलस मैरीनर" का अनुवाद), अहंकार (अनातोल फ्रांस के "थाइया" का अनुवाद), चाँदी की डिबिया (गाल्सवर्दी के "सिलवर बाक्स" का अनुवाद), न्याय (गाल्सवर्दी के "जस्टिस" का अनुवाद), हड़ताल (गाल्सवर्दी के "स्ट्राइक" का अनुवाद), आजाद कथा (सरशार के "फिसाना आजाद" का अनुवाद)।		

परिशिष्ट २

सहायक सामग्री

हिन्दी पुस्तकें—

१. प्रेमचन्द (घर में)	शिवरानी देवी	प्रे० घ०
२. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	नन्ददुलारे वाजपेयी	हि० सा० बी०
३. प्रेमचन्द और उनका युग	डा० रामविलास शर्मा	प्रे० यु०
४. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन	नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रे० सा० वि०
५. साहित्य का उद्देश्य	प्रेमचन्द	सा० उ०
६. प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द	प्रे० अ०
७. कफ़न और अन्य कहानियाँ	प्रेमचन्द	कफ़न
८. प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व	हंसराज 'रहबर'	प्रे० जी० कृ०
९. सेवा सदन (पाठ्य संस्करण)	सरस्वती प्रेस	से० स० (पा० सं०)
१०. प्रेमचन्द : एक विवेचन	डा० इन्द्रनाथ मदान	प्रे० वि०
११. नई समीक्षा	अमृतराय	न० स०
१२. रंगभूमि	प्रेमचन्द	रं० भू०
१३. मंगल-सूत्र	प्रेमचन्द	मं० सू०
१४. कुछ विचार	प्रेमचन्द	कु० वि०
१५. गोदान	प्रेमचन्द	गो०
१६. भारतेन्दु युग	डा० रामविलास शर्मा	भा० यु०
१७. हिन्दी के उपन्यासकार	यज्ञदत्त शर्मा	हि० उ०
१८. भारत सम्बन्धी लेख	कार्ल मार्क्स	भा० सं० ले०
१९. प्रेमचन्द : चिन्तन और कला	डा० इन्द्रनाथ मदान	प्रे० चि० क०
२०. प्रेमचन्द का समस्त साहित्य उपन्यास	देखिए परिशिष्ट १	
२१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्णलाल	आ० हि० सा० वि०
२२. कहानी-कला और प्रेमचन्द	श्रीपति शर्मा	क० क० प्र०
२३. हिन्दी साहित्य की जनवादी धारा एवं समस्त प्रेमचन्द-साहित्य	प्रकाशचन्द्र गुप्त	

पत्र-पत्रिकाएँ—

१. आजकल : प्रेमचन्द अंक अक्टूबर १९५२	आ० अ०
२. हंस : प्रेमचन्द-स्मृति अंक	प्रे० अं०
३. प्रभात : ग्वालियर ६ अक्टूबर, १९५२	प्र०

४. नवप्रभात नागपुर २५ जुलाई, ५४ — न०
५. विश्वमित्र : प्रेमचन्द अंक — वि० अं०
६. सारथी : नागपुर ३-१०-५४ — सा०
७. नवप्रभात : ग्वालियर ३-१०-५४ — न० प्र०
८. नवभारत : दीवाली अंक १९५४ — न० भा० दी०

उर्दू

१. तारीख ए अदब उर्दू — एजाज़ हुसेन — ता० अ० उ०

ENGLISH:-

1. Aspects of the Novel, E. N. Forster — A.N.
2. Selected Works of Marx & Angels, Vol. I. — S.W.M.
3. India Today, Rajni Palm Dutt — I.T.
4. Capital: Marx — Cap.
5. Encyclopaedia of Social Sciences (Macmillans, New York) — E.S.S.
6. Recent Political Thought: P. W. Cokor — R.P.T.
7. Culture and People: Maxim Gorky — C.P.
8. A History of Urdu Literature: Ram Babu Saxena — H.U.L.
9. Social Background of Indian Nationalism: A.R. Desai. — S.B.I.N.

PERIODICAL

1. Hindustan Standard: 3-10-54. — H.S.

परिशिष्ट ३

वे विद्वान्, जिनके प्रेमचन्द-सम्बन्धी कथनों का पुस्तक में समावेश है—

अवध उपाध्याय
इलाचन्द्र जोशी
इन्द्रनाथ मदान
अंचल
अमृत राय
अशफ़ाक हुसेन
अहमदअली
इम्तियाज़ अली ताज
जनार्दन झा "द्विज"
जैनेन्द्रकुमार
टी० टिकेकर
नन्ददुलारे वाजपेयी
दयानारायण निगम
पद्मसिंह शर्मा
मन्मथनाथ गुप्त
ब्रैस्कोब्नी
प्यारेलाल शाकिर मेरठी
प्रकाशचन्द्र गुप्त
रामदास गौड़
रामरतन भटनागर
रमेन्द्रनाथ वर्मा
रामविलास शर्मा
रघुपति सहाय "फ़िराक"
राजेश्वर गुरु
श्रीकृष्णलाल
श्रीनाथसिंह
श्रीपति शर्मा
हंसराज "रहबर"
शिवरानी देवी
हरिभाऊ उपाध्याय

परिशिष्ट ४

प्रेमचन्द सम्बन्धी आलोचनात्मक साहित्य

कथाकार प्रेमचन्द : मन्मथनाथ गुप्त--रमेन्द्र वर्मा।
कहानी कला और प्रेमचन्द : श्रीपति शर्मा।
प्रेमचन्द--एक विवेचन : डा० इन्द्रनाथ मदान।
प्रेमचन्द--साहित्यिक विवेचन : नन्ददुलारे वाजपेयी।
प्रेमचन्द--आलोचनात्मक परिचय : डॉ० रामविलास शर्मा।
प्रेमचन्द और उनका युग : डा० रामविलास शर्मा।
प्रेमचन्द की उपन्यास-कला : जनार्दन झा "द्विज"।
प्रेमचन्द--उनकी कृतियाँ और कला : प्रेम नारायण टण्डन।
प्रेमचन्द--जीवन और कृतित्व : हंसराज 'रहबर'।
प्रेमचन्द : डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित।
प्रेमचन्द--उनकी कहानी-कला : डा० सत्येन्द्र।
प्रेमचन्द : डा० रामरतन भटनागर।
प्रेमचन्द--घर में : शिवरानी प्रेमचन्द।
शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द : अमृत राय।
प्रेमचन्द--चिन्तन और कला : स० डा० इन्द्रनाथ मदान।
प्रेमचन्द और गोर्की : शचिरानी गुर्टू।
प्रेमचन्द युग और वर्ग भावना।
प्रेमचन्द-अंक (हंस)
एवम् अन्य अनेक ग्रंथ।

Veena Dulloo
M.A Final
Hindi Department
J & K University
Kashmir Division
Amar Singh Bag

Veena Dulloo
[illegible]